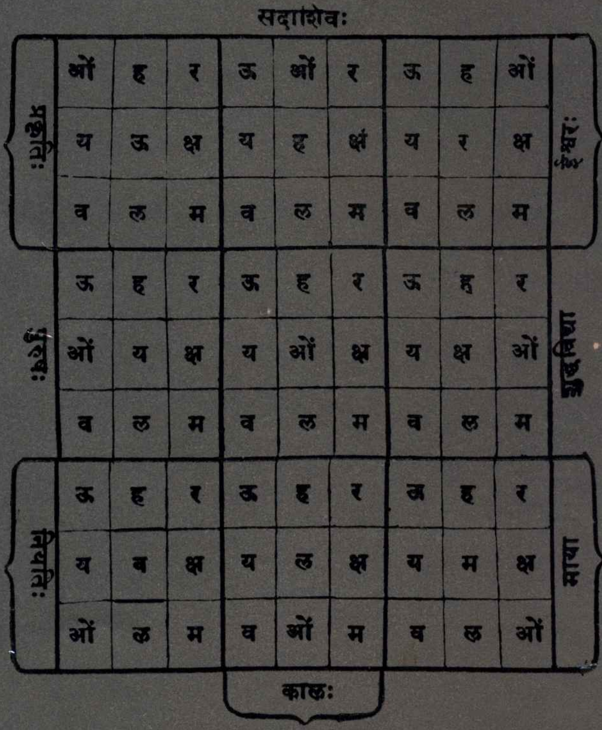
Parimal Sanskrit Series No. 16

THE
SVACCHANDA TANTRAM

WITH COMMENTARY-'UDYOTA'

BY

KSHEMA RĀJA.



Edited By

VRAJ VALLABH DWIVEDI

Parimal Sanskrit Series No. 16

THE SVACCHANDATANTRAM

WITH COMMENTARY

'UDYOTA'

By

KṢEMARĀJĀCĀRYA

Edited By

Pt. Vraj Vallabh Dwivedi

1985

Parimal Publications

DELHI INDIA

Published By
PARIMAL PUBLICATIONS
27/28 Shakti Nagar
DELHI-110007
(INDIA)

First Edition

1985

Price : Rs. 150 (Vol I)

Printed at :
A.R. Printers, D-102 New Seelampur Delhi-53

परिमल संस्कृत ग्रन्थमाला संख्या-१६

स्वच्छन्दतन्त्रम्

श्रीमत्क्षेमराजविरचितोद्योताख्यविवरणोपेतम्

सम्पादकः

पं० व्रजवल्लभ द्विवेदः

१९८५

परिमल पब्लिकेशन्स

दिल्ली भारत

प्रकाशक :
परिमल पब्लिकेशन्स
27/28, शक्तिनगर
दिल्ली-११०००७

प्रथम संस्करण १९८५

मूल्य—प्रथम भाग १५०.००

मुद्रक :—ए०आर० प्रिन्टर्स, डी-१०२ न्यू सीलमपुर दिल्ली-५३

उपोद्‌घात

क्षेमराज की टीका के साथ स्वच्छन्दतन्त्र का प्रकाशन काश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली में हुआ था। वह अब उपलब्ध नहीं है। स्वच्छन्दभैरव ही अघोरेश अथवा बहुरूप के नाम से भी प्रसिद्ध हैं, अतः अघोरेश तन्त्र के नाम से भी यह ग्रन्थ उद्धृत हुआ है। "अघोरान्तापरो मन्त्रः" यह वाक्य महिम्नस्तव की फलश्रुति में प्रसिद्ध है। नेत्रतन्त्र में जैसे मृत्युंजय मन्त्र का उद्धार और माहात्म्य वर्णित है, उसी तरह से स्वच्छन्द तन्त्र में अघोर मन्त्र का उद्धार और उसकी उपासना पद्धति बनाई गई है। मालिनी विजय के साथ ये दोनों तन्त्र भी काश्मीर के प्रत्यभिज्ञा दर्शन में प्रमाणभूत माने गए हैं। क्षेमराज की टीका ने इनका महत्व और बढ़ा दिया है।

क्षेमराज ने नेत्रतन्त्र की टीका में स्वच्छन्दतन्त्र की अपनी टीका का उल्लेख किया है कि अमुक-अमुक विषय पर हम स्वच्छन्दतन्त्र की टीका में विचार कर चुके हैं। फलतः स्वच्छन्द तन्त्र का प्रकाशन एक अनिवार्य आवश्यकता थी। यह प्रसन्नता की बात है कि परिमल पब्लिकेशन्स नेत्रतन्त्र के बाद इस ग्रन्थ का भी प्रकाशन दो भागों में करने जा रहा है। इसके प्रथम भाग में पहले छः पटलों का तथा द्वितीय भाग में शेष भाग का समावेश किया गया है।

स्वच्छन्द तन्त्र, उसकी टीका उद्योत तथा इनमें उद्धृत मत-मतान्तरों, ग्रन्थ-ग्रन्थकारों तथा कुछ विशिष्ट विषयों का परिचय हम द्वितीय भाग के उपोद्‌घात में देंगे। यहां प्रथम भाग में समाविष्ट प्रारम्भ के छः पटलों का संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है।

प्रथम पटल

कैलास शिखिर पर विराजमान भगवान् भैरव से देवी शतकोटि श्लोकात्मक चतुष्पीठ महास्वच्छन्दतन्त्र का संक्षेप में उपदेश करने की प्रार्थना करती हैं। वे कहती हैं कि आप गुरु, साधक, शिष्य, भूमि, मन्त्र काल, यजन, हवन, अधिवास का पंचगव्य, चक्र, दन्तकाष्ठ, मण्डल, दीक्षा, अभिषेक, समय (नियम) का और कलिकाल में विविध कामनाओं की पूर्ति के उपायों का वर्णन कीजिए।

भगवान् भैरव सभी मानवों के कल्याण के लिए किये गये देवी के प्रश्नों की प्रशंसा करते हुए सत् और असत् आचार्य और शिष्य का तथा भूमि का लक्षण बताते हुए आचार्य के कर्त्तव्यों के प्रसंग में मातृका-प्रस्तार की विधि बताते हैं। भैरव, भैरवी और सात मातृकाओं का पूजन करने के बाद ही मातृका से मन्त्रों का उद्धार किया जाता है। इसी पद्धति से यहां स्वच्छन्दभैरव के अघोर मन्त्रराज का तथा शिव के पांच वाक्यों (मुखों) के बीच मन्त्रों का उद्धार कर इनमें ३८ कलाओं के विन्यास का प्रकार बताया गया है। बाद में विद्या रूप भगवान् बहुरूप (स्वच्छन्दभैरव) के अंग मन्त्रों का, क्रिया, ज्ञान और इच्छा शक्तियों के मन्त्रों का; निष्कल स्वच्छन्द मन्त्र का; सर्वज्ञता आदि छः गुणों के प्रतीक छः अंगमन्त्रों का; भगवती अघोरेश्वरी के मन्त्र का, आठ भैरवों और लोकपालों के मन्त्रों का उद्धार किया गया है।

द्वितीय पटल

इस पटल में अर्चन विधि का सविस्तार से वर्णन हो गया है। स्थान शोच, सन्ध्यावदन, न्यास, जप, तर्पण, तीर्थ-संग्रह, भस्म स्नान, अभिषेक, यागगृह प्रवेश, विघ्नापसारण आदि का वर्णन किया गया है। यागगृह के द्वार पर नन्दी, गंगा, महाकाल और यमुना का पूजन किया जाता है। दिग्बन्धन के बाद ब्रह्मा का पूजन, तथा विविध न्यासों का विधान कर देहशुद्धि के लिए प्राणायाम की विधि को बता कर पुनः न्यासविधि द्वारा इष्टदेव का आवाहन कर हृदय याग (अन्तर वरिवस्या=पूजा) की विधि बताई गई है। इसके बाद आसन, न्यास, विद्यापद्म की दिशाओं में वामा, ज्येष्ठा प्रभृति शक्तियों का तथा मध्य में मनोन्मनी नाम की शक्ति का न्यास और ध्यान वर्णित है।

सूर्य, सोम और वह्निमण्डप में क्रमशः ब्रह्मा, विष्णु और शिव का ध्यान और न्यास करना चाहिये। इन सबका गन्ध, पुष्ट इत्यादि से अर्चन कर भगवान् भैरव की सकल मूर्ति का ध्यान करना चाहिये। सभी व्यक्ति भगवान् के निष्कल स्वरूप के आवाहन का अधिकारी हो सकता है। निष्कल स्वरूप का आवाहन कर पाद्य, आचमन, अर्घ स्वागत, संनिधान, स्थापन, मुद्राप्रदर्शन आदि की विधि यहां बताई गई है। आवरण न्यास, वक्त्रन्यास आदि का स्वरूप बताकर अघोरेशी, आठ भैरव और आठ लोकपालों का ध्यान बताकर नाडी सन्धान की विधि, नैवेद्य तथा अर्घ अर्पण की विधि तथा मुद्राप्रदर्शन के बाद प्रणाम निवेदन किया जाता है। यहां

प्रसंगवश अक्षमाला, जयस्वरूप और उसके उपांशु आदि भेदों का स्वरूप बताया गया है।

पूजन विधि का विस्तार से वर्णन करने के बाद यहां यजन का स्वरूप बताया गया है। इस प्रसंग में आठ श्मशानों के अधिपतियों का विशेष रूप से उल्लेख हुआ है। कुण्ड संस्कार, वागीशी-पूजन, मुद्राप्रदर्शन, अग्नि-संस्कार, शिवाग्नितर्पण, आज्यसंस्कार आदि की विधि बताकर यहां विविध काम्य होमों का वर्णन किया गया है। पूर्णाहोम, प्रणीतापात्र, चमस आदि के विधान में पूरी तरह से वैदिक विधि का अनुसरण किया गया है। अन्त में यजन विधि का उपसंहार करते हुए बताया गया है कि पूजन और हवन को यहां बताई गई विधि से मनुष्य अपनी सभी कामनाओं को प्राप्त कर सकता है।

तृतीय पटल

द्वितीय पटल में नित्यकर्म के अनुष्ठान की विधि को बताकर भगवान् भैरव तृतीय पटल में नैमित्तिक कर्मों में प्रधान अधिवास की विधि का वर्णन करते हैं। स्नान, सन्ध्या आदि से निवृत्त हो साधक को द्वार देवताओं की पूजा कर, भूमि, अन्तरिक्ष और आकाशगत विघ्नों का उपसरण कर याग मण्डप में प्रविष्ट होना चाहिये तथा सर्वप्रथम अन्तर्याग की विधि को सम्पन्न करना चाहिये। वहां मुद्रा, मन्त्र तथा पूजा सामग्री का यथास्थान विनियोजन करना चाहिये। आवरण न्यास, मन्त्रसन्धान और परमीकरण की विधि का उल्लेख कर यहां बताया गया है कि मानस याग को सम्पन्न करने के बाद ही द्रव्य (बाह्य) याग करना चाहिये। यह बाह्य याग स्वहस्त, स्थण्डिल, लिंग, मण्डल, चसक, जल तथा अग्नि में भी किया जा सकता है। मानस याग को बिना किये किया गया बाह्य याग व्यर्थ हो जाता है।

बाह्य याग करते समय सबसे पहले सारी पूजनसामग्री का सावधानी से अवलोकन कर लेना चाहिये। तब अर्घपात्रशोधन, शिवहस्तकल्पना, मन्त्रसन्धान, नाड़ीसन्धान, अमृतीकरण, भूमिशोधन, मार्जन, लेपन, विकिर-प्रयोग, शिवकुम्भस्थापन, वर्धनीस्थापन, नैवेद्यनिवेदन, दिक्पालपूजन, मण्डलनिर्माण, योगपीठ प्रकल्पन, क्षेत्रपाल बलि पर्यन्त समस्त क्रिया-कलापों को सम्पन्न कर आचार्य पुनः स्नान, आचमन आदि कर यज्ञकुण्ड में विधि-पूर्वक अग्नि का पूजन कर चरुश्रपण, हवन आदि के बाद संपात होम तथा निर्दिष्ट देवताओं के लिये निर्दिष्ट आहुतियां देकर भगवान् भैरव से शिष्य की अधिवास दीक्षा के लिये अनुमति प्राप्त करना चाहिये।

मण्डप द्वार के समीप मण्डल बना कर उस पर कुशा बिछा कर शिष्य को बैठाना चाहिये और शिष्यदेह का सविधि संस्कार करना चाहिये। उसकी आंख बांध कर हाथ में पुष्प देने चाहिये। शिष्य इन पुष्पों को मूल मन्त्र का उच्चारण कर बिखेर दे। आचार्य तब प्रसन्न-बदन उस शिष्य को भगवान् अघोरेश के संमुख ले जायेगा। पुनः यहाँ मण्डल बना कर आचार्य शिष्य को बैठाकर उसके अपवित्र देह को भस्म कर यौगिक विधि से उसमें मन्त्रन्यास, कलान्यास आदि के द्वारा दिव्य देह का आधान करेगा। इसके बाद आचार्य शिष्य के मस्तक पर शिवहस्त रखेगा। तब उसको कुण्ड के समीप ले जाकर मण्डल पर बैठा कर उसके हाथ में दर्भ देकर नाडी सन्धान की विधि पूरी करेगा। संपात होम, मन्त्रदीपन, पाशच्छेदन आदि क्रियाओं को सम्पन्न कर आचार्य शिष्य के हाथ में पुष्प देकर उसे स्थण्डिल, शिवकुम्भ और शिवाग्नि का पूजन करने और दण्ड-वत् प्रणिपात के बाद पंचगव्यप्राशन करने का आदेश देगा और स्वयं विधि की न्यूनातिरिक्तता के निवारणार्थ प्रायश्चित्त होम करेगा।

विशेष पूजन, मुद्राबन्ध, स्तोत्रपाठ, जप, चरुप्राशन आदि के साथ ही यह अधिवास क्रिया सम्पन्न होती है। उस रात्रि में शिष्य को नियमपूर्वक सोना पड़ता है। आचार्य इसके बाद बलिकर्म की विधि को सम्पन्न कर शिष्य की शिक्षा की रक्षा के उपाय करता है और स्वयं भी अन्य शिष्यों के साथ उसी यागभूमि में शयन करता है अथवा भगवान् भैरव का ध्यान करते हुए समाधि अवस्था में लीन रहता हुआ जाग्रदवस्था में ही रात्रि बिता देता है। इस प्रकार तृतीय पटल में अधिवास दीक्षा की विधि का विस्तार से वर्णन किया गया है।

चतुर्थ पटल

इस पटल को क्षेमराज ने योजनिका पटल नाम दिया है। प्रातः काल शिष्य शौच, स्नान, सन्ध्या आदि से निवृत्त होकर और सकलीकरण को सम्पन्न कर यागगृह में प्रवेश करता है और गुरु को रात्रि में अनुभूत स्वप्न को सुनाता है। शुभ और अशुभ स्वप्नों की सूचना देकर यहां बताया गया है कि अशुभ स्वप्नों की शान्ति करनी चाहिये। पूर्ववत् नित्य और नैमित्तिक कृतियों को पूरा कर तथा मण्डल आदि की रचना कर अनन्तासन, नाडी सन्धान, तर्पण, प्रायश्चित्त होम करना चाहिये। इसके बाद आचार्य शिष्य की देह को लक्ष्य कर सकलीकरण से योजनिका पर्यन्त सारी क्रियाओं को करे। आचार्य मण्डल का निर्माण कर मन्त्रसन्धान के बाद शिष्य के मस्तक

पर शिवहस्त प्रदान करना चाहिये । तब नामकरण की विधि को सम्पन्न कर प्रणिपात, प्रदक्षिणा आदि कराकर हवन कराना चाहिये । प्रायश्चित होम आदि की विधि सम्पन्न कर द्विजत्वापादन के साथ समयी नाम की पहली दीक्षा सम्पन्न होती है ।

इसके आगे अध्वशुद्धि के लिये मुक्ति और भुक्ति के लिये पुत्रक और साधक शिष्य की द्विविधि दीक्षा का विधान किया गया है । शिवधर्मी और लोकधर्मी के भेद से साधक दो प्रकार का होता है । पुत्रक के लिये निर्बीज और सबीज दीक्षा का विधान है । सबीज दीक्षा पुत्रक और आचार्य दोनों के लिये है । इस विभाग को बता कर यहां पहले पुत्रक दीक्षा का विधान बताया गया है । इस प्रसंग में यहां षडध्वशुद्धि के लिये इनकी व्याप्य व्यापकता का विचार किया गया है । पाशशुद्धि, वागीशी पूजन, वागीशी जन्म, ४८ संस्कार, रुद्रांशापादन, निष्कृति होम आदि की विधि बता कर शिवधर्मिणी दीक्षा का तथा बाद में लोकधर्मिणी दीक्षा का स्वरूप बताया गया है । यहां भी सबीज, निर्बीज दीक्षा, सद्योनिर्वाण दीक्षा आदि का स्वरूप बताते हुए कलासन्धान, कलाव्याप्ति, वागीशी ध्यान, अधिकार, भोग, लय, निष्कृति, पाशच्छेद, तर्पण, वागीशी विसर्जन, षडध्वशोधन, क्षमापन, शिखाच्छेदन, स्नान आदि का विधान कर योजनिका कर्म के आरम्भ की प्रतिज्ञा की गई है ।

इसके लिये चार प्रमाण, प्राण संचार, षडध्वविभाग, पदैकादशिका की प्राण में स्थिति, हंसोच्चार, वर्णोच्चार, कारणत्याग, शून्य, समरस, त्याग, संयोग, उद्भव, पदार्थभेदन तथा तत्त्वव्याप्ति का जानना आवश्यक है । इसके लिये यहां सबसे पहले चार प्रमाण और प्राणचार का तब षडध्व विभाग का विस्तार से स्वरूप बताया गया है । इसी प्रसंग में मन्त्रैकादशिका (पदैकादशिका) की प्राण में स्थिति बता कर हंसोच्चार, वर्णोच्चार, कारणत्याग, कालत्याग, शून्यभावना, सामरस्य, सप्त विषुवद् विभाग, पदार्थभेदन, मात्रा संख्या, मात्रायोग और मात्रा प्रमाण, कारणलक्षण, ग्रन्थिभेदन, आत्मव्याप्ति, शिवव्याप्ति, तथा तत्त्वव्याप्ति का वर्णन करने के बाद आचार्य का लक्षण और माहात्म्य वर्णित है । तब पूर्णाहुति प्रयोग का उपदेश कर बताया गया है कि समना पर्यन्त पाशजाल की स्थिति रहती है । इससे ऊपर उठने पर शिष्य को शिवता प्राप्त हो जाती है और उसमें शिव के सर्वज्ञता आदि छः गुणों का प्रादुर्भाव हो जाता है । इस प्रकार योजनिका का अभिप्राय शिवता का संयोजन है ।

दीक्षा के अन्त में शिष्य का अभिषेक किया जाता है। इस तरह से निर्बीज और सबीज निर्वाण दीक्षा पूरी होती है। सबीज दीक्षा में अभिषेक का विधान आवश्यक है। तभी दीक्षित व्यक्ति आचार्य पद पर प्रतिष्ठित हो सकता है। अभिषेक विधि का वर्णन करने के बाद यहां गुरु द्वारा अभिषिक्त व्यक्ति (आचार्य) को दिये जाने वाले अधिकारों का वर्णन किया गया है। आचार्याभिषेक के बाद यहां साधकाभिषेक की विधि को बता कर आत्म-याग का स्वरूप दिखाया गया है। अन्त में विसर्जन विधि का वर्णन कर शिव धर्म में मानव मात्र की समानता की उद्घोषणा की गई है। शिवधर्म में दीक्षित मानव मात्र की एक ही जाति रह जाती है। अपनी पहले की जाति की चर्चा करने वाला व्यक्ति प्रायश्चित का भागी होता है।

पंचम पटल

यहां भगवती कहती है कि हे सुरेशान! आपने कला दीक्षा का विस्तार से वर्णन किया। अब संक्षेप में तत्त्व दीक्षा का स्वरूप मुझे बताइये। इस पर भगवान् भैरव ३६ तत्त्वों के शोधन का प्रकार बताते हुए कहते हैं कि विद्याराज के नौ वर्ण सभी तत्त्वों के वाचक हैं। यह तत्त्वदीक्षा छत्तीस, नौ, तीन और एक तत्त्व के क्रम से चार प्रकार की होती है। तत्त्वदीक्षा के बाद पद दीक्षा के प्रसंग में नवनाभ मण्डल की उद्धार विधि बताई गई है और कहा गया है कि इसी तरह से वर्ण, मन्त्र और भुवनों का भी शोधन करना चाहिये। इस विषय को क्षेमराज ने विस्तार से समझाया है।

दीक्षा के अवसर पर शिष्य को समयों (नियमों) के पालन का उपदेश किया जाता है। षडध्वशुद्धि की प्रक्रिया को विस्तार और संक्षेप में बता देने के बाद इस पटल में उन समयों का विस्तार से वर्णन किया गया है। तब विज्ञान दीक्षा की विधि बताते हुए पांच उद्घातों का तथा उनसे पांच तत्त्वों के शोधन का प्रकार बता कर परतत्त्व में शिष्य के संयोजन की विधि बताई गई है और कहा गया है कि इस प्रकार पर तत्त्व से संयोजित शिष्य महान् शान्ति को प्राप्त करता है। इतना बता कर यहां कहा गया है कि गुरु परम्परा से प्राप्त सम्प्रदाय को यहां प्रकाशित किया गया है। यहां बताई पद्धति से शिष्य को परतत्त्व से संयोजित कर दिया जाता है। तत्त्व-दीक्षा के प्रसंग में बताई गई यह ज्ञानदीक्षा कला, भुवन, वर्ण, मन्त्र और पदाध्व के शोधन में भी सहायक होती है। इसी को धारणा दीक्षा भी कहते हैं। योगी को इसका अभ्यास करना चाहिये। इसको करने से व्यक्ति परम शान्ति को प्राप्त करता है।

षष्ठ पटल

यहां बताया गया है कि समयाचार सम्पन्न साधक को विविध सिद्धियां प्राप्त हो सकती हैं। इसके लिये उसको एकान्त स्थान में पांच प्रणवों से संयुक्त बहू रूप (स्वच्छन्दभैरव) मन्त्र का जप करना चाहिये। पांच प्रणवों का विस्तार से वर्णन किया गया है और उनका माहात्म्य भी बताया गया है। शिव के निष्कल और सकल स्वरूप को बताकर जप के बाद दशांश होम का तथा उसके लिये उपयुक्त द्रव्यों का विधान कर यहां बताया गया है कि जप और होम के माध्यम से साधक वशीकरण, उच्चाटन, विद्वेषण, सुभगीकरण, आकर्षण, मारण आदि प्रयोगों को भी सिद्ध कर सकता है।

रथयात्रा, संवत २०४२
वाराणसी।

व्रजवल्लभ द्विवेदी
शास्त्रचूडामणि विद्वान्।

विषयसूची

संपातहोमः—अधिवासहोमः—प्रायश्चित्तहोमः—शिष्यसंस्कारः—सकलीकरणम् – देहन्यासः – मन्त्रन्यासः— शिवहस्तप्रदानम्—दर्भव्याप्तिः – संपातहोमः—मन्त्रदीपनम् — पाशबन्धनसूत्रम्—त्रिविधाः पाशाः—पाशानां दीपनताडनच्छेदनादिकम्—बलिप्रदानादिकम् — चरुप्राशनम् — पञ्चगव्यपानम् — यागभूमौ शयनम्।

स्वच्छन्दतन्त्रम्

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्यक्षेमराजकृतोद्योताख्य-
विवरणोपेतम् ।

प्रथमः पटलः

विश्वैकरूपविश्वात्मविश्वसर्गादिकारणम् ।
परप्रकाशवपुषं स्तुमः स्वच्छन्दभैरवम् ॥
प्रसरच्छक्तिकल्लोलजगल्लहरिकेलये ।
सर्वसंपन्निधानाया भैरवाम्भोधये नमः ॥
एकैव बोधजलधेः शक्तिशुक्तिर्जयत्यसौ ।
यदन्तर्निखिलं भाति मुक्तामयमिदं जगत् ॥
स्मृतिमात्रविनिर्धूतनिःशेषाज्ञानकिल्बिषाः ।
गेरुसूक्तवरस्फारा विजयन्ते जगत्त्रये ॥
तत्सेवाविमलव्यक्तमहामाहेशदर्शनः ।
क्षेमराजो विवृणुते श्रीस्वच्छन्दनयं मनाक् ॥
अभिनवबोधादित्यद्युतिविकसितहृत्सरोजान्मे ।
रसयत सरसाः परिमलमसारसंसारवासनाशान्त्यै ॥

इहानुजिघृक्षारससरसहृदयपरसंवित्संमुखीकृतो ग्रन्थमवतारयितुं कश्चिद्देवीशिष्य आह—

कैलासशिखरासीनं भैरवं विगतामयम् ।
चण्डनन्दिमहाकालगणेशवृषभृङ्गिभिः ॥ १ ॥
कुमारेन्द्रयमादित्यब्रह्मविष्णुपुरःसरैः ।
स्तूयमानं महेशानं गणमातृनिषेवितम् ॥ २ ॥
सृष्टिसंहारकर्त्तारं विलयस्थितिकारकम् ।
अनुग्रहकरं देवं प्रणतार्तिविनाशनम् ॥ ३ ॥
मुदितं भैरवं दृष्ट्वा देवी वचनमब्रवीत् ।

इह परमेश्वरस्य चिदानन्दघनस्य ब्रह्मदर्शनोक्ततत्त्वातिशायिनः स्वच्छन्दभैरवस्फुरत्तात्मा परमार्थः, इति भगवतः शास्त्रस्य चास्य तदेवाभिधानम्। तस्य स्वात्मैकरूपपञ्चकृत्यकारित्वमित्याशयेन 'सृष्टयादिपञ्चकृत्यकरं देवं मुदितं भैरवं दृष्ट्वा देवी वचनमब्रवीत्' इत्युक्तम्। तत्र देवः शिवादिक्षित्यन्ताशेषसृष्टयादिक्रीडापरः, तावदशेषोत्कर्षतया विजिगीषुः, तदभिन्नत्वात् विश्वस्य जगद्व्यवहाररूपतयापि द्योतमानः, शिवमन्त्रमहेश्वरादिभिः स्तूयमानः, सर्वेषामगतीनां गतिः प्राप्योऽभिन्नबोधसारश्च, यथोक्तं 'दिवुक्रीडादौ' इति। भैरवो विश्वभरणरवणवमनरूपः, भीरूणामभयमिति व्युत्पत्त्या संसारिणामभयदः, भयं भीः संसारत्रासः, तया जनितो रवः आक्रन्दः भीरवः ततो जातः तदाक्रन्दवतां स्फुरितः, अस्यैव भीरवस्य संसारभयविमर्शनस्याग्रं शक्तिपातवशेनोत्थापकः, भानि नक्षत्राणि ईरयति इति भेरः कालः तं वायन्तीति भेरवाः कालग्राससमाधिरसिकाः योगिनः तेषामयमिति आन्तरः स्वभावः, भिये पशुजनत्रासाय रवः शब्दराशिसमुत्थाकारादिकलाविमर्शो यासां खेचरी-गोचरी-दिक्चरी-भूचरीचक्ररूपाणां संविद्देवीनां ताः भीरवाः, तासामयं स्वामी भैरवः, तथा भैरवो भीषणः संसारविघटनपरः, एवमागमेषु निरुक्तत्वात्, **श्रीबृहस्पतिपादैः शिवतनावन्वर्थव्याख्यातस्वरूपत्वाच्च।** अत एवायं मुदितो नित्यानन्दघनस्वातन्त्र्यशक्तियुक्तो यः तं भैरवाभिधानमेव, न तु ब्रह्मविष्ण्वीशसदाशिवशिवरूपम्—तेषामेकादशपटलनिरूपितनीत्या एतत्स्वभावाभावादेतदुल्लास्यविलाय्यत्वाद्वा। अत एव महान्तमीशानं सर्वेषामेषां स्वामिनम्। अत एव के मूर्धन्ये ब्रह्मबिले एला स्फुरन्ती शक्तिः तस्यामासः आसनमुपरिस्थितिर्यस्य, व्यापिनीसमनात्मनः शिखरस्य सर्वाध्वोपरिवर्तिनः पदस्य, तत् कैलासशिखरम्, तत्रासीनं तदुत्तीर्णं प्रकाशैकघनं तदशेषव्याप्त्या च विश्वरूपम्। ततो विगतामयम् आ समन्तात् मिमीते इत्यामयः,

'शक्तिरूपा स्मृता माया यदधः शक्तिकुण्डली' (१०।१२६३)

इति वक्ष्यमाणाख्यातिरूपा महामाया तद्विरहितम्, विगतश्चामयो यतो भजमानानाम्। भगवतः शक्तिप्रपञ्चव्याप्तिरूपैः तदनुगृहीतैरेव चण्डादिभिः कुमारान्तैः, तत्प्रपञ्चसारव्याप्तिरूपस्य भगवत उमापतेः व्याख्यातभैरवस्फारसमावेशात् भैरवरूपस्य तन्नाम्नश्च श्रुवनाध्ववक्ष्यमाणकैलासाख्यहिमवच्छृङ्गासीनस्य अन्तरङ्गपरिवाररूपैरिन्द्रादिभिः लोकपालैः, यमोपलक्षितैः सर्वैः संहर्तृभी रुद्रादिभिः, आदित्योपलक्षितैः सर्वैस्तेजोमयैः, ब्रह्मविष्णूपलक्षितैः सृष्टिसंहारस्थितिकारिभिः सर्वैः अनन्तभट्टारकादिभिः, तत्पुरःसरैरन्यैरपि च निरपेक्षशक्तिपातपात्रीकृतैः स्तूयमानं कल्पितप्रमातृतानिमज्जनात् सर्वो-

त्कृष्टत्वेन परामृश्यमानम्, गणेन कपालीशादिभैरवाष्टकेन वक्ष्यमाणपरिवाररूपेण, मातृभिः ब्राह्म्यादिदेवीभिः, गणानां मात्रा प्रपञ्चव्याप्त्या उमादेव्या उक्तान्तरङ्गपरिवारमध्यप्रधानभूतया निषेव्यमानं तच्छक्तिपातादेव अख्यातिप्रशमनतया समाविश्यमानम्, सृष्टिसंहारौ ताच्छील्येन कुर्वाणम्, सृष्टिसंहारप्रपञ्चात्मानं च विशिष्टप्रत्यवायफलं विलयं स्थितिं च विदधतम्, अनुग्रहं च ताच्छील्यताच्छब्द्यादिस्वभावतया कुर्वन्तं सदा पञ्चकृत्यकारिणम्, प्रणतानां साधकादीनां यथाभिलषितसंपादनेन आर्तिविनाशनम्। एवंभूतं देवं भैरवं मुदितं यथोक्तदेवरूपैव देवी स्वातन्त्र्यशक्तिः, दृष्ट्वा साक्षात्कृत्य, वचनमब्रवीत् पूर्णाहन्तात्मना परामृशत्, तत्परामर्श एव हि अकारहकारप्रत्याहारात्मा गर्भीकृताशेषविश्वसमग्रशास्त्रप्रसरप्ररमाङ्कुररूपो भगवान् शब्दराशिः, यद्वक्ष्यति—

'अदृष्टविग्रहाच्छान्ताच्छिवात्परमकारणात्।
ध्वनिरूपं विनिष्क्रान्तं शास्त्रं परमदुर्लभम्॥' (८।२७)

इत्यादि। चिदात्मैव च भगवान् भैरवः सदाशिवादिमूर्तिग्रहणपूर्वं स्वाधारप्रपञ्चव्याप्तिप्रधानभूतमुमापतिरूपं स्वसत्तानुप्रवेशात् भैरवात्मकमेव मुदितमास्थाय तथाभूतामेव च उमाभट्टारिकामूर्तिं गुरुशिष्यभूमिकाग्रहणेन, शास्त्रं वचनप्रतिवचनरूपं लोकानुग्रहार्थं प्रथयति, यद्वक्ष्यति—

'गुरुशिष्यपदे स्थित्वा स्वयं देवः सदाशिवः।
पूर्वोत्तरपदैर्वाक्यैस्तन्त्रमाधारभेदतः॥' (८।३१)

इति। एवमान्तरबाह्यक्रमाभ्यां शास्त्रार्थसूत्रणात् सूत्रभूतं सार्धश्लोकत्रयात्मकं तन्त्रावतारकवाक्यमेतद्बोद्धव्यम्, अत्र च एकवाक्यमेतत् बोद्धव्यम्, देवभैरवपदाभ्यां यथाव्याख्यातं गर्भीकृतमर्थं स्फुटीकर्तुं कैलासेत्यादिविशेषणान्तराण्युपात्तानि, तथाहि—दिवः क्रीडाव्यवहारलक्षणार्थौ 'सृष्ठीत्यादिना, अनुग्रहकरम्' इत्यन्तेन प्रकटीकृतौ। तत्राद्यैःपञ्चभिः पटलैः मुद्रापटलेन च एतदङ्गभूतेन चतुर्दशेनानुग्रहः प्रतिपादितः, एकादशेन सृष्ट्यादिस्वरूपमुक्तम्, विजिगीषात्मार्थः कैलासेति पदेनान्तरार्थपरेण महेशानपदेन चाभिव्यक्तो दशमपटलेन निर्णीतः, द्योतनार्थोऽनामयमुदितपदाभ्यां प्रकाशितः, स मध्ये मध्ये –

'तत्रस्थं व्यञ्जयेत्तेजः परं परमकारणम्' (४।३९७)

इत्यादौ ग्रन्थे प्रथितः, स्तुत्यर्थः 'चण्डेत्यादिना, निषेवितम्' इत्यन्तन स्फुटीकृतः,

'सुरासुराणां सिद्ध्यर्थं यजनोपायहेतुना ।
देवदेवेन निर्दिष्टः.................... ।।'

इत्याद्युद्देशेषु निर्वाहितः, अगतीनां गतिरित्येवंरूपो योऽर्थः सोऽपि 'प्रणतार्ति-विनाशनम्' इत्यन्तेन व्यक्तः षष्ठसप्तमाष्टमनवमद्वादशत्रयोदशपञ्चदश-पटलैर्निर्णीतः, एवं भैरवपदार्थोऽपि योजितव्यः, तत्र हि यथा रवणार्थः 'अब्रवीत्' इत्यन्तेन व्यञ्जितस्तन्त्रावतारपटलेन प्रदर्शितः, तथान्येऽप्यर्थाः यथायोगं देवपदतुल्यार्थतया योज्याः । अपि च कैलासेति पदेन द्वितीयार्थेन स्थानपूर्वकं देवभैरवादिपदैः सृष्टीत्यादिना च अवस्थापूर्वकं स्तूयमानम् इत्यन्तेन च स्तुतिपूर्वकमस्य शास्त्रस्यावतरणम्, इत्यनेनैव अवतारकवाक्येन प्रकाशितम्, मुदितमित्यनेन प्रश्नयोग्यावसरज्ञत्वं शिष्यस्य प्रकाशितम्, **भैरवपदेन च दक्षिणस्रोतः समुद्भूतत्वम्** अस्य शास्त्रस्य सूचितम्, **स्रोतोभेदं च नवमपटले दर्शयिष्यामः** ।। ३ ।।

किमब्रवीत् ? इत्याकाङ्क्षायामाह—

श्रीदेव्युवाच

यत्त्वया कथितं मह्यं स्वच्छन्दं परमेश्वर ।। ४ ।।
शतकोटिप्रविस्तीर्णं भेदानन्त्यविसर्पितम् ।
चतुष्पीठं महातन्त्रं चतुष्टयफलोदयम् ।। ५ ।।
न शक्नुवन्ति मनुजा अल्पवीर्यपराक्रमाः ।
अल्पायुषोऽल्पवित्ताश्च अल्पसत्त्वाश्च शंकर ।। ६ ।।
तदर्थं संग्रहं तस्य स्वल्पशास्त्रार्थविस्तरम् ।
भुक्तिमुक्तिप्रदातारं कथयस्व प्रसादतः ।। ७ ।।

हे शंकर ! अनुग्रहैकपरतया श्रेयस्कर, स्वआत्मरूप परमेश्वर, यत् त्वया मह्यं स्व एवच्छन्द इच्छा यस्य तादृगनर्गलभैरवरूपाभिधायित्वात् स्वच्छन्दं, तन्त्रावतारपटलनिरूपयिष्यमाणदृशा कोटिशतादिविस्तीर्णं कोट-राक्षव्याधिभक्षाघोरेश्वर-स्वच्छन्दादिना भेदानन्त्येन प्रसारितम्, चतुर्णां विद्यामन्त्रमण्डलमुद्राणाम्, पीठम् आश्रयं संभवमात्रेण

'मुद्रा मण्डलपीठं तु मन्त्रपीठं तथैव च ।
विद्यापीठं तथैवेह चतुष्पीठा तु संहिता ।।'

इति, तथा—

'स्वच्छन्दभैरवश्चण्डः क्रोध उन्मत्तभैरवः ।
ग्रन्थान्तराणि चत्वारि मन्त्रपीठं वरानने ॥'

इति श्रीसर्ववीरेऽभिहितत्वात् । तत्र विद्यास्वच्छन्दशिवरूपा स्फुरत्ता परमार्थ-मातृका, मन्त्राः चतुष्कलाद्याः, मण्डलं नवनाभादि, मुद्राः कपालाद्यनुकाराः । समयि-पुत्रक-साधकाचार्यरूपस्य चतुष्टयस्य वक्ष्यमाणभेदभिन्नस्य यत्फलं भोगमोक्षवितरणादिरूपं तस्योदयो यस्मात् तादृशं कथितं तत् । मरणजन्म-धर्मका मनुष्याः, अल्पेन वीर्येणोत्साहेन पराक्रमेण सामर्थ्येन च युक्ताः, अत एव च वीरसिद्धिषु अशक्ताः, अल्पजीवितत्वेन अल्पवित्तत्वेन च महानुष्ठानेषु चासमर्थाः, अल्पसत्त्वतया च महार्थज्ञानोपदेशा श्वासरहिताः, न शक्नुवन्ति श्रोतुमध्येतुं किं पुनरनुष्ठातुम्, तदर्थं तस्य शास्त्रस्य संग्रहं संक्षेपम्, अल्पः शास्त्रार्थविस्तरो यस्य तादृशम्, भुक्तिं मुक्तिं च ताच्छील्येन ददतम्, प्रसादेन अन्तर्नैर्मल्यप्रथनात्मना अनुग्रहेण, कथय ॥ ७ ॥

अथ प्रश्ननिर्णेयानि वस्तूनि उद्दिशति—

कीदृशं वै गुरुं विद्यात् साधकं च महेश्वर ।
भयाभयप्रदातारं शिष्यं भूमिं च कीदृशीम् ॥ ८ ॥

मन्त्रांश्चैव समासेन कालं चैव समासतः ।
यजनं हवनं चैव अधिवासं रजांसि च ॥ ९ ॥

पञ्चगव्यं चरुं चैव दन्तकाष्ठं च मण्डलम् ।
दीक्षा चाध्वाभिषेकौ च समयान्साधनानि च ॥ १० ॥

कलिमासाद्य सिध्यन्ति तथा ब्रूहि महेश्वर ।

गुर्वादि भूम्यन्तं कीदृशं विद्यात् उपादातुं हातुं च जानीयात् । मन्त्रा-दिसाधनान्तानि पञ्चदश वस्तूनि च यथा कलौ सिद्ध्यन्ति तथा ब्रूहि । तत्र समयिना श्रुतशास्त्रेण पुत्रकादिपदजिघृक्षया गुरुः परीक्ष्यो गुरुणैव वा परीक्ष्यः, गुर्वादयः कार्याः, गुर्वादयोऽत्र यथाप्राधान्यं क्रमेण निर्दिष्टाः, शिष्यः पुत्रकः समयी च वक्ष्यमाणस्वरूपः, सद्गुरुः गुर्वादिचतुष्टयरूपस्य शिष्यवर्ग-स्याभयप्रदः, असद्गुरुस्तु भयप्रदः, सच्छिष्यवर्गः असच्छिष्यवर्गश्च स्वात्मन एव अभयं भयं च प्रददाति, भयं सिद्धिमुक्तिप्रत्यूहात्, तदभावादभयम्, भयाभयप्रदातारमित्येतल्लिङ्गादिपरिणामेन, भूमिमन्त्रदन्तकाष्ठादीनामपि

वक्ष्यमाणनीत्या यथायोगं योज्यम्, भूमि, मन्त्रयागप्रस्तारस्थानम्, मन्त्राः आसन्नमूर्तिसकलनिष्कलाद्याः, कालः सौरः आभ्यन्तरश्च विचित्रः, समासतो यजनहवने सर्वदीक्षितसाधारणे, दीक्षोपयोगिसर्ववस्तूनां योग्यतापादनात्मा संस्कारः अधिवासः, रजांसि शालिचूर्णादीनि वक्ष्यमाणानि नवनाभादिमण्डलोपयोगीनि, पाशक्षपणशिवपददानरूपा दीक्षा, बहुभेदोऽध्वा वर्णमन्त्रपदकलातत्त्वभुवनरूपः षड्विधः, अभिषेकः आचार्यादीनां यागान्ते मन्त्रकलशाम्भसा सेचनम्, दीक्षितानां शेषवत्त्वेन नियतविधिनिषेधाः समयाः, साधनानि साधकानां सिद्ध्युपायाः, न्यासजपाज्यसंस्कारादि अन्यत् सर्वमत्रैव अन्तर्भूतत्वात् पृथक् नोद्दिष्टम् ॥ १० ॥

अथ प्रश्ननिर्णयमुपक्रममाणः प्रोत्साहनाप्रमुखं शिष्यप्रवर्तनाय प्रयोजनाभिधायि आदिवाक्यम्—श्रीभैरव उवाच—

साधु साधु महाभागे यत्त्वया परिचोदितम् ॥ ११ ॥

अनुग्रहाय मर्त्यानां सांप्रतं कथयामि ते ।

साधु साधु इति वीप्सया अवसारप्रष्टृतां जनानुकम्पां च श्लाघमान उपदेशग्रहणयोग्यतापादनाय शिष्यधियमुत्तेजयति देवः, महाभागे इत्यनेन अनुग्रहोन्मुखत्वं श्लाघितम्, त्वया मर्त्यानां मृतिधर्माणां सामान्येन सर्वेषां न तु नियतानां केषांचिदधिकारिणाम्, अनुग्रहाय भोगमोक्षसंपत्तये, यत्प्रमेयजातं परिपाट्या चोदितं पृष्टं तत्तेषामनुग्रहायैव, अहं सांप्रतं परभैरवसत्तानुप्रवेशोन्मिषितमहाविकासावसरे, बालबालिशविद्वज्जनाद्युचितदीक्षाप्रदर्शनादिक्रमेण उपपन्नं च कृत्वा, ते कथयामि । अत्र च यच्छब्दपरामृष्टपूर्वोद्दिष्टप्रमेयपरिपाटीज्ञानमभिधेयम्, तत्प्रयोजनं भोगमोक्षात्मा अनुग्रहः, तत्र चोपायोपेयभावात्मा सम्बन्धः, मर्त्यानामधिकारित्वम्, परानुजिघृक्षोन्मुखतया निवृत्तभोगाभिलाषस्य शिष्यस्य योग्यत्वोत्तेजनम्, परभैरवस्फारावमर्शोन्मिषत्प्रतिभागावसरत्वेन आत्मन आप्ततां परसम्बन्धसारतां च नवमपटले निर्णेष्यमाणां सम्बन्धषट्कस्य निरूपितवान् परमेश्वरो मुख्यभूतप्रयोजनप्रतिपादनपरोऽपि आदिवाक्ये ॥११॥

आदौ तावत्परीक्षेत आचार्यं शुभलक्षणम् ॥ १२ ॥

शुभम्—

['शिवेन सहचारित्वादाचार्यस्तेन कीर्तितः' (४।४०६)

इति इहैव वक्ष्यमाणं शिवाभिन्नस्वरूपप्रतीतिरूपं लक्षणं यस्य तमाचार्यं-साधकादिभिश्च आभिमुख्येन चरणीयं सेव्यम्, आदाविति शक्तिपातवशसं-

प्राप्तप्रबुद्धसुहृद्वाक्यावेदितसतत्त्वः शिष्यः पुत्रकादिदीक्षां जिघृक्षुः श्रुतसंहिताशास्त्रः समयी, यद्वा गुरुरेव शिष्यमाचार्यीकर्तुं पूर्वं परीक्षेत, यद्भविष्यति—

'श्रुतशीलसमाचारान् दैशिकत्वे नियोजयेत्' (४।४५४)

इति। तावच्छब्देनेदं ध्वनति—

'सर्वलक्षणहीनोऽपि ज्ञानवान् गुरुरुत्तमः।'

इति नीत्या उक्तप्रतीतिरूपतैव अस्य शुभलक्षणम्,

'अहमेव परो हंसः शिवः' (४।३९९)

इति वक्ष्यमाणनीत्या तस्या एव मोचकत्वात् दीक्षाक्रियाया अपि शिवाभेदव्याप्तिसारत्वस्य दर्शयिष्यमाणत्वात् ॥१२॥

आर्यदेशजत्वादि उपचयहेतुः शिष्याणां सिद्ध्यङ्गम्, अत एवैतत् पश्चान्निर्दिशति—

आर्यदेशसमुत्पन्नं सर्वावयवभूषितम्।
शिवशास्त्रविधानज्ञं ज्ञानज्ञेयविशारदम् ॥ १३ ॥
देवकर्मरतं शान्तं सत्यवादिदृढव्रतम्।
सत्त्ववद्वीर्यसंपन्नं दयादाक्षिण्यसंयुतम् ॥ १४ ॥
त्यागिनं दम्भनिर्मुक्तं शिवशास्त्रेषु भावितम्।
ईदृशं तु गुरुं प्राप्य सिद्धिमुक्ती न दूरतः ॥ १५ ॥

प्रविभक्तचातुर्वर्ण्यः आर्यदेशः, यदाह विष्णुः[1]—

'चातुर्वर्ण्यव्यवस्थानं यस्मिन् देशे न विद्यते।
स म्लेच्छदेशो विज्ञेय आर्यावर्तस्त्वतः परः ॥'

इति, विधानं दीक्षादि, ज्ञाने शिवशास्त्रे, ज्ञेये च परमशिवतत्त्वे, तत्तदध्वव्याप्त्यादौ विशारदं निर्मलम्,शान्तं जितेन्द्रियम्, सत्यवादी चासौदृढव्रतः अभ्युपगतनिर्वाहकः, सत्त्ववान् निष्कम्पश्च असौ वीर्येण परमुद्रापरमार्थेन संपन्नः पूर्णः, दया संसारिणः प्रति अनुजिघृक्षा, दाक्षिण्यम् अमात्सर्यमानुकूल्यम्, त्यागिनं तृणवद्वित्तं मन्यमानम्, दम्भनिर्मुक्तम् अवक्रव्यवहारम्, शिवशास्त्रेषु भावितम् अशेषविद्याभिज्ञत्वेऽपि शिवशास्त्रेष्वेव विश्रान्ताश्वासम्, ईदृशमिति समनन्तरोक्तशिवाभिन्नस्वप्रतीतिसारम्, गुरुम् उपदेष्टारम्, प्राप्य कारणभूतमासाद्य, सिद्धिमुक्ती कर्त्र्यौ न दूरत. झटित्येव

१. विष्णुस्मृतौ ८४ समेध्याये।

भवत इत्यर्थः। व्याख्यातरूपं शुभलक्षणत्वं मुक्तेरार्यदेशोद्भूतत्वादि च सिद्धिहेतुः शिष्यस्य, इत्युक्तप्रायम् ॥१५॥

एवमभयप्रदं गुरुसतत्त्वमुक्त्वा विपर्ययमाह—

क्रोधनश्चपलः क्षुद्रो दयादाक्षिण्यवर्जितः।
केकरो दन्तुरः काणः पापिष्ठः शास्त्रवर्जितः ॥ १६ ॥
अतिदीर्घस्तथा ह्रस्वः कृशः स्थूलः क्षयान्वितः।
तार्किको दम्भसंयुक्तः सत्यशौचविवर्जितः ॥ १७ ॥
अन्यशास्त्ररतो यस्तु नासौ मुक्तिफलप्रदः।

क्रोधनः क्रोधमयः, चपलो दुःशीलः कार्येष्वरूढश्च, क्षुद्रः क्षुद्रसिद्धिसाधनपरः, केकरो लोलतारकदृष्टिः, क्षयान्वितो यक्ष्माक्रान्तः, तार्किकः कुतर्कशास्त्रैकनिष्ठः, ऊहात्मकस्तु तर्कः श्रीपूर्वशास्त्रे शस्त एव, यथोक्तम्—

'तर्को योगाङ्गमुत्तमम्।' (१७।१८)

इति, शौचवर्जितः, अर्थशुद्ध्यादिशून्यः, स्पष्टमन्यत्। एवमीदृशो गुरुः साधकाय फलं सिद्धिलक्षणं न ददाति, प्रत्युत वक्ष्यमाणदिशा भयमेव वितरति। यस्तु अन्यत्र वैष्णवादौ शास्त्रे रतः, अथ च चुम्बकादिवृत्त्या शिक्षितपरमेश्वरशास्त्रः, तत्र असमाश्वस्तः तदुक्तम् 'दीक्षादि कुर्वन्नपि पापिष्ठो न मुक्तिप्रदः, शिवशास्त्ररतस्तु तत्तदंशकनिष्ठेभ्यः सर्वेभ्यो मुक्तिफलप्रद एव तस्य सर्वोर्ध्ववर्तित्वात्' यद्वक्ष्यति—

'सर्वाध्वनो विनिष्क्रान्तं शैवानां परमं पदम्' (१०।७४)

इति, मुक्तिं फलं च सिद्धिरूपं प्रददाति, इत्येवं योजयित्वा यथोक्तं व्याकर्तव्यम्, एवं हि—

'संतापं क्रोधने विन्द्यात्' (१।२२)

इत्यादि,

'मन्त्रास्तस्य न सिद्ध्यन्ति यः सत्यादिविवर्जितः' (१।२७)

इत्यन्तं वक्ष्यमाणविरुद्धफलप्रदत्वं क्रोधनादेः संगच्छते, अत एव अन्यशास्त्ररतस्य यद्विपरीतफलप्रदत्वम् उत्तरत्र नोक्तम्, तदपि युक्तमेव।

'संतापं क्रोधने विन्द्यात्' (१।२२)

इत्यादि इह क्रमप्राप्तमपि अपठित्वा शिष्यनिर्णयादनन्तरं पठन् शिष्यस्यैव भूयसा ईदृशो गुरुर्भयद इति ध्वनयति ॥१७॥

अथात्मनि अभयप्रदस्य शिष्यस्य स्वरूपं निर्दिशति—

शिष्यो दयान्वितो धीरो दम्भमायाविवर्जितः ॥ १८ ॥
देवाग्निगुरुभक्तश्च शास्त्रभक्तो दृढव्रतः ।
गुरुशुश्रूषणपरः सुशान्तेन्द्रियसंयुतः ॥ १९ ॥
ईदृशो वै भवेच्छिष्यः सोऽत्रानुग्रहभाजनम् ।

दया दीनादिविषयानुकम्पा, धैर्यं सर्वत्रोत्साहः, दम्भः अस्पष्टहृदयता, माया वञ्चकत्वम्, दृढव्रतो निश्चितमतिः, एतत्साधकविषयं तस्यैव क्रोधनादिवर्जिताचार्यशिष्यस्य निश्चितधीत्वेनैव साधनाधिकारिणः शिवधर्मिलोकधर्मिभिदा स्वावसरे निर्णेष्यमाणत्वात् देवादिचतुष्टयभक्तिः शिष्यस्य मुख्यं रूपम्, भक्तिः दूरस्थे गुरौ भवति शुश्रूषा तु सततं तदनुचरत्वम्, सोऽत्रानुग्रहभाजनम्' इत्यनेन अस्य स्वात्मन्येव अभयप्रदत्वमुक्तम्, द्वितीयः शिष्यशब्दोऽर्हप्रत्ययान्तः । स्पष्टमन्यत् ॥१९॥

एतद्विपरीतमाह—

मायान्वितः शठः क्रूरो निःसत्यः कलहप्रियः ॥ २० ॥
कामी च लोभसंपन्नः शिवभक्तिविवर्जितः ।
दूषको गुरुशास्त्राणां दीक्षितोऽपि न मुक्तिभाक् ॥२१॥

शठः अस्वच्छहृदयः, क्रूरो रौद्रप्रकृतिः, कलहप्रियो वितण्डावान्, लोभसम्पन्नः संभवसत्तायामपि पूजादिषु वित्तशाठ्यवान्, शिवभक्तीत्यादिना विलयशक्त्याघ्रातत्वमस्योक्तम्, न मुक्तिभागित्यनेन स्वात्मन्येव अस्य भयप्रदत्वमुक्तम् सर्वेषां शिष्यत्वात् ॥२१॥

अथ शिष्याणां यथा भयप्रदो गुरुस्तथा निरूपयति…

संतापं क्रोधने विन्द्याच्चपले चपलाः श्रियः ।
मन्त्रसिद्धिं हरेत् क्षुद्र आचार्यस्तु वरानने ॥ २२ ॥
दयाहीनेन दौर्भाग्यमदक्षे दस्युपीडनम् ।
केकरेण भवेद्व्याधिर्दन्तुरः कलिकारकः ॥ २३ ॥
काणो विद्वेषजननः खल्वाटश्चार्थनाशनः ।
शास्त्रहीने न सिद्धिः स्याद् दीक्षादौ वीरवन्दिते ॥२४॥

दीर्घे राजभयं ज्ञेयं ह्रस्वः पुत्रविनाशनः ।
कृशः क्षयकरो ज्ञेयः स्थूल उत्पातकारकः ॥ २५ ॥
क्षयान्वितेन मृत्युः स्यात् तार्किके वधबन्धनम् ।
दाम्भिकः पापजनको वेदितव्यो वरानने ॥ २६ ॥
मन्तास्तस्य न सिद्ध्यन्ति यः सत्यादिविवर्जितः ।
सर्वे ते न शुभा देवि इह लोके परत्र च ॥ २७ ॥

विन्द्यात् लभते, न सिद्ध्यन्ति नानुग्रहादिकार्यं कुर्वन्ति, एतच्च कर्म-प्रधानाचार्याशयेन उच्यते, ज्ञानयोगनिष्ठस्तु आचार्यः काणत्वादियोगेऽपि न दोषकृत् यथोक्तम्…

'सर्वलक्षणहीनोऽपि ज्ञानवान् गुरुरुत्तमः ।'

इति स्पष्टमन्यत् । अत्र च ईश्वरोक्त्येकप्रमाणके उपपत्तय आलजालप्राया लिखिताः, ता उपहास्या एव ॥२७॥

अथ संप्रति मातृकाप्रस्तारे उत्तरत्र च यागादावुचितां भूमिं निर्दिशति…

सितरक्तपीतकृष्णां भूमिं प्लवविशोधिताम् ।
विशल्यां लक्षणैर्युक्तां सर्वकामार्थसाधिकाम् ॥ २८ ॥

श्रित्वेति शेषः, दीक्षायां जात्युद्धारस्य भैरवीयजात्यापादनस्य च वक्ष्यमाणत्वात् ।

'वर्णानां ब्राह्मणादीनां श्वेता मृत् काञ्चना सिता ।'

इति भेददर्शनवन्नात्र विभाग उक्तः, संकीर्णवर्णा तु भूर्व्यवच्छिन्ना, प्लवेन उपरिजलप्रक्षेपेण शोधितां परीक्षितेशानपूर्वोत्तरदिङ्नतिं समनिम्नां वा, यथोक्तम्…

'उदगादिप्लवा श्रेष्ठा……………।'

इति, विशल्याम् अस्थ्यङ्गारादिशून्याम्, लक्षणैः स्निग्धत्वमनोहरत्वादि-भिर्युक्ताम्, अनुवादपरमपि एतदेव वाक्यं विधायकम्, विधिवाक्यान्तरस्या-भावात् ॥२८॥

एवं-विधां भूमिं श्रित्वा—

सुगन्धिगन्धसंयुक्तां पुष्पप्रकरलालिताम् ।
सुधूपामोदबहलां वितानोपरिशोभिताम् ॥ २९ ॥

कृत्वेति शेषः, श्रुतं पारमेश्वरीं धर्तृं शक्तिमादौ पूजयेदित्यर्थः ॥२९॥

अथ समुचिताचार्यप्रदर्शनपूर्वं मन्त्रोद्धारे इतिकर्तव्यतामाह—

आचार्यस्तु शुचिर्भूत्वा चन्दनागुरुचर्चितः ।
सुधूपितः प्रसन्नात्मा खटिकाकरसंयुतः ॥ ३० ॥
प्राङ्मुखोदङ्मुखो वापि एकचित्तः समाहितः ।
मातृकां प्रस्तरेत्तत्र आदिक्षान्तामनुक्रमात् ॥ ३१ ॥

शुचिः कृतयथेष्टस्नानः, चन्दनेत्यादिना विहितनित्यानुष्ठानः, अत एव प्रसन्नः, देहादिनिमज्जनादुन्मग्नशिवभाव आत्मा यस्य, तत्पुरुषसद्योजातवक्त्रयोः सिद्धिमुक्तिहेतुत्वात् । आचार्यो यथाभिप्रायं 'प्राङ्मुख उदङ्मुखो वा' इत्युक्तम्, एकचित्तो मन्त्रोदयनिभालनप्रवणः अत एव समाहितो लब्धमन्त्रवीर्यः, मातृकां पशूनामज्ञानां विश्वमातरं सर्वमन्त्रतन्त्रजननीम्, आदिक्षान्तामिति अनुत्तराकुलव्याप्तिसारकलाप्रमुखानन्देच्छादिशक्तिक्रमेण प्रसृत्य कादिसान्तप्रत्याहारस्वीकृताशेषविश्वक्षकारात्मकपिण्डमन्त्रप्रदर्शितपर्यन्तव्याप्तिसाराम्, प्रस्तरेदिति स्वप्रमाणशक्त्यवस्थितस्वाभाविकपञ्चाशद्रुद्रतच्छक्त्यामर्शप्रसरसंचेतनानुस्वारश्रीसर्ववीरभर्गशिखोक्तशक्तिचतुष्टयात्मकलिपिव्याप्त्यनुसंधिपूर्वं च प्रस्तृणीयात्, 'प्रस्तरेदिति' आर्षः पाठः । एवमन्यदपि परमेश्वरवचः साध्वेव, भगवदुक्तीनां मितदृष्टिभिरविकल्प्यत्वात् ॥३१॥

एवमस्यशास्त्रस्योद्दिष्टविद्यापीठत्वचिकीर्षया पूर्वभित्तिभूतां मातृकां प्रदर्श्य, अस्याः शिवशक्तिरूपतां निरूपयति—

आदिः षोडशभेदेन साक्षाद्भैरवः स्मृतः ।
कवर्गश्चटवर्गौ च तपयाः शस्तथैव च ॥ ३२ ॥
संहारेण समोपेतौ योनिर्वै भैरवी स्मृता ।

आदिः प्रथमो वर्गः, अनुत्तरादेर्विसर्गान्तस्य विश्वाप्यायिनः षोडशकस्य स्वयं राजमानतया शब्दनस्वाभाव्येन भेदोपतापकारितया विश्वाक्षेपेण च स्वरशब्दवाच्यस्य गर्भीकृताशेषवाच्यवाचकादियोनिवर्णतत्त्वप्रसरसमाश्रयत्वात् तदुल्लासकत्वाच्च बीजव्यपदेशस्य परसंवित्स्फारसतत्त्वस्य भेदेन वैचित्र्येण साक्षाद्भैरवः अशेषविश्वमयत्वात् वाच्यवाचकयोरभेदाच्च, कादीनां तु बीजस्यानीभावरूपत्वेन घनत्वात् बीजव्यङ्ग्यत्वेन व्यञ्जनशब्दव्यपदेश्यानामुक्तबीजसंसर्गेण जगत्कारणत्वात् योनिता, तथैव चेति वर्गरूपतया संहारेण क्षकारेण, भैरवी ॥ ३२ ॥

प्रोक्तभैरवशक्तिरूपमातृकायाः प्रस्तायं प्रदर्श्य, सर्वमन्त्रदेवतास्फारसाराया अस्या मन्त्रोद्धाराङ्गत्वेन पूजां दर्शयन्, अनुष्ठानविशेषतामपि सूचयति—

मातृकाभैरवं देवमवर्गेण प्रपूजयेत् ॥ ३३ ॥
भैरवी कादिना पूज्या मातृवर्गैः प्रपूजयेत् ।

मातृकाधिष्ठातारं भैरवं तत्स्फाररूपतयैव भरणरवणवमनपरमार्थं निष्कलभट्टारकस्वरूपम्, अवर्गेण व्यावर्णितस्वरूपेण षोडशकेन प्रपूजयेत्, भैरव्यपि निष्कलभट्टारकाभिन्नस्वरूपैव कादिना क्षान्तेन योनिवर्गग्रामेणाविभक्तेन तदधिष्ठात्री उमा योगीश्वरीरूपा पूज्या ॥ ३३ ॥

अवर्गे तु महालक्ष्मीः कवर्गे कमलोद्भवा ॥ ३४ ॥
चवर्गे तु महेशानी टवर्गे तु कुमारिका ।
नारायणी तवर्गे तु वाराही तु पवर्गिका ॥ ३५ ॥
ऐन्द्री चैव यवर्गस्था चामुण्डा तु शवर्गिका ।
एताः सप्त महामातॄः सप्तलोकव्यवस्थिताः ॥ ३६ ॥

मातॄः ब्राह्मी महेश्वरी कौमारी वैष्णवी वाराही ऐन्द्री चामुण्डा इति सप्त भैरव्या मरीचिरूपाः, अग्नीशानसोमयमवरुणेन्द्रनिर्ऋतिदिक्षु

'अष्टवर्गविभिन्ना तु विद्या सा मातृका तु वै ।' (१०।११४४)

इति वयमाणत्वादवर्गस्य चोपयुक्तत्वात् सप्तभिरेव कादिवर्गैः प्रविभज्य पूजयेत्, एवं चेदमनुष्ठानान्तरमपि युक्तमेव, तथा च भुवनाध्वमि बुद्धिभुवनेषु मध्ये योगाष्टकादनन्तरम् औमं भुवनं प्रतिपाद्य, स्वचारुनामनि भुवने परभैरवप्रपञ्चव्याप्तिरूपस्य उमापतेः मातृसप्तकपरिवारस्य ध्यानादिस्वरूपमस्त्येव, तद्यथा—

'उमापतिर्जगन्नाथः सर्वानुग्रहकृत्परः ।' (१०।१००८)

इत्युपक्रम्य तद्ध्यानमुक्त्वा

'मातरः सप्त रूपिण्यः' (१०।१०१७)

इत्यादिना ब्राह्म्यादिमातॄणां ध्यानसंनिवेशादि प्रतिपाद्य

'स्वच्छन्दं पर्युपासीनाः परापरविभागशः ।' (१०।१०२९)

इत्युक्त्वा

'उमा वै सप्तधा भूत्वा नानारूपविपर्ययैः ।' (१०।१०२९)

इत्यादिना अनुष्ठानभेदतैव निर्वाहिता, तत्र तु भगवतोऽपरं रूपमुक्तम्, इह तु परं रूपमिति विशेषः, यद्वक्ष्यति—

'स्वच्छन्दास्तु पराश्चान्याः परे व्योम्नि व्यवस्थिताः ।

स्वच्छन्दं पर्युपासीनाः परापरविभागशः ।।' (१०।१०२८)

इति । तस्मात् मन्त्रोद्धारादङ्गभूतमातृकाभैरवपूजनस्यानुष्ठानान्तररूपत्वेऽपि न काचिदुपपत्तिः ।। ३६ ।।

सर्वा कामानवाप्नोति देव्येवं भैरवोऽब्रवीत् ।

युक्तं चैतत्, यदाह—

मन्त्रोद्धाराङ्गत्वे तु 'फलवत्संनिधावफलमङ्गम्' इति नीत्या मातृकाभैरवपूजनस्येयमुक्तिरतथ्या स्यात्, कर्मणोऽपरिसमाप्तस्य फलनिर्देशायोगात् ।।

एवं च कृत्वा—

अन्तेऽस्य उद्धरेन्मन्त्रान् यथाक्रमनियोगतः ।। ३७ ।।

अस्या मातृकापूजायाः, यथाक्रमम् आसनमन्त्रमूर्तिमन्त्रादिक्रमेण यो नियोगः तत्तन्मन्त्रवाच्यदेवतानुसंधानपरत्वं तेन, स च क्रमयोगो द्वितीयादिपटलभाविन्यासावसरोपयोगि, इति ।। ३७ ।।

इह मन्त्रोद्धारोऽपि भाविन्यासक्रमानुसारमुच्यते, तत्र—

त्रयोदशं बिन्दुयुतमनन्तासनमुत्तमम् । ॐ - आसन मं

अनेन योजयेत् सर्वं सोमसूर्याग्निमध्यगम् ।। ३८ ।।

ब्रह्मविष्णुमहेशानं शवान्तं परिकल्पयेत् ।

त्रयोदशम् ओकारं, बिन्दुना युतं प्रणवाकारम्, अनन्तासनमिति परतत्त्ववाचकमपि, एतत् संप्रतीश्वरेणासनवाचित्वेन नियुक्तत्वात् अधःस्थानन्तमूलविद्येशान्तमध्यव्यापिनीपदस्थानन्तपर्यन्तासनमनुरूपमित्यर्थः, सर्वाध्वोर्ध्ववर्तिनोऽनन्तभट्टारकस्यैव धराधरानन्तरूपा प्रपञ्चव्याप्तिः, इति भविष्यति, तत् व्यापिनीपदस्थानन्तपर्यन्ता इहैवासनव्याप्तिः, अत आह—उत्तममिति अतिशयेनोद्गतं सर्वाध्वमूर्धस्थमित्यर्थः, एतदेव व्यनक्ति—अनेन आसनमन्त्रेण, सर्वमधरवर्ति योजयेत् एकाधारशक्तितया अनुसंदध्यात्, एवं सोमसूर्याग्निमध्यगं ब्रह्मविष्णुमहेशानं कृत्वा । अयमर्थः—शाक्तपद्मव्याप्तिसतत्त्वे विद्यापद्मे दलकेसरकर्णिकाभागेषु सोमसूर्यवह्निमण्डलानां

सर्वप्रमेयप्रमाणप्रमातृव्याप्तिसाराणां मध्यगतमन्तर्गतं ब्रह्मादिसमग्रकारणग्रामं कृत्वा भेदव्याप्त्यानुसंधाय, तदुपरिवर्त्यनाश्रितभट्टारको द्वितीयपटलप्रदर्शयिष्यमाणशवव्याप्तिकोऽन्ते यस्य तत् तादृगासनम्, प्रणवेन गुरुमुखप्रसिद्धविशेषणानुसंधानव्याप्त्या व्याप्यमानं परामृशेत् ।। ३८ ।।

एवमनेन न्यासेनैव भेदो विलायते, अणुत्वलयायाह—

मूर्ति हंसाक्षरेणैव बिन्दुभिन्नेन कल्पयेत् ।।३९।।
अर्धचन्द्रकृताटोपां स्वस्वनां तुहिनप्रभाम् ।

'आत्मा वै हंस.......................... ।'

इति वक्ष्यमाणात्मपरामर्शिना हंसपथसततसंचारिणा, अक्षरेण विचलद्रूपेण हकारेण, अशेषमन्त्रारणिरूपेणापि समस्तविद्याविभागवेदनात्मकबिन्दुयुक्तेन भेदितबिन्दुना अतश्च पञ्चप्रणवाधिकारनिरूपयिष्यमाणदिशा लब्धमन्त्रत्वात् उच्चार्येण, मूर्तिमिति मुण्डान्तभेदव्याप्तिमोहात् शुद्धात्मदशासमुच्छ्रयाच्च मूर्तिव्यपदेश्याम् आत्मस्थितिं कल्पयेत् विमृशेत्, कीदृशीम् ? अर्धचन्द्रे बिन्दुमूर्तिवर्तिनि कृत आटोपो यया ललाटग्रन्थिभेदाय आस्थितोत्साहामित्यर्थः, तद्भेदादेव ध्वनिमातृतया स्वस्वनाम् अहंविमर्शरूपाम्, तथा तुहिनप्रभां कदम्बगोलकाकारचैतन्यप्रकाशरूपाम्, तदुक्तं श्रीत्रिकहृदये—

'अनन्ते भैरवोच्छ्राये मूर्तिरेषा परापरा ।
यस्यास्तु न्यासमात्रेण अणुत्वं प्रविलीयते ।।'

इति ।। ३९ ।।

ततोऽपि—

तदूर्ध्वे सकलं देवं स्वच्छन्दं परिकल्पयेत् ।।४०।।

तदिति चिन्मूर्तेरूर्ध्वे तत्संकोचं निमज्ज्य, अशेषवाच्यवाचकशरीरं सकलं प्राग्व्याख्याततत्त्वम्, देवं स्वच्छन्दमिति अनुग्राह्यानुग्रहाय चिन्मूर्तिभित्तिं भित्त्वेव निर्यातम्, परिकल्पयेत् भावयेत् ।। ४० ।।

परिकल्पनामात्रकृत एव मूर्तिभैरवनिष्कलानां भेदः, तमाह—

ओंकारमुच्चरेत्पूर्वमघोरेभ्यो अनन्तरम् ।
थ घोरेभ्यो समालिख्य ततोऽन्यत्तु समालिखेत् ।।४१।।

घोरघोरतरेभ्यश्च सर्वतः शर्व उच्चरेत् ।
सर्वेभ्यः पदमन्यच्च नमस्ते रुद्र एव च ।।४२।।
रूपेभ्यश्च समालिख्य नमस्कारावसानकम् ।
मन्त्रराजः समाख्यातः अघोरः सुरपूजितः ।।४३।।

अत्र मन्त्रपदानां स्वरूपरक्षार्थं संहिताकार्यं न दर्शितम्, आद्यन्तस्थित-प्रणवनमस्कारवर्जं द्वात्रिंशदक्षरोऽयं श्लोकनिर्दिष्टो महामन्त्रः। अस्यायं रहस्योऽर्थः—हे परमेश्वर रुद्र परचैतन्यस्फारानुप्रवेशान्मनो रोधनस्य अशेष-पाशद्रावणस्य च हेतो! घोर भेदाभेदात्मकसदाशिवेशादिपदोल्लासक! शर्व भेदमयमायीयस्वरूपप्रकटनात् सृष्टिस्थितिप्रलयसंहारमात्रतापादनेन शरणवरणरूप! इत्यामन्त्रणत्रयेण व्याख्यास्यमानरूपत्रयौचित्यप्रयुक्तेन सर्व-दशाप्रदर्शनपरम् अशेषविग्रहं भगवन्तं परभैरवं संमुखीकृत्याह—ते तव, सम्बन्धिभ्यः रौद्रीज्येष्ठावामाख्यशक्तित्रयविभवरूपनानारुद्रतच्छक्तिचक्रात्म-केभ्यः संहितान्तरेऽपरापरापरापरा-नामनिरुक्तेभ्यो यथाक्रममविद्यमानं भेद-मयं भेदाभेदमयं च पाशात्मकं घोरस्वरूपं येषां तेभ्यः परचैतन्यानन्दघनाद्वय-महाभैरवात्मकस्वस्वरूपप्रत्यभिज्ञापकेभ्यः अघोरेभ्यः, तथा अनाश्रितसदा-शिवेश्वरादिरूपलेदात्मपदप्रदेभ्यः, अथेति उक्तरूपभितिप्रथमानत्वात् अनन्त-रभाविभ्यः, अत एवाहन्ताच्छादितेदन्ताभासकात्मकस्वशक्तिदर्पणोट्टङ्कित-मायादिक्षित्यन्तभेदप्रथाप्रदेभ्यः, अतिभीषणत्वात् घोरतरेभ्यश्च रूपेभ्यः स्वभावेभ्यः, एकैकस्य रूपस्य परभैरवरूपभित्तिमयत्वेन पूर्णत्वात्, सर्वतः सर्वेण रूपेण सर्वेभ्यः सर्वदा सर्वत्र सर्वसर्वात्मतया स्फुरद्भ्यः महामन्त्रवीर्या-त्मकपूर्णाहन्तापरामर्शमयेभ्यो नमः आमन्त्रणपदपरामर्शाभिमुखीभूतमहा-रुद्रशक्तित्रयस्फारविवशीभवत्पाशराशिशरीरादिकल्पितप्रमातृपदप्रह्वीभावेन समाविशामीत्यर्थः, उक्तं च **श्रीमालिनीविजये**—

'विषयेष्वेव संलीनानधोधः पातयन्त्यणून् ।
रुद्राणून् याः समालिङ्ग्य घोरतर्योऽपराः स्मृताः ।।
मिश्रकर्मफलासक्तिं पूर्ववज्जनयन्ति याः ।
मुक्तिमार्गनिरोधिन्यस्ताः स्युः घोराः परापराः ।।
पूर्ववज्जन्तुजातस्य शिवधामफलप्रदाः ।
पराः प्रकाशितास्तज्ज्ञैरघोराः शिवशक्तयः ।।' (३।३१-३३)

इति । **श्रीपञ्चार्थप्रमाणे** तु—

'घोरेति पाशजालाख्यं पापयुक्तं भयानकम् ।
तद्येषां तु न विद्येत ह्यघोराः परिकीर्तिताः ।।
वामेश्वरादयो रुद्रा जालमूलोपरिस्थिताः ।
ते ह्यघोराः समाख्याताः शृणु घोरान् समासतः ।।
प्रोक्ता गोपतिपूर्वा ये रुद्रास्तु गहनान्तगाः ।
ते तु घोराः समाख्याता नानाभुवनवासिनः ।।
विद्येश्वराद्यनन्तान्ता महामाहेश्वराश्च ये ।
घोरघोरतरास्त्वन्ये विज्ञेयास्त्वध आश्रिताः ।।
एते अघोरा घोराश्च घोरघोरतरास्तथा ।
एतेष्ववस्थिता नित्यं शक्तयः पारमेश्वराः ।।
स्थितिप्रलयसर्गेषु बन्धमोक्षक्रियासु च ।
सर्वार्थप्रेरकत्वेन रूपेष्वेतेषु शक्तयः ।।
रूपेभ्य एभ्यः सर्वेभ्यो नमस्कारं करोत्यणुः ।
नमस्कारः परित्यागः कार्यकारणलक्षणः ।।'

इति ।। ४३ ।।

एवमस्य सर्वसर्वात्मकपारमेश्वरसतत्त्वमयस्य दुर्लभस्यापि भक्तिशालिभिः सततलब्धस्य महामन्त्रस्य स्वरूपमभिधाय, माहात्म्यं प्रकटयति—

सकृदुच्चारितो देवि नाशयेत् सर्वकिल्विषम्
जन्मकोटीसहस्रैस्तु भ्रमद्भिः समुपार्जितम् ।। ४४ ।।

शिष्याणां दीक्षासमये गुरुणा प्रयुज्यमान इति शेषः ।। ४४ ।।

तथा—

स्मरणान्नशयेद्देवि तमः सूर्योदये यथा ।

तम इति आणवं मायीयं च मलम्, तमः अन्धकारमिव सूर्योदयो नाशयति, एवं दीक्षया तमश्च देहाद्यभिमानरूपमज्ञानम्, स्मरणान्नाशयत्येव स्ववाच्यभैरवदेवतासमावेशनेन शिष्याणामेव च प्रामादिकसमयाननुष्ठानकिल्विषरूपम्, साधकानां च विघ्नरूपं तमोऽपि व्याख्यातपरमार्थवीर्यानुसंधानात्मकस्मरणमात्रादेव नाशयत्येत्यस्मिन् सकलभोगापवर्गप्रदे महामन्त्रे नार्थवादाशङ्कया भ्रमितव्यम्, तथा च श्रीमतङ्गशास्त्रे—

'प्रमाणमेकं तद्वाक्यं तथ्यमीश्वरभाषितम्' (१।३।१८)

इत्युक्तम्, **परभैरवस्फारमयैरस्मद्गुरुभिरपि तन्त्रालोकेऽभिहितम्**—

'विधिवाक्यमिदं चैव नार्थवादः कदाचन ।
नार्थवादाभिरूपत्वं वाक्ये माहेश्वरे भवेत् ॥' (४।२३२)

इति ॥ ४४ ॥

अस्य परमेश्वरस्यानुग्रहार्थं भक्तिभाजां चिन्मूर्ताविव प्रदर्शयिष्यमाण-व्याप्तिकमाकारमुट्टङ्कयितुं वक्त्रमन्त्रानाह—

यकारादिवकारान्ताः संहारेण समायुताः ॥४५॥
बिन्दुमस्तकसंभिन्ना भैरवस्य मुखानि च ।

मातृकापर्यन्तवर्तित्वात् संहारेण क्षकारेण, सम्यगिति आदौ, आयुताः संबद्धाः, वेदनात्मकबिन्दुव्याप्तिसारा ऊर्ध्वपूर्वदक्षिणपश्चिमवाममुखानां परमव्योमषायुतेजोवारिधराशक्तिसाराणां वाचकत्वाद् भैरवीयस्वरूपप्रवेशो-पायत्वाच्च भैरवस्य मुखादि एते मन्त्राः ।

एतानि च—

ब्रह्मभङ्ग्या नियोज्यानि मूर्धादिचरणावधि ॥४६॥

ब्रह्मणो बृहत्त्वात् बृंहकत्वात् विश्वात्मनः शक्तिमूर्तेः, भङ्ग्या दण्डा-कारतया, ब्रह्माणां च ईशानादीनां पञ्चानां, भङ्ग्या विभागेन तेन प्रणवपूर्णं 'क्षं' ईशानमूर्ध्ने 'यं' तत्पुरुषवक्त्राय, 'रं' अघोरहृदयाय, 'वं' वामदेवगुह्याय 'लं' सद्योजातमूर्तये, इति मूर्तिरेकत्वादेकेन मन्त्रेण दण्डाकारा अनुद्भिन्ना-वयवा भगवन्मूर्तिः कल्प्या ॥४६॥

अस्या विभागदर्शनार्थं वक्त्रक्षेत्रे भाविस्फुटवक्त्रविभागभित्तिभूतां कवाटभङ्गिं दर्शयति—

पुनश्चोर्ध्वं मुखं कल्प्यं प्राग्दक्षिणमथोत्तरम् ।
अपरं

मुखानीति पदविभक्तिविपरिणामात् तृतीयाबहुवचनान्तमिह योज्यम्, तेन मुखैः 'क्षं यं रं वं लं' इत्येतैः मुखमन्त्रैः पुनरिति ब्रह्मभङ्ग्या न्यासोपरि, मुखमिति मुखावकाशदानार्थमूर्ध्वप्रागादिकवाटे न्यसेदित्यर्थः । अत्र च 'ओक्षं' ईशानवक्त्रायनमः इति पृथक् पृथग् न्यासः कार्यः, वक्त्राणां भिन्नत्वात् ॥

किं च—

कल्पयित्वा तु कलाभेदेन विन्यसेत् ॥४७॥
पूर्वं च दक्षिणं चैव उत्तरं पश्चिमं तथा ।
ऊर्ध्वमूर्ध्ना तु संयुक्तं क्षकारं त्वीशरूपिणम् ॥४८॥

इह —

'शिवस्यैका महाशक्तिः शिवश्चैको ह्यनादिमान् ।
सा शक्तिर्भिद्यते भूयोभेदै······ ॥' (११।२७१)

इति वक्ष्यमाणनित्या भगवतः स्वातन्त्र्यशक्तिसारस्य यथा मूर्तिग्रहणं तथा तदनुरूपं तत्तच्छक्तिस्फारमयत्वं न तु शान्तरूपत्वम्, इति दर्शनसतत्त्वमुन्मीलयितुं कवाटादिभङ्गिषु कलापर्यायाणां शक्तीनां न्यास उच्यते, तत्र 'पाठ्क्रमादार्थः क्रमो बलीयान्' इति स्थित्या ऊर्ध्वमूर्ध्वरूपं पूर्वं दक्षिणमुत्तरं पश्चिममिति क्रमेण संसारतारकत्वादन्वर्थनामा

'तारा सुतारा तरणी तारयन्ती सुतारिणी ।
ईशानस्य कलाः पञ्च······

इति वक्ष्यमाणो यः कलाभेदः, तेन 'क्षकारं मन्त्रमीशरूपिणम्' ईशानभट्टारकाख्यवाच्यदेवतास्फारमयमूर्ध्वं पूर्वादिकं वक्त्रं विन्यसेत् क्षकारञ्च पूर्वमित्यादि सामानाधिकरण्येनोक्तं योज्यम्, कलाभेदश्च प्रातिलोम्येनानुसंधेय इति गुरुक्रमः । एवं 'क्षं' सुतारिण्यै नमः इत्यूर्ध्वकवाटे, क्षं तारयन्त्यै नमः इति पूर्वस्मिन्, यावत् 'क्षं' तारायै नमः' इति पश्चिमकवाटे, ईशानव्याप्तिदर्शनाय कलान्यासः कार्य इति पिण्डार्थः ॥४८॥

अथ वक्त्राणि स्फुटयितुमाह—

एवं वक्त्रं चतुर्धा तु वक्त्रेष्वेव नियोजयेत् ।

कलाभेदेनेत्यनुवर्तते, एवमिनि च ईशानकलाभेदन्यायेनैव पूर्ववक्त्रमन्त्रं 'यकारं' वक्त्रेषु चतुर्धा पूर्वादिवक्त्रनिमित्ततत्स्फुटीकरणाय चतुर्धैव कलाभेदेन योजयेत्, कलाश्चात्र—

'निवृत्तिश्च प्रतिष्ठा च विद्या शान्ता तथैव च ।
पुरुषस्य कला एताश्चतस्रः······ ॥ (१।५५)

इति वक्ष्यमाणाः, अत्रापि प्रातिलोम्येन सृष्टिक्रमेण न्यासः, तेन 'यं' शान्तायै तत्पुरुषवक्त्राय नम इत्यादि 'यं' निवृत्तये सद्योजातवक्त्राय नम

इत्यनुसंधेयम्, वक्त्रचतुष्टयस्य व स्फुटता भावनीया ॥

पुरुषादिकलानां स्फुटभेदोल्लासकत्वात्, ऊर्ध्ववक्त्र तु अनुद्भिन्नाकार-भेदेऽवधिमाह—

पञ्चमं यदूर्ध्ववक्त्रं क्षकारेणैव निर्दिशेत् ॥४९॥

फलस्वरूपस्य व्यञ्जकत्वात् संसारत्राणाच्च वक्त्रम् एवकारेण अत्र स्फुटाकारतानुसंधेया, इति ध्वनति ॥४९॥

एवमूर्ध्ववक्त्राक्षेत्रयोः कवाटकलावक्त्रभङ्गिन्यासमुक्त्वा हृत्क्षेत्रादाव-घोरकलान्यासमाह—

हृदि ग्रीवांसपृष्ठे तु नाभौ च जठरे तथा ।
पृष्ठे चोरसि विन्यस्येदघोरेणयथाक्रमम् ॥५०॥

'तमा मोहा क्षुधा निद्रा मृत्युर्माया भया जरा ।
अघोरस्य कला ह्येता अष्टौ वै वरवर्णिनि ॥' (१।५६)

इति वक्ष्यमाणकलाभेदात्, अघोरेण अघोरवक्त्रमन्त्रेण, यथाक्रमं विन्यसेत्, तेन 'ओं रं' तमायै हृदयाय नमः इत्यादि, 'ओं रं जरायै नमः उदरे, इत्यन्तो न्यासः कार्यः, अघोरभट्टारकस्य संहारप्रधानत्वात् । कलास्तथो-चितनाम्न्यः ॥५०॥

गुह्यादिक्षेत्रे श्रीवामदेवकलान्यासमाह—

गुह्ये तथा गुदे चैव तथोर्वोर्जानुनोरपि ।
जङ्घयोश्च स्फिजोः कट्यां पार्श्वयोरुभयोरपि ॥५१॥
विन्यसेच्चैव वामेन शरीरे तु यथाक्रमम् ।

'रजा रक्षा रतिः पाल्या काम्या तृष्णा मति क्रियाः ।
ऋद्धिर्माया च रात्रिश्च भ्रामणी मोहनी तथा ।
मनोन्मनी कला ह्येता वामदेवे त्रयोदश ॥' (१।५७-५८)

इति वक्ष्यमाणं सृष्टिप्रधानस्य श्रीवामदेवस्य कलाभेदं सृष्टिप्रधानो-चिताभिधानं गुह्यादिस्थानत्रयोदशप्रकटनपरं यथाक्रमं वामेनेति श्रीवामदेव-वक्त्रेण न्यसेत्, तेन 'वं रजायै' नमः गुह्ये इत्यनुसंधेयम् ॥५१॥

भगवतः पादादिक्षेत्रस्थश्रीसद्योजातकलान्यासमाह—

पादौ हस्तौ तथा नासां शिरश्चैव भुजावथ ॥५२॥
सद्येन कल्पयेद्देवि सर्वमेतद्यथाक्रमम् ।

सद्येन श्रीसद्योजातमन्त्रेण, पादादीन् यथाक्रमं कल्पयेत्, अर्थात् सद्योजातकलाभिरेव, ताश्च वक्ष्यन्ते –

'सिद्धिर्ऋद्धिर्द्युतिर्लक्ष्मीर्मेधा कान्तिः सुधा स्थितिः ।
सद्योजातकलास्त्वेवमष्टौ संपरिकीर्तिताः ॥' (१।५८-५९)

इति श्रीमत्सद्योजातस्य स्थितिपदाप्यायकत्वात् सिद्ध्यादयः कलाः, तेन 'ओं लं' सिद्धये नमः दक्षिणपादे इत्यनुसंधेयम् यद्यपि पूर्ववक्त्रमन्त्रेण कक्षाफामुन्मीलमं कृतम्, तथापि शिरःक्षेत्रनासाक्षेत्रयोः कल्पना पुनरनेन विधिना कर्तव्या, प्रतिपदोक्तत्वात् । एवं पादस्थसद्योजातकलानामपि नासाशिरःक्षेत्रपर्यन्तां व्याप्तमभिदधत् 'सर्वत्र सर्वमस्ति' इति भङ्ग्या शिक्षयति हस्तौ कल्पयेदिति । गृहं संमार्ष्टि इतिवत् प्रधानविधेरस्य संख्याया अविवक्षितत्वात् अष्टादशभुजत्वस्य च वक्ष्यमाणत्वात् 'प्राजापात्या नव ग्रहा भवन्ति' इतिवत् अनागतावेक्षणरूपतन्त्रयुक्त्या दक्षवामपार्श्वगतभुजनवकद्वयकल्पनं द्युतिलक्ष्मीभ्याम्, इति मन्तव्यम् ॥५२॥

कला निर्देष्टुमाह—

तासां नामानि वक्ष्यामि यथावदनुपूर्वशः ॥५३॥

तारा सुतारा तरणी तारयन्ती सुतारणी ।
ईशानस्य कला पञ्च निरञ्जनपदानुगा ॥५४॥
निवृत्तश्च प्रतिष्ठा च विद्या शान्तिस्तथैव च ।
पुरुषस्य कला ह्येताश्चतस्रः परीकिर्तिताः ॥५५॥

तमा मोहा क्षुधा निद्रा मृत्युर्माया भया जरा ।
अघोरस्य कला ह्येता अष्टौ वै वरवर्णिनी ॥५६॥
रजा रक्षा रतिः पाल्या काम्या तृष्णा मतिः क्रिया ।
ऋद्धिर्माया च रात्रिश्च भ्रामिणी मोहनी तथा ॥५७॥

मनोन्मनी कला ह्येता वामदेवे त्रयोदश ।
सिद्धिर्ऋद्धिद्युतिर्लक्ष्मीर्मेधा कान्तिः सुधा स्थितिः ॥५८॥

सद्योजातकलास्त्वेवमष्टौ संपरिकीर्तिताः ।

यथावदिति यथाव्याप्त्यनुसारम्, अनुपूर्वश इति ऊर्ध्वपूर्वदक्षवामपश्चिमवक्त्रक्रमेण, अत्र च—

अपरा सा तनुः स्थूला षट्त्रिंशत्तत्त्वकल्पिता (४।४०७)

इति वक्ष्यमाणनीत्या षट्त्रिंशत्तमस्य तत्त्वस्य शुद्धात्मा उन्मना परम्' इति त्रिभेदत्वात् तत्त्वव्याप्त्यैव भैरवदेहान्यासः कार्यः, षोडशद्वादशदशसंख्यसोमसूर्याग्निकलाव्याप्त्या त्रिधाममयत्वापत्त्यर्थमि त्यन्ये ॥५८॥

अथात्र षट्त्रिंशत्तत्त्वमये देहे सूक्ष्मव्यात्या परव्याप्त्या च मूर्तिन्यासं दर्शयति—

पुनश्च साधको देवि सर्वाङ्गेषु यथाक्रमम् ॥५९॥
नवतत्त्वं त्रितत्त्वं च ध्रुवेण परिकल्पयेत् ।

पुनरिति कलारूपपूर्णदेहन्यासानन्तरं यथाविभागमुक्तेषु सर्वाङ्गेषु —

प्रकृतिः पुरुषश्चैव नियतिः काल एव च ।
माया विद्या तथेशश्च सदाशिवशिवौ तथा ॥ (५।११)

इति वक्ष्यमाणं नवतत्त्वं वामादिशक्तिव्याप्त्या कपालेशादिस्वच्छन्दान्तभैरवव्याप्त्या च, आत्मविद्याशिवाख्यं त्रितत्त्वं शुद्धात्मोन्मनापरतत्त्वव्याप्त्या ध्रुवेणेति सर्वमन्त्रेषु अविचलद्व्याप्तिकेन प्रणवेन 'ओं शिवादिप्रकृत्यन्तनवतत्त्वात्मने नमः इति प्रयोगेण

मूर्ध्नि वक्त्रे च कण्ठे च हृदये (२।५१)

इति वक्ष्यमाणस्थानानुसंधानेन कल्पयेत् ओं शिवतत्त्वाय नमः इत्यादि क्रमेण, शिखान्तभ्रूमध्यहृदयेषु सृष्टिक्रमेण कल्पयेत् ॥

एवमियदन्तेन न्यासेन भगवतो भैरवभट्टारकस्य स्फुटीभावे जाते—

विद्याङ्गानि पुनर्न्यस्य तेषां मन्त्रान् शृणु प्रिये ॥६०॥

परिपूर्णवेदनात्मतया विद्यारूपस्य भगवतो बहुरूपस्याङ्गानि ॥६०॥
तन्मन्त्रानाह—

अघोरेभ्यो समालिख्य थ घोरेभ्यो द्वितीयकम् ।
घोरघोरतरेभ्यश्च तृतीयं परिकल्पयेत् ॥६१॥

सर्वतः शर्व सर्वेभ्यो चतुर्थं परिकल्पयेत् ।
नमस्ते रुद्ररूपेभ्यः पञ्चमं च विधानतः ॥६२॥
ओंकारमुच्चरेत् पूर्वं जुं सश्च तदनन्तरम् ।
नेत्रत्रयं प्रकल्पेत विद्यादेहस्य भामिनि ॥६३॥
विद्याह्यानि विजानीयात्

द्वात्रिंशदक्षरविद्यादेहस्य भगवतोऽवयवरूपाः हृत् शिरः शिखा कवचम् अस्त्रं च, इति पञ्चानां पञ्च मन्त्राः, त्र्यक्षरस्तु ऊर्ध्वदक्षिणवामनेत्रत्रयस्य, अत्र च पदानां प्राग्वत् संहिताकार्यं न कृतम् ॥

अथैषाम्—

नामानि च निबोध मे ।
सर्वात्मा तु ब्रह्मशिरो ज्वालिनी पिङ्गलं तथा ॥६४॥
दुर्भेद्यं पाशुपत्यं च ज्योतीरूपं तथैव च ।

अत्र अनागतावेक्षणतन्त्रयुक्त्या अन्ते नमःस्वाहादिजातिर्देया, तेन 'अघोरेभ्यो सर्वात्मने हृदयाय नमः' इत्यादिप्रयोगः कार्यः, 'दुर्भेद्यं पाशुपत्यम्' इति पदद्वयमस्त्रे योज्यम्, अत्र च 'सर्वज्ञता, तृप्तिः, अनादिबोधः, स्वतन्त्रता, अविलुप्तशक्तिः, अनन्तशक्तिः' इति भगवद्गुणा एते हृदादिनेत्राङ्गतया प्रसृता इत्याम्नायः, कवचन्यासादनन्तरं नेत्रन्यासः, ततोऽस्त्रन्यासः कार्यः, अस्त्रस्य बहिरङ्गत्वात् नेत्रमन्त्रस्य तु विद्यादेहावयवत्वाभावात् पश्चादुद्देशः कृतः एवमासनचिन्मूर्तिब्रह्मकवाटवक्त्रवक्त्रभङ्गीन्यासानन्तरं पञ्चादिकलात्मकषट्त्रिंशत्तत्त्वव्याप्त्या पञ्चभिः प्रघट्टकैरष्टात्रिंशत्कलान्यासमुक्त्वा भैरवनवकव्याप्त्या नवतत्त्वन्यासं शुद्धात्मोन्मनापरतत्त्वव्याप्त्या च त्रितत्त्वन्यासमभिधाय सर्वज्ञतादिधर्मव्याप्त्याङ्गन्यास उक्तः एवमधिष्ठात्र्यधिष्ठेयाशेषविश्वशरीरत्वं भगवतो बहुरूपस्य दर्शितम् ॥

एवं चैतत्सर्वं त्रितयविश्रान्तमपि शक्तित्रयस्फारमयमेवेति दर्शयितुमेतदुपरि शक्तिमन्त्रान्यासार्थमाह—

क्रिया ज्ञानं तथैवेच्छा तासां मन्त्रान्निबोध मे ॥६५॥

विश्वप्रसरस्य शक्तिषूपसंहारेणैव विश्रान्तिरिति क्रिया ज्ञानं चेच्छा चेति प्रक्रमः ॥६५॥

आसां क्रमेण मन्त्रमाह—

चतुर्थस्वरसंयुक्तं हान्तं बिन्दुविभूषितम् ।
क्रियाशक्तिः समाख्याता सर्वसृष्टिप्रकाशिका ॥६६॥

चतुर्थस्वर ईकारः, हान्तं क्षवर्णम् ॥६६॥

शकारस्य तृतीयं तु षष्ठयुक्तं सबिन्दुकम् ।
ज्ञानशक्तिः स्मृता ह्येषा प्रबोधजननी शुभा ॥६७॥

शकारस्य तृतीयं सकारम्, षष्ठेन ऊकारेण संयुक्तम् ॥६७॥

क्षादिं द्विस्वरसंभिन्नं त्रिपञ्चेन तु मूर्छितम् ।
इच्छाशक्तिः समाख्याता भैरवस्यामितात्मिका ॥६८॥

क्षकारस्य आदिवर्णं 'ह', द्विस्वरः 'आकारः', त्रिपञ्चः पञ्चदशः स्वरः 'अंकारः' ॥६८॥

अथासामशेषविश्वस्यौकारिणीनां शक्तीनां यत्र विश्रान्तिः, तस्य भगवतः सर्वात्मतायामपि निष्प्रपञ्चस्य स्वच्छन्दभट्टारकस्य प्रोक्ताशेषमन्त्रोपरि न्यासाय मन्त्रमाह—

हंसाख्यो बिन्दुसंयुक्तः षष्ठस्वरविभेदितः ।
बालेन्दुनादशक्त्यन्तः स्वच्छन्दो निष्कलः स्मृतः ॥६८॥

हंसाख्य इति सर्वसृष्टिसंहारकारित्वेन हानसमादानधर्मा
'प्रकृतिर्विकृतिश्चैव उभे षष्ठेन संयुतः ।' (६।२०)

इति वक्ष्यमाणस्थित्या आदिक्षान्तस्य विश्वस्य प्रकृतिभूतः
'नादाख्यं यत्परं बीजं ।' (कालो० १।५)

इत्यादिना, परं शास्त्रेषु अभिहितानाहतध्वनिरूपः,

'नास्योच्चारयिता कश्चित् प्रतिहन्ता न विद्यते ।
स्वयमुच्चरते देवः…… …………॥' (७।५६)

इति वक्ष्यमाणस्फारः सततोदितानस्तमितस्फुरत्तैकसारोऽनच्कहकारः । षष्ठस्वरेण ऊकारेणोन्मेषात्मकज्ञानशक्तिप्रसरात्मरूपेण अन्तर्विश्वमूर्ध्वाधोरूप-

तया बिभ्रता संवित्स्फारस्य किंचिदूनताभासनेन क्रियाशक्त्यासूत्रणात्मना लिपिक्रमेणापि ऊर्ध्वाधःप्रसृतशक्तिद्वयकोटिप्रकटनोट्टङ्कितशुद्धाशुद्धाशेषविश्व-सर्गसंहारात्मसततप्रसरेण

'षष्ठं च पञ्चमं चैव तस्य देवि गुणाः स्मृताः' (६।१७)

इति वक्ष्यमाणनीत्या नादभट्टारकशक्तिरूपतया गुणभूतेन ऊर्ध्वाधःसंचारितया च चरणरूपेण विभेदितः संयोजित. ।

अथ च पराभेदभूमेः किंचिच्चलितोऽनुग्रा ह्यानुग्रहाय उच्चार्यमन्त्र-रूपतत्पादनेन उन्मुखीभूतः, विन्दुना अशेषविश्वसामरस्यवेदनात्मना, सम्यगिति अभेदापत्त्या युक्तः, वक्ष्यमाणव्याप्तिसतत्त्वा बालेन्दुनादशक्तयो गर्भीकृतनिरोधिकानादनादान्तव्यापिनीसमनोन्मनाप्रमेयसतत्त्वस्फारा अन्ते विश्रान्तौ यस्य, स एव परमेश्वरः स्वच्छन्दो निष्कलः अनाहतध्वनिपरमार्थ-महामन्त्रवीर्यरूपोऽपि शिरोरूपाकारकलया षष्ठेन सकारेण च घोरतरशक्ति-चक्ररूपेण ब्रह्मविष्णुरुद्रान् ब्रह्मप्रकृतिमायाण्डानि जागरस्वप्नसुषुप्तानि प्रमेयप्रमाणप्रमातॄंश्चेति सृष्टिस्थितिसंहारविलयमात्रं भेदमयं जगत् दर्शयति, व्याख्यास्यमानसतत्त्वतया बिन्द्वादिप्रमेयपरिपाट्या च घोररूपतया भेदा-भेदमयेश्वरसदाशिवानाश्रितादीन् शक्त्यण्डवर्तिनः तुर्यपदावस्थितान् क्रमा-त्क्रमं सातिशयान् सर्गस्थितिसंहारशक्त्याक्रान्तानाभासयति, उन्मनाशक्त्या तु अघोररूपशक्तिचक्रपरमार्थतयाशेषतुर्यातीतपदारोहितया स्वात्ममयीकुर्वन् मोचयति, इति भगवतो बहुरूपस्य पदार्थद्वारेण यावान् स्फारो व्याख्यातः सोऽस्य भगवतः सर्व एव अभेदेनैवान्तः स्थितः, इत्ययं भगवान् सदा पञ्च-विधकृत्यकारी अशेषशक्तिचक्रात्मकस्वातन्त्र्यशक्त्यवियुक्तः श्रीस्वच्छन्दो निष्कलः इति, निष्क्रान्ताः अशेषाः कलाः शक्तयो यस्मात्, कलनारूपात् यश्च निष्क्रान्तोऽप्रमेय इत्यर्थः अथ च अकारोकारमकारबिन्द्वादिकलायोगा-च्चतुष्कलशब्दवाच्योऽपि वस्तुतो निष्कलानाहतध्वनिपरमार्थत्वात् निष्कलः । यद्वक्ष्यति—

'सगुणः सकलो ज्ञेयो निर्गुणो निष्कलः शिवः' (६।१७)

इत्यलं मन्त्ररहस्य प्रकटनेन, संप्रदायस्तु मा परिच्छेदीति किंचिदुन्मीलितम् । स्मृत इति भगवता श्रीकण्ठेनेश्वरेण सदाशिवेनापि पारंपर्येण स्वस्वरूपः परमेश्वरानुग्रहादेव उपलब्धः प्रणवः चतुष्कलः 'स्वच्छन्दभैरवाय नमः' इति च प्रयोगः ॥६६॥

पूर्वपदस्य च माहात्म्यं प्रकटयति—

अस्योच्चारणमात्रेण ये युक्ताः सर्वपातकैः ।
शुद्धस्फटिकसंकाशाः पदं गच्छन्त्यनामयम् ॥७०॥

एतत्पूर्वव्याख्यानेनैव गतार्थम् ॥७०॥

अस्यानाहतात्मकस्वस्वरूपस्फाराणि सर्वज्ञतादिरूपाण्यङ्गान्याह—

सान्तं दीर्घस्वरैः षड्भिर्भिन्नजातिविभेदितम् ।
हृच्छिरश्च शिखा वर्म लोचनास्त्रं प्रकल्पयेत् ॥७१॥

सान्तं हवर्णम्, दीर्घस्वराः षट् आ ई ऊ ऐ औ अः, एते च विसर्गमृते बिन्दुयुक्ता इत्यर्थात् जातयः 'नमः स्वाहा' इत्यादिवक्ष्यमाणाः, षडेते क्रमेण हृदयादीनां मन्त्राः ॥७१॥

प्रयोगे इतिकर्तव्यतामाह—

ओंकारो दीपनस्तेषामन्ते जातिं प्रकल्पयेत् ।
नमः स्वाहा तथा वौषट् हुं वषट् फट् क्रमेण तु ॥७२॥

तेन 'ओं हाँ हृदयाय नमः' इत्यादिक्रमेणैषां प्रयोगः ॥७२॥

अस्य साङ्गस्य न्यासे फलमाह—

एष भैरवराजस्तु सर्वकामार्थसाधकः ।

अशेषभोगमोक्षद इत्यर्थः । एवं चाभिदधत् श्रीसकलभट्टारकपरमीकरणरूपस्यापि अस्य भाजनं जनं प्रति पृथगनुष्ठानत्वमहि भवति, इति सूचयति, अतश्च त्रयोदशे पटले भविष्यति, अत्र च वक्त्रमन्त्राः पूर्वोक्ता एव, इति तेषां सकलभट्टारकतदङ्गवत्पदवाच्यत्वाभावात् वीजाक्षररूपत्वमेवास्ति, इति निष्कलभट्टारकतदङ्गवत् न पुनर्वक्त्रमन्त्रान्तरैर्निष्कलीकरणं कृतम् शाक्तस्फारत्वादस्य नयस्य ॥

भगवत्या मन्त्रमाह--

हरईम अकारश्च ङादिरोस्वरसंयुतः ॥७३॥
यान्त एकारसंयुक्तः षादिर्लान्तविभेदितः ।
लादिस्त्रिस्वरसंभिन्नो हंसो बिन्दुसमायुतः ॥७४॥
षष्ठस्वरसमोपेतः फट्कारान्तविकल्पितः ।
अघोरेश्वरोति विख्याता स्वच्छन्दोस्सङ्गगामिनी ॥७५॥

हकाररेफावनच्कौ, अकारस्योच्चारणत्वात् तेन हश्च रश्च ईश्च मश्च तेन 'हरईमो' मिलिताः एकं बीजम्, अकारः अ, ङादिः ङकारस्यादिः घः, ओस्वरेण युक्तः घो, यान्तः रेफः, एकारेण युक्तः रे, षादिः शकार, लान्तेन वकारेण विमेदितः मिश्रितः श्व, लस्यादिः रेफः, त्रिस्वरेण इकारेण मिश्रितः रि, हंस इत्यादिना चतुष्कलस्वरूपं योजनन् सकलनिष्कलैक्यस्फार-सारैषा देवीति प्रथयति, हंसः हकार, अनच्, बिन्दुसमायुतः षष्ठस्वरेण ऊकारेण समोपेतः हूं, फट्कारेण अन्ते विशेषेण कल्पितः नित्यमेव क्रूरजाति-युक्तः, अत एव अशेषभेददाहात्मानुग्रहैकप्रवणः, अत एव व्याख्यातस्वरू पा-घोराख्यशक्तिचक्रस्वामिनी विशेषेण ख्यातास्फुरत्तासारतया द्योतमाना, श्रीमतः स्वच्छन्दभैरवस्योत्सङ्गप्रसरसारा तत्प्रकाशप्रवणा च इत्यर्थः ॥७५॥

अथ च आकृतिमतो भगवतोऽङ्कगताया देव्या अङ्गवक्त्राणि योज-यितुमाह—

भैरवाङ्गसमोपेता वक्त्रपञ्चकसंयुता ।

भैरवशब्देन समनन्तरप्रतिपादितो मुख्यो निष्कल एवात्र विवक्षितः, तेन निष्कलाङ्गान्येव तदविभेदसाराया देव्याः अङ्गानि । 'वक्त्रपञ्चक-संयुता' इति सामान्योक्त्या सकलनिष्कलमन्त्रैकरूपायाः श्रीदेव्याः पूर्वोक्त-बीजकल्प्यानि सकलनिष्कलभट्टारकवदविभक्तान्येव वक्त्राणि ॥

अथ श्रीस्वच्छन्दभैरवरश्मिपुञ्जात्मनो भैरवाष्टकस्य मन्त्रानाह—

हान्तो यादिर्यकारान्तो रादिः षष्ठकलान्वितः ॥७६॥
बिन्दुनादसमायोगात् कपालेशः प्रकीर्तितः ।

हस्यान्तः क्षकारः अनच् क्ष्, यस्यादिः म्, थकारस्यान्तः र्, रस्यादिः य्, तेन 'क्ष्म्र्य्' इति क्रमेण मिश्रीकृत्य षष्ठकलया ऊकारेणान्वितः बिन्दुनादाभ्यामर्धचन्द्रादेरपि स्वीकारात् बिन्दूर्धचन्द्रादिपरिपाट्याः सम्यगिति वक्ष्यमाणव्याख्यानुसारम्, आ समन्तात् परतत्त्वैक्यापत्तिरूपात् योगात्, अयं कपालेश उक्तः, मन्त्राणां मन्त्रदेवतैकात्मत्वात् एवमन्यत्र ॥

सान्तो बिन्दुरधो ह्यग्निः षष्ठयुक्तस्तु कीर्तितः ॥७७॥
शिखिवाहनसंज्ञस्तु ज्ञातव्योऽसौ वरानने ।

सान्तः ह्, तस्याधोऽग्निः र् षष्ठः ऊकारः, बिन्दुनादाद्युपलक्षण-परः ॥ ७७ ॥

संहारः षष्ठसंयुक्तः षडन्तेन समन्वितः ॥७८॥
क्रोधराजः समाख्यातः

संहारः क्ष्, षष्ठेन स्वरेण ऊकारेण संयुक्तः, तथा षण्णां वर्गाणां अकचटतपवर्गाणामन्तेन मकारेण अनुस्वारोच्चारणात्मना युक्तः, अर्थात् बिन्द्वादियुक्तोऽपि ॥

तथान्यं कथयामि ते ।
ञादिः षष्ठस्वरोपेतस्त्रिपदेन समायुतः ॥७९॥
बिन्दुमस्तकसंभिन्नो विकरालो वरानने ।

ञादिः झ्, त्रिपदेन इच्छाज्ञानक्रियाव्याप्तिसारेण, अन्यत्र त्रिशूल-शब्दाभिहितेन औमारेण समायुक्तः, षष्ठेन च झकारेणोपेतः, औकारानु-सरणन्यायेनोच्चारतायुक्तः ॥ ७९ ॥

सान्तः शाद्येन संयुक्तः षष्ठस्वरयुतोऽप्यधः ॥८०॥
चतुर्दशस्वराक्रान्तो बिन्दुनादान्तभूषितः ।
मन्मथः कथितो ह्येष सुरसिद्धनमस्कृतः ॥८१॥
येनेदं तु जितं सर्वं जगत्स्थावरजङ्गमम् ।

सान्तः ह्, शकारस्य तालव्यस्य आद्यः व्, षष्ठः ऊ, चतुर्दशस्वरः औ, एतदक्षरसंघातात्मायं मन्त्रो बिन्द्वादियुक्तः ॥ ८१ ॥

हररादिसमायुक्तः ऊकाराधः सबिन्दुकः ॥८२॥
मेघनादेश्वरो ह्येष भैरवः संप्रकीर्तितः ।

अकारस्य उच्चारणार्थत्वात् ह्-र्, रस्यादिना अनच्केन यकारेण युक्तः सबिन्दुकः ॥ ८२ ।

क्षसान्तर्बिन्दुसंयुक्तः पञ्चमेन विभेदितः ॥८३॥
सोमेश्वरः समाख्यातो जन्ममृत्युविनाशनः ।

क्षसयोः क्षकारसकारयोः, अन्तर्मध्ये 'ह्' पञ्चमेन उकारेण विभेदित उच्चार्यमन्त्ररूपतामापादितः।'

क्षादिर्यान्तसमोपेतो ह्रान्तेनाधोनियोजितः ॥८४॥
भान्तो वादिर्लकारान्तो राद्योऽधो रुद्रयोजितः ।
बिन्द्वर्धेन्दुसमायुक्तो नादशक्तिसमन्वितः ॥८५॥
विद्याराजः समाख्यातो महापातकनाशनः ।

क्षादिः ह्, यस्यान्तः र्, हस्यान्तः क्ष्, भस्यान्तः म्, वस्यादिः ल्, लकारस्यान्तः व्, रस्यादिभूतं बीजं य्, अधो रुद्रः ऊकारः, एवमूकारान्ता अष्टौ वर्णाः, गृहीतनादादिव्याप्तिको बिन्दुर्नवम इत्ययं नवात्मा, महापातकनाशन इति पूर्ववत् । एते च नवमे पटले वक्ष्यमाणतत्तत्सिद्धिसाधकत्वादेवमभिधाना उक्ताः ॥ ८५ ॥

एवं च

भैरवाष्टकमेतद्धि परिवारः प्रकीर्तितः ॥८६॥

संसार्यनुग्रहाय गृहीताकारस्य परभैरवस्य रश्मिपुञ्जस्थानीयमेतद्भैरवाष्टकं द्वितीयपटले प्रदर्शयिष्यमाणध्यानस्वरूपम् ॥ ८६ ॥

जगदधिष्ठातॄणां लोकपालानां भगवच्छक्तिरूपकपालेशाद्यधिष्ठितानां तद्व्याप्त्यैव लोकोत्तरया पूज्यानां मन्त्रान् वक्तुमाह—

लोकपालांस्तथोद्धृत्य स्वनामप्रणवादिकान् ।
नमस्कारावमानांश्च सास्त्रान्संपरिकल्पयेत् ॥८७॥

स्वनाम्ना प्रणव आदिर्येषामिति विग्रहः, सास्त्रानित्यनेन अस्त्राणि न पृथगावरणतया कल्पयेत्, अपि तु 'ओ इन्द्राय वज्रहस्ताय नमः' इत्वादि क्रमेण अग्नियमनिर्ऋतिवरुणवायुकुबेरेशानान् शक्तिदण्डखड्गपाशध्वजगदात्रिशूलहस्तांश्चतुर्थ्यन्तान् प्रणवादिनमस्कारान्तान् एकावरणतया कल्पयेत्, इति शिक्षयति ।

'भैरवाष्टकरूपेण ध्यातव्या' (२।१२५)

इति वक्ष्यमाणत्वादिह लोकपालाष्टकमेव, न त्वन्यत्रेव तद्दशकम् । अस्मिन् मन्त्रपटले श्मशानाधिपमन्त्रा भाविनोऽपि नोद्धृताः तेषां यद्येकविषयत्वात् 'उद्धृत्य परिकल्पयेत्' इति वाचोयुक्त्या समनन्तरपटलभाविनो न्यासपूजाविधेः प्रकारमुपक्षिपन् पाटलिकीं संगतिं दर्शयति भगवान् ॥ ८७ ॥

'अध्वानं सकलं निमज्ज्य सुसितां चिन्मूर्तिमुन्मज्ज्य तां
कृत्वा भैरवरूपिणीं तदखिलं रूपं त्रितत्त्वात्मकम् ।
शक्तित्रैधमयं विलाप्य परमे स्वच्छन्दधाम्नि स्फुर-
त्तच्छक्तिप्रथितं तदात्म निखिलं लोकेश्वरान्तं नुमः ॥'
'गतानुगतिकप्रोक्तव्याख्याभेदतमोऽपनुत् ।
पराभेदरसोल्लासी स्वच्छन्दोद्द्योत उत्थितः ॥'

इति स्वच्छन्दतन्त्रे

श्रीमहामाहेश्वराचार्यवर्यश्रीक्षेमराजविरचितोद्द्योताख्य-

व्याख्योपेते मन्त्रोद्धारप्रकाशनं नाम

प्रथमः पटलः ॥ १ ॥

द्वितीयः पटलः

विगलति भवदौर्गत्यं मोक्षश्रीः श्रयति हृत्कजं कचति ।
प्रसरति परमानन्दो यत्र तदीशार्चनं जयति ॥

प्रश्नोद्देशक्रमेण प्राप्तावसरं कालस्वरूपं काम्यवन्नित्यविधौ प्रायेण अनुपयोगात् बहुवक्तव्यत्वाच्च अनभिधाय, यत्रैषां मन्त्राणां साधकतमत्वं येन च मन्त्राः फलदा भवन्ति, तमर्थसंगत्या प्राप्तप्रतिपादनावकाशमर्चाजपहोमादिविधिं प्रकाशयितुं द्वितीयपटलारम्भः । तत्र 'नित्यपूर्वं नैमित्तिकम्' इति नित्यमेव तावद्विधिं प्रदर्शयितुं श्रीभैरव उवाच—

अथार्चनं प्रवक्ष्यामि यथावदनुपूर्वशः ।

अथेति मन्त्रप्रकाशानन्तरं, स्नानयासावाहनादेर्जपहोमादेश्च अर्चनाङ्गभूतत्वादङ्गिभूतमर्चनमेव, प्रकर्षेण इति वैतत्येन वक्ष्यामि । यथावदिति गर्भीकृतव्याप्तिसतत्त्वतया, अनुपूर्वश स्नानशौचादिक्रमेण । यत इयमर्चनक्रिया पाकक्रियावत् अयेकावयवक्रियारम्भपूर्तिः, अतः स्नानाद्यवयवक्रियाभिधातपुरःसरं तत्प्रतिपादनम्, न च अकृतशुद्धेः स्नानाधिकार इति शौचपुरःसरमेव स्नानं दर्शयति—

शौचं कृत्वा ततः स्नानं कर्तव्यं तु मृदम्भसा ॥१॥
शुचिस्थानान्मृदं पूर्वं गृहीत्वास्त्रेण शोधिताम् ।
प्रक्षाल्य जलतीरं तु स्थापयेत्तां वरानने ॥२॥

अस्त्रेणेति 'स्थूले कर्मणि निष्कलस्य अनधिकरात्' सकलेन तृणकेशपर्णकाष्ठादि, अस्त्रमन्त्रेण चोद्धरेत् ॥२॥

भागद्वयं ततोऽस्त्रेण कर्तव्यं तु कृशोदरि ।

तत इति शोधितायाः मृदः ॥

भागार्धेन कटिं चोरू जङ्घे पादौ तथैव च ॥३॥
क्षालयेत यथान्यायं त्रिरन्तरितयोगतः ।

भागार्धेनेति एकभागस्य संबन्धिना अर्धेन श्रीपूर्वाद्युक्तनीत्या संहारक्रमेण आदौ पादौ प्रक्षाल्य जङ्घोरुकटि क्षालयेत् इति यथान्यायशब्दार्थः, त्रीन् वारांस्त्रिः मध्ये भवता हस्तक्षालनेन अन्तरितो यो योगः क्षालनसंबन्धस्ततः पादौ प्रक्षाल्य हस्तौ क्षालयेत् ततो जङ्घे ततो हस्तौ तत ऊरू ततो हस्तौ ततः कटिं ततोऽपि हस्तौ इति मध्ये त्रिरेव हस्तक्षालनम् इति 'त्रिरन्तरितयोगतः' शब्दस्यार्थः, उक्तं च **श्रीमृत्युजिति**—

'पादौ जङ्घे करौ चोरू मृस्नाभिस्तिसृभिः क्रमात् ।
त्रिरन्तरितयोगेन सप्तभिः शोधयेत् पुनः ॥ ३ ॥

इति । पुनः पश्चात् सप्तभिर्हस्तौ क्षालयेदित्यर्थः । न तु तिसृभिर्हस्ताविति व्याख्येयम्, द्रव्याभ्यावृत्तौ सुजभावात् । यत्तु तिसृभिर्मात्राभिमृद्भागैरन्तरितो यतो योग इति केनचित्पठित्वा व्याख्यातम्, तदत्यन्तासमन्वितत्वादुपेक्ष्यम् ॥ ३ ॥

अवशिष्टं तु भागार्धं गृहीत्वास्त्राभिमन्त्रितम् ॥४॥
सप्तवारान्वरारोहे अर्कदीप्तं तु कारयेत् ।

अवशिष्टमिति एकस्माद्भागात्, अर्कदीप्तमिति कराभ्यां मृदित्वा, सूर्यस्पृष्टं तददर्शने प्राणस्पृष्टं वा कृत्वा ॥ ४ ॥

तेनैव—

शिरःप्रभृति पादान्तमागुण्ठ्य स्नानमाचरेत् ॥५॥

शुद्धतत्त्वसृष्टि व्याप्त्यैतत् । तदागुण्ठ्येति लिप्त्वा ॥ ५ ॥

उत्तीर्योदकमध्यात्तु उपस्पृश्य यथाक्रमम् ।
संध्याया वन्दनं कुर्याच्छास्त्रदृष्टेन कर्मणा ॥६॥

उपस्पर्शतमाचमनम्, तत्र चान्त. सूक्ष्मदेहशुद्ध्यर्थं प्रणवेन त्रिरपां पानम्, द्विःसृक्विमार्जनम्, चक्षुरादिद्वारस्पर्शनं चेति यथाक्रमशब्दार्थः, शास्त्रदृष्टेन वेदादिसिद्धेन ॥ ६ ।

मलस्नानं भवेदेवं विधिस्नानं प्रचक्ष्महे।
भागार्धं यत्स्थितं पूर्वं ततो भागत्रयं कुरु ॥७॥
वामहस्तस्य पूर्वे च दक्षिणे चोत्तरे क्रमात्।

मलस्नानं चित्तदेहाशुद्धिः भागार्धमिति, एकस्य भागस्य समस्तस्य उपयुक्तत्वाद्द्वितीयभागः सकलः मृदपेक्षया त्वर्धम् ॥ ७ ॥

पूर्वभागं ततोऽस्त्रेण सप्तवारांस्तुमन्त्रयेत् ॥८॥
दक्षिणस्थं तथा वक्त्रैरभिमन्त्र्य वरानने।
उत्तरं चाभिमन्त्र्यैवं देवेनाङ्गयुतेन च ॥९॥

पूर्वभागं गृहीत्वा तु दशदिक्षु विनिक्षिपेत्।
उत्तरेण तु भागेन जलं चैवाभिमन्त्रयेत् ॥१०॥

बाहुमात्रप्रमाणेन भैरवेशमनुस्मरन्।
आत्मानं गुण्ठयित्वा तु दक्षभागेन सुव्रते ॥११॥
स्नायाद्राजोपचारेण सुगन्धामलकादिभिः।

अत्रैव भैरवभट्टारको यथादर्शनं सकलो निष्कलो वा, एवमेव अङ्गान्यपि ज्ञेयम्। बाहुमात्रप्रमाणेनेति स्वाभिमुखं शिवतीर्थं हस्तमात्रं प्रकल्पयेदित्यर्थः। राजोपचारेणेति गृहस्थानां सति संभवे सुगन्धामलकाद्यभ्यङ्गस्नानं विहितमेव, न तु नैष्ठिकवन्निषिद्धमित्यर्थः ॥ ११ ॥

प्राणायामाभिषेकौ तु कर्तव्यौ भैरवेण च ॥१२॥

प्राणायामं कुम्भकवृत्त्यावस्थानम्, अभिषेकः उन्मज्जनादनन्तरं कलशमुद्रया शिरसि जलपातः ॥ १२ ॥

उत्तीर्योदकमध्यात्तु तद्वासः परिवर्तयेत्।
उपस्पृश्य कृतन्यासो मूलमन्त्रमनुस्मरन् ॥१३॥
तीर्थं संगृह्य देवेशि आत्मनोऽग्रे निधापयेत्।

न्यासकरणं संक्षेपेण मन्त्रैकादशिकया, तीर्थं संगृह्येति अङ्कुशमुद्रया आकृष्य ॥ १३ ॥

तत्रस्थो वन्दयेत् संध्यां मार्जनादिरनुक्रमात् ॥१४॥
अघमर्षः प्रकर्तव्य उपस्थानं दिवाकरे ।
जपं कृत्वा निवेद्यैवं प्रणम्य च वरानने ॥१५॥
मन्त्राणां तर्पणं कृत्वा देवानामृषिभिः सह ।
सर्वेषां भूतसंघानां ततस्तीर्थं तु संहरेत् ॥१६॥
मूलमन्त्रमनुस्मृत्य

हृत्तालुद्वादशान्तविश्रान्तिपरया मूलमन्त्रपरामर्शात् संध्यावन्दनमिदं परमेश्वरमन्त्रक्रमेण, पूर्वं तु वैदिकैर्मन्त्रैः तच्चापि अनिवृत्तप्राग्जातिवासनैः कार्यम्, इतरैस्तु विधिस्नानानन्तरमेव शैवैर्मन्त्रैः, यथोक्तम्—

'ब्राह्मीं कुर्यान्न वा कुर्याच्छैवीमेव नियोगतः ।'

इति । एवं भस्मस्नानेऽपि द्विः संध्यावन्दनं योज्यम्, वामकरविप्रुषां दक्षकरशाखाभिरस्त्रेणाधःक्षेपः, वक्त्राङ्गमन्त्रैस्तु उपरि, इति मार्जनम्, आदिशब्दान्मन्त्रसंहिताजप्तदक्षकरवारिणः शिरसि क्षेपः तच्चैतदनुक्रमात्, अनुक्रमश्च अघमर्षणादनन्तरं मार्जनादि, तत उपस्थानमिति, ईदृशस्तत्रागमर्षो दक्षिणपाणिस्थं जलं सितरूपं प्रणवतेजसोद्दीपितं दक्षनासापुटेनैव अन्तरनुप्रविष्टं वाङ्मनःकायमलक्षालनात् कृष्णरूपं वामनासापुटात् बहिर्निःसृतं ध्यात्वाधः क्षिपेत्, इति, ईदृशमुपस्थानमिति परमेश्वरशक्त्यात्मसूर्यसंमुखं मन्त्रसंहितया अञ्जलिक्षेपः, ततो यथाशक्ति जपं कृत्वा हृत्स्थाय श्रीभगवते पूरकेण निवेद्य शरीरादिप्रह्वीभावोन्मग्नपरस्वरूपानुप्रवेशरूपं प्रणामम्, स्वकल्पमन्त्राणां जलेन तर्पणं कृत्वा 'देवेभ्यो नमः' इत्यादिक्रमेण देवर्षिभूतसंघानां तर्पणं कृत्वा, मूलमन्त्रमनुस्मृत्य, संहारमुद्रया शिवतीर्थं संहरेत् स्वात्मनि अनुप्रविष्टं ध्यायेत् ॥१६॥

एवं जलस्नानमुक्त्वा भस्मस्नानं नैष्ठिकस्यावश्यकम्, गृहस्थस्य कामचाराद्वक्तुमाह—

भस्मस्नानमतः परम् ।

उच्यते इति शेषः, तन्त्रान्तरोक्तविधिसाधितम् अस्त्राभिमन्त्रितं भस्म कृत्वा, आ काद्धृदयावधि, आ पादाच्छिरोन्तं हृदन्तं वा संहारक्रमेण भस्म कृत्वा इति समुद्धूल्य ॥

मलस्नानं प्रकर्तव्यं भावितेनान्तरात्मना ॥१७॥

प्रसन्नेन चित्तेन ॥ १७ ॥

परिवृत्त्य ततो वासः संध्या प्रागिव वन्दयेत् ।

जलेनैव ॥

विधिस्नानं ततः कुर्याद् भैरवेशमनुस्मरन् ॥१८॥

भैरवव्याप्तिमात्मनो विभावयन् ॥ १८ ॥

शिरो वक्त्रं च हृद्गुह्यं पादान्तं च विभागशः ।
भैरवेणाङ्गयुक्तेन समुद्धूल्यं यथाक्रमम् ॥१९॥

साङ्गेन मूलेन भस्म अभिमन्त्र्य शुद्धतत्त्वसृष्ट्यर्थं मूर्धादिपादान्तमुद्धूलयेत् ॥ १९ ॥

ततोऽपि—

अभिषेकं प्रकुर्वीत परं तत्त्वमनुस्मरन् ।

निष्कलवीर्यमाविशन् ॥

संध्याया वन्दनं कुर्याद्यथापूर्वं वरानने ॥२०॥

यथापूर्वमिति जलेनैव अघमर्षणादिकं कार्यमित्यर्थः अभिषेको मूलमन्त्रेण कलशमुद्रया भस्ममुष्टेः शिरसि क्षेपः, एवं भस्मस्नानं गृहस्थेनापि कामतः कार्यम्, तन्त्रान्तरनिर्दिष्टनीत्या त्रिपुण्ड्रकमात्रमेव वा गृहस्थेन कार्यम् ॥ २० ॥

एवं स्नानं विधाय अर्चाविधिं कर्तुमुपक्रमेत—

ततो यागगृहं गत्वा हस्तौ पादौ च क्षालयेत् ।

रथ्याधूलिलिप्तौ पादौ तत्स्पर्शाद्धस्तावपि क्षालयेत् ॥

शिखां बद्ध्वा शिखां स्मृत्वा उपस्पृश्य विधानतः ॥२१॥

उपस्पृश्य आचम्य, विधानतः एकाग्रचित्ततया, शिखां शिखामन्त्रं स्मृत्वा, शिखां मध्यशक्तिम्, बद्ध्वा अवष्टभ्य ॥ २१ ॥

बाह्यपूजाधिकृतत्वमात्मनि जनयितुं संक्षेपेण मन्त्रैकादशिकास्मरणेन—

सकलीकृतदेहस्तु पुष्पमादाय सुव्रते ।
दिङ्भ्रातृभ्यो नमस्कृत्य द्वारं संप्रोक्ष्य यत्नतः ॥२२॥
शिवाम्भसास्त्रमन्त्रेण विघ्नप्रोच्चाटनं भवेत् ।

शिवाम्भसा इति वदन् सामान्यार्घपात्रमादौ बाह्यपूजार्थं कुर्वीतेति सूचयति ॥ २२ ॥

ततः—

द्वारशाखोर्ध्वतो देवं गणेशं च श्रियं तथा ॥२३॥
संपूज्य गन्धपुष्पाद्यैर्धूपादिभिरनुक्रमाद् ।
अर्घ्यपाद्योपहारैश्च

'ओं दिङ्भ्रातृभ्यो नमः' इति कुसुमं क्षिप्त्वा, आयतने यागगृहे बाह्ये वा व्योम्नि प्रभामण्डलवृषशूलसूर्यान् बाह्यपरिवारनिष्ठोर्ध्वडम्भरे द्वारस्य दक्षिणाद्वामान्तं गणेशं तथाशब्दसमुच्चितां वागीशीं श्रियं च प्रणवादिनमःशब्दान्तेन मन्त्रेण पूजयेदिति क्रमः ॥ २३ ॥

ततो द्वारस्य चोत्तरे ॥२४॥
नन्दिगङ्गे समभ्यर्च्य महाकालं च दक्षिणे ।
कालिन्दीं चैव सम्पूज्य यथानुक्रमयोगतः ॥२५॥

कालिन्दीं यमुनाम्, **दक्षिणस्रोतसः** संहारप्राधान्यान्महाकालयमुने द्वारस्य दक्षिणे एव पूज्ये, वामे तु नन्दिगङ्गे, शाक्तस्फारसारत्वाच्चास्य नयस्य गुप्ते स्वगृहादौ द्वारवामात् प्रभृति वामकरेण पूजयेदिति गुरवः, एष च द्वारदेवताक्रमः **श्रीत्रिशिरोभैरवस्रोतसि** दृश्यते, केवलं तत्र द्वारवामदक्षिणयोर्दिण्डि-महोदरावधिकौ पूज्यावुक्तौ, **वामस्रोतोभेदे** पुनः सृष्टिप्रधाने द्वारस्य दक्षिणे नन्दि-गङ्गा-मेषास्याः, वामे तु महाकाल-यमुना-च्छागलास्या इति क्रमः, **सिद्धान्तेषु** तु द्वारस्य दक्षिणे नन्दि-गङ्गे वामे तु महाकाल-यमुने, **प्रायश्च सिद्धान्तप्रियो लोकः सिद्धान्तक्रममाश्रितः,** इतीह **लोकोत्तरे भैरवस्रोतसि** भगवदुक्त एव क्रमः आश्रयितव्यो न त्वन्यथा भ्रमितव्यम्, अतो ये **सिद्धान्तदर्शनभ्रान्ता** भगवदुक्तं पूर्वपश्चिमद्वारापेक्षया विपर्यासयन्ति, ते विपर्यस्ता एव ॥२५॥

ततः—

भैरवास्त्रं समुच्चार्य पुष्पं संगृह्य भावतिः ।
सप्ताभिमन्त्रितं कृत्वा ज्वलदग्निशिखाकुलम् ॥२६॥
नाराचास्त्रप्रयोगेण प्रविशेद् गृहमध्यतः ।

अत्रादो देहल्यर्चां कुर्यात्, भैरवास्त्रमतिदीप्तं निष्कलास्त्रमेव, ज्वलदित्यादि ध्यानम्, नाराचास्त्रप्रयोगस्तर्जनीमध्यमाङ्गुष्ठप्रेरणात्, गृहमध्यत इति, प्रक्षिपन्निति शेषः ॥ २६ ॥

निवारितं तेन सर्वं विघ्नजालमनन्तकम् ॥२७॥

भावयेदिति शेषः ॥ २७ ॥

ततो रक्षार्थमस्त्रं च दशदिक्षु विनिक्षिपेत् ।

विघ्नानां प्रवेशावकाशनाशाय ॥

अथ—

मध्ये संपूज्य ब्रह्माणं गन्धैः पुष्पैरनुक्रमात् ॥२८॥
दक्षिणायां ततो मूर्तौ प्रणवासनसंस्थितः ।
उपविश्यासनं बद्ध्वा स्वभ्यस्तं वै पुरःस्थितम् ॥२९॥

ब्रह्माणं वास्त्वधिष्ठातारम् । दक्षिणायाम् इति दक्षिणस्रोतोऽनुष्ठानप्रवृत्तौ, समस्तभेदप्लोषकाघोरवक्त्रसंमुखत्वस्यानुरूप्यात्; मन्त्रोद्धारप्रारम्भे त्वनुष्ठानस्याप्रवृत्तेः 'प्राङ्मुखोदङ्मुखो वा' इत्युक्तम् । प्रणवासने वर्णितव्याप्तिके सम्यग्भैरवाभेदाभिमाने स्थितः ॥ २९ ॥

करन्यासमाह—

गन्धदिग्धौ करौ कृत्वा अस्त्रेण परिशोधयेत् ।
कवचेनावगुण्ठ्यैतौ प्लावयेदमृतेन तु ॥३०॥
परां शक्तिं तु संक्षोभ्य

गन्धेन अलक्तकादिना, दिग्धौ लिप्तौ, परिशोधयेत् क्रियाशक्तित्वं प्रापयेत् । परां द्वादशान्तस्थशिवचन्द्रचन्द्रिकारूपां शक्तिं संक्षोभ्यानङ्गधेनवीयुक्त्या प्रसरोन्मुखीं कृत्वा, 'अमृतेन' परानन्दरसेन, 'प्लावयेत्' आच्छुरयेत् । पश्चात् तथारूपतारक्षार्थं कवचमन्त्रेणावगुण्ठ्य ॥ ३० ॥

ततोऽनन्तं प्रकल्पयेत् ।

करशुद्धिविधाने तत्तन्मन्त्रैर्न्यास उचित एव कार्यः । तेनोपबाहुदण्डाग्रग्रन्थिप्रान्तवर्तिविद्यापदोर्ध्वावस्थितानाश्रितप्रेतान्तमनन्तासनं प्राङ्निर्णीततत्त्वं प्रणवेन कल्पयेत् ॥

मूर्तिं न्यस्यानुवक्त्राणि स्वच्छन्दं परिकल्पयेत् ॥३१॥

मूर्तिब्रह्मकवाटकलावक्त्रन्यासादि प्रागेव निर्णीतम् । अतो यत्र यत्रायाति तत्र तत्र प्रथमपटलनिर्णीतव्याप्तिरनुसर्तव्या 'स्वच्छन्दम्' इति सकलम् ॥ ३१ ॥

अनन्तरम्—

अङ्गुष्ठादिकनिष्ठान्तं विन्यसेदङ्गपञ्चकम् ।

उभयोरपि करयोः पद्ममुद्रामाविष्टयोः । 'अस्त्रं नखेषु' इति गुरवः ॥

ततः —

भैरवानपि संकल्प्य परं तत्त्वमनुस्मरेत् ॥३२॥

'भैरवान्' कपालीशादीनष्टौ वामतर्जनीतो दक्षिणतर्जन्यन्तम्, परं तत्त्वं निष्कलनाथं साङ्गं सदेवीकम्, अर्थात् स्फारिङ्गुष्ठयोः, अनुस्मरेत् विश्वानुगामित्वेनानुसंदध्यात् । यद्यपि करयोः पिण्डावयवत्वात् भाविपिण्डन्यासेनैव न्यासः संपद्यदे, तथापि सर्वकर्मप्रवृत्तिप्रथमाङ्कुरकल्पयोर्भगवत्क्रियाशक्तिमयत्वप्रत्यभिज्ञानायतयौर्देहन्यासात् पूर्वं सर्वागमेषु न्यास उच्यमान उपपन्न एव । शिवहस्तस्त्वन्यादृगेव विशिष्टविधिविषयः ॥ ३२ ॥

एवं करन्यासमुक्त्वा देहन्यासे इतिकर्तव्यतामाह—

प्राणायामत्रयं कार्यं देहसंशुद्धिकारणम् ।

इह चैतन्यविश्लेषपूर्विकां देहदाहोत्प्लावनाप्यायनादिमयीं शुद्धिमाधाय भैरवात्मतापत्तिः कार्या । चैतन्यस्य च—

"प्राक्संवित्प्राणे परिणता ।'[1]

इति नीत्या प्राणेनैव विशोधनं कार्यम् । न चाशुद्धेन तेन तत्कर्तुं शक्यमिति प्रथमं तच्छुद्धिः । देहस्याशुद्धस्य पुर्यष्टकरूपस्य संशुद्धिकारणम् ॥

१. भट्टकल्लटस्य प्रसिद्धं वचनम् ।

तत्प्रदर्शयंश्चैतन्यविश्लेषं वक्तुमाह—

अशुद्धः स्वमरुद्रेच्यः शुद्धेनापूरयेत्तनुम् ।।३३।।
कुम्भकं रेचकं कृत्वा व्योम्न्यात्मानं निधापयेत् ।

'अशुद्ध' इति बहिःप्रसरे हेवाकचाञ्चल्यप्राबल्योल्लासितविकल्पतया जीवस्य पाशत्वेन स्थितः। 'रेच्य' इति स्वरसवाहप्रशमनेन भोगद्वादशान्ते निवेश्यः। 'शुद्धेन' इति द्वादशान्तविश्रान्तिलब्धशाक्तबलेन, आ समन्तात् स्वरसवाहनिरोधेन पूरयेत् तच्छाक्तस्पर्शेनाच्छुरयेत्। आपूर्यैवं कंचित्कालं प्रवेशनिरोधेन बललाभाय हृदयान्मूलपीठान्तं पूर्णकुम्भवदचलस्थित्या स्थापयेत्। ततः कुम्भकप्रकर्षलब्धशाक्तबलेन तेन वक्ष्यमाणदिव्यकरणानुसरणयुक्तयोर्ध्वरेचकं कृत्वा प्राणाश्रयमात्मानं व्योम्नि मुण्डान्ते विश्रामयेत्। एष च प्रणवोच्चारसगर्भः प्राणायामः कार्यः। अत्र च रेचनादौ व्योमविश्रान्त्यन्ते पञ्चके धारणापञ्चकं मनसा सूक्ष्मभुजयानुसंधायाविकल्पविश्रान्त्या मनोहङ्कारबुद्धीः परतत्त्वे विलाप्य विश्राम्येत्। एवं सूक्ष्मशरीरशुद्धिर्भवति, इति गुरवः ।। ३३ ।।

किंरूपमात्मानमित्याह—

खद्योतकनिभं सूक्ष्मं करणैस्तु विवर्जितम् ।।३४।।
कार्येणैव विहीनं च मायाप्रध्वस्तगोचरम् ।

खद्योतकनिभं प्रकाशमात्रतत्त्वम्, सूक्ष्मम् अवेद्यम्, करणैः त्रयोदशभिरिन्द्रियैः कार्येण स्थूलसूक्ष्मात्मना दशविधेन, प्रध्वस्तो मायागोचरः कालनियत्यादिर्यस्य, इति व्यत्ययः पूर्वनिपातस्य ।। ३४ ।।

एवं शुद्धतामापादितोऽपि—

शिवीकार्यस्तथात्मैव यथा भवति तच्छृणु ।।३५।।

'शिवो भूत्वा शिवं यजेत् ।'

इति न्यायात्। श्रृणु अन्तः परामृश ।। ३५ ।।

परं भावं तु संगृह्य

'अहमेव परो हंसः शिवः परमकारणम्' (४।३९९)

इत्यादौ वक्ष्यमाणं परं स्वभावं सम्यगिति अविकल्पावष्टम्भेन, गृहीत्वा स्वीकृत्य ॥

अत एव सृष्टिसंहारकारिपरमेशस्वरूपसमावेशात्—

ततः शोष्या तनु प्रिये ।

सूक्ष्मायाः शुद्धत्वात् स्थूला ॥

कथम्—

संहारेण यभिन्नेन रुद्रबीजयुतेन च ॥ ३६ ॥

संहारः क्ष् ईशानस्फाररूपो यभिन्नो य इत्यनेन युक्तः, रुद्रबीजम् ऊकारः, बिन्दुरर्थाक्षिप्तः । एवमन्यत्र । अत्र देहे पार्थिवीं धारणां कृत्वा तच्छोषणे वायवी धारणा स्मर्तव्या । तनोः शोषोऽहन्ताभिमानरसतनूभावः ॥ ३६ ॥

तेनैव दहनं कार्यमूर्ध्वाधोऽग्नियुतेन च ।

तेनैवेदानीं निर्णीततत्त्वेन संहारेण, ऊर्ध्वाधोऽग्निना रेफेण युक्तेन तेन र् क्ष् र् य् ऊँ इति पिण्डीकृतबीजाक्षरेणाग्नेय्या धारणया कालाग्निना आ पादान्मुण्डान्तं दहनम्, इति अहन्ताभिमानपाशस्य प्लोषणं कार्यम् ॥

अधो विष्णुसमायुक्तो वायुवर्णः सबिन्दुकः ॥३७॥
उत्पूयनकरो ह्येष

विष्णुरुकारः, वायुवर्णो य्, उत्पूयनमुत्प्लवनम्, प्लुष्टस्यापि देहाभिमानस्य संस्कारशेषस्य वायव्या धारणयैव निर्धूननम् ॥ ३७ ॥

प्लावने वारुणः स्मृतः ।

बिन्दुमस्तकसंभिन्नः

वारुणो वकारः सबिन्दुको वारुणधारणया ऊर्ध्वद्वादशान्तादधोमुखं प्रवृत्तैः पूर्णचन्द्राकारबिन्दुप्रसरत्सितप्रकाशवारिपूरैरशेषप्लावकः स्मृतः, स प्लावने भाविशुद्धसर्गभित्तिविरचने प्रभवतीत्यर्थः । सर्वाणि चैतानि बीजानि परस्वस्वभावप्रभावप्रभाश्रूतानि विचिन्त्यानि । अत्र च विषस्येव मारकत्वं मन्त्रयुक्त्या देहस्याहमभिमानात्मकपाशरूपत्वं दह्यते, प्रतिदिनं

तदभ्यासप्रकर्षेण च शिवाहन्तोज्जृम्भते, न तु साक्षाद्देहो दह्यते प्रत्यक्षबाधात्। अत एवानादिदेहाहङ्कारस्यापसार्यत्वात् प्रत्यहं शुद्धात्मस्थितिग्रहणतदानयनामृतप्लावनभैरवतापादनादि क्रियमाणं युक्तमेव ॥

एवमशुद्धदेहसंहारयुक्तिमुक्त्वा शुद्धदेहसृष्टिं वक्तुमाह—

शक्तिन्यासस्ततो भवेत् ॥३८॥

ततो देहदाहाद्यनन्तरं विश्ववैचित्र्यं बिभ्रत्याः पारमेश्वर्या मनोन्मनिकायाः शक्तेर्भाविमन्त्रमयशुद्धदेहनिर्माणभित्तिभूताया न्यासो भवेत् ॥ ३८ ॥

तदनु—

आनयेत्तं यथानीतं प्लावयेदमृतेन तु ।

यथेति मध्यमार्गोर्ध्वरेचकेण नीतं तम् आत्मानमूर्ध्वरेचकेणैव आनयेत् शक्तिदेहस्य मध्यं हृदयं कल्पनया प्रापयेत्, अमृतेन परभावसमावेशावष्टम्भरसेन, प्लावयेत् भैरवाभेदपरामर्शमयं कुर्यादित्यर्थः। तथाभूतमेव नीतं तमानयेत् ॥

कीदृशं च—

मलप्रध्वस्तचैतन्यं कलाविद्यासमाश्रितम् ॥३९॥
रागेण रञ्जितात्मानं कालेन कलितं तथा ।
नियत्या यमितं भूयः पुंभावेनोपबृंहितम् ॥४०॥
प्रधानाशयसंपन्नं गुणत्रयसमन्वितम् ।
बुद्धितत्त्वसमासीनमहङ्कारसमावृतम् ॥४१॥
मनसा बुद्धिकर्माक्षैस्तन्मात्रैः स्थूलभूतकैः ।

युक्तमिति शेषः। नयनानयनपात्रत्वादेव संकोचाभासरूपेण मलेन प्रध्वस्तं गुणीभूतं चैतन्यं यस्य, अत एव किंचित्कर्तृत्वज्ञातृत्वरूपाभ्यां कलाविद्याभ्यां समाश्रितम्। एवमन्यत्। अन्येषां च कलादीनां स्वरूपमुत्तरत्र स्वावसरे निर्णेष्यामः ॥ ४१ ॥

यदेतन्मायादिक्षित्यन्तं तत्त्वजातम् ।

प्रणवेन तु सर्वं तच्छरीरोत्पत्तिकारणम् ॥४२॥
न्यसेत्क्रमेण देवेशि त्रिंशदेकं च संख्यया ।

शरीरोत्पत्तेः कारणं मायादिक्षित्यन्तं तत्त्वानि एकत्रिंशतं प्रणवेन श्रीमन्निष्कलभट्टारकतुल्यव्याप्तिकेन शुद्धदेहोत्पत्त्यर्थं न्यसेत्। प्रणवन्यासाच्चैतानि प्राग्दशातोऽन्यादृश्येव। तथाहि—अख्यातिरूपा माया भेदप्रागल्भ्याविमोहिनी अस्य, कला पूजाध्यानादिकिंचित्कर्तृत्वोन्मीलिका, विद्या तात्त्विकविवेकप्रदा, रागो भक्त्यभिष्वङ्गप्रदः, कालः उपदेशादिविषयकलनाप्रदः, नियतिः भगवदाराधनादौ नियामिका, पुंभावः 'अहं शिव एव' इति प्रथाप्ररोहकः। एवमन्यत् ॥ ४२ ॥

अस्यास्तत्त्वैकत्रिंशतो मध्यात्—

षट्तत्त्वी त्वात्मसंबद्धा ज्ञातव्यात्र वरानने ॥४३॥

मायादिनियत्यन्ता कञ्चुकरूपा षट्तत्त्वी आत्मनः पुंस्तत्त्वस्य तण्डुलकम्बुकवत् सम्यगालक्ष्य पृथक्तया बद्धा ज्ञातव्या, न त्वस्यामात्माभेदो ग्राह्यः। एवमात्मनः परो देहः ॥ ४३ ॥

स्थूलसूक्ष्मौ युगपदाह—

प्रधानावनिपर्यन्तं शरीरं च विनिर्मितम्।

ज्ञातव्यमिति लिङ्गविपरिणामात्। विनिर्मितं कृत्रिमं न तु तात्त्विकमित्यर्थः ॥

अत्र च—

चतुर्विंशतितत्त्वानि चैतन्यरहितानि तु ॥४४॥
द्रष्टव्यानि वरारोहे

द्रष्टव्यानि वेद्यतयैव निश्चेयानि ॥ ४४ ॥

यद्येतान्यचेतनानि कथमेतानि दृश्यन्ते ?

इत्याह—

पुरुषाधिष्ठितानि तु।
सचेतनानि सर्वाणि ज्ञातव्यानि सदैव हि ॥४५॥

अधिष्ठितता कलोद्वलितस्वकर्तृताच्छुरणम्, ज्ञातव्यानि अहन्तापहस्तनेन वेद्यरूपाणि बोद्धव्यानि, बुद्धेरपि वृत्तिद्वारेण वेद्यत्वात्। वेद्यत्वादेवैतानि तण्डुलतुषवद्बहिरङ्गानि। षट्तत्त्वी तु आत्मनोऽन्तरङ्गप्रधानस्य

संवेद्यपर्वत्वमिति ॥ ४५ ॥

तेन सह—

पञ्चविंशकमेतच्च प्राकृतं समुदाहृतम् ।

प्रकृतिरेव प्राकृतम्, प्रकृतेरायातं च प्राकृतं गुणादिक्षित्यन्तमेव । 'ओं शुद्धदेहाय नमः' इति मन्त्रेण युगपत्षट्तत्त्वीरूपं परम्, तन्मात्रान्तःकरणरूपं सूक्ष्मम्, पृथिव्यादिरूपं च स्थूलं परामृतप्लावितस्यात्मनो देहं न्यसेत् ॥

तामेव शुद्धरूपतां स्फुटयितुमाह—

ततो मूर्तिं न्यसेद्देवि मूलमन्त्रसुलक्षितम् ॥४६॥
सकलं भैरवं न्यस्य द्वात्रिंशार्णं सुलोचने ।
मुखानि कल्पयेत्पश्चान्मूर्धादिचरणावधि ॥४७॥
वस्त्राणि कल्पयेत् पश्चादूर्ध्वं पूर्वं च दक्षिणम् ।
उत्तरं पश्चिमं चैव यथावत्प्रविभागशः ॥४८॥
कलाभेदं यथापूर्वं शोध्याध्वानं प्रकल्पयेत् ।
नवतत्त्वं त्रितत्त्वं च विद्याङ्गा लोचनत्रयम् ॥४९॥
वर्गातीतेन क्षुरिकामूर्ध्वाधोऽग्निप्रदीपिताम् ।
षोडशान्तर्हता सा तु रक्षिका विघ्ननाशिका ॥५०॥
नवकं कल्पयेत् पश्चात् मूर्ध्नि वक्त्रे च कण्ठके ।
हृदये नाभिदेशे च गुह्य ऊर्वोश्च जानुतः ॥५१॥
पादान्तं चैव विन्यस्य स्वध्यानगुणसंयुतम् ।
क्रियाज्ञाने तथेच्छा च दक्षे वामे च मध्यतः ॥५२
विद्याराजः स्मृतो ह्येष भैरवो मन्त्रनायकः ।

सर्वमेतत्प्रथमपटल एव यथा निर्णीतसतत्त्वं तथेहोत्तरत्रापि चानुसंधेयम्, विषममतिरिक्तं च व्याक्रियते । मुखानीति क्षादीनि, मूर्धादीति दण्डभङ्ग्या सहायमेव क्रमो युक्तो भैरवन्यासान्तं सृष्टिक्रमस्य स्थितत्वा-

दित्युक्तत्वात्; अतो न नैष्ठिकाभिप्रायेणान्यथा व्याख्येयम्। यथावत्प्रविभागश इति कवाटवक्त्रभङ्गिभ्याम्। शोध्याध्वानम् इति सकलन्यासान्ते कलाद्येकतममध्वानं भावियुक्त्या गर्भीकृतेतराध्वपञ्चकन्यासादिवशेन शोधनीयं दीक्षायामेव कल्पयेत्। यद्वक्ष्यति—

'दीक्षाकाले तु देवेशि शोध्याध्वानं प्रकल्पयेत्' (२।२७३)

इति। विद्याङ्गा इति शसोऽत्र आ-आदेशः, विद्याङ्गानीत्यर्थः। क्षुरिकामन्त्रः कट्यां न्यस्यः, स पूर्वमनुक्तत्वादिहोक्तः। वर्गातीतः क्ष्, अग्निः र्, षोडशान्तः षोडशस्वराणामन्तः अः, नवकम् इति श्रीस्वच्छन्देशकपालीशाद्यष्टकोपेतम्। अस्य मूर्ध्नि इत्यादिना निर्देशः। स्वस्था [ध्या] नादि समनन्तरं भविष्यति। क्रियेत्यादि पाठक्रमादर्थक्रमस्य बलीयस्त्वात्—

'ज्येष्ठाज्ञाने तथा दक्षे क्रिया वामा तथोत्तरे' (७।१५२)

इति भाविग्रन्थेनैकार्थत्वात् प्राधान्याच्च दक्षिणे ज्ञानशक्तेर्वामे क्रियाशक्तेर्न्यासः॥ ५२॥

परन्यासमाह—

निष्कलं तु तथावाह्य अङ्गान्येवं यथाक्रमम्॥५३॥

न्यसेदित्येव। आ समन्तात् द्वादशान्ताद्वाहयित्वा अवतार्येत्यर्थः। एवमित्यावाह्य, अङ्गानि च सर्वज्ञत्वादिगुणषट्करूपाणीति पूर्वमेवोक्तम्। तेनात्राङ्गत्राणरूपाण्यङ्गानीति तन्त्रान्तरयोजनमसत्। अङ्गन्यासावसरे मुद्राषट्कबन्धः कार्यः इति गुरवः। तत्र हृदि निलीनाङ्गुष्ठा मुष्टिः, सैवोच्छ्रिताङ्गुष्ठा शिरसि, उच्छ्रिततर्जनीका शिखायां, परस्परान्तरिताङ्गुलि पाणिद्वयं कवचे, मध्यमातर्जन्यनामिकाभिर्नेत्रत्रयस्पर्शो नेत्रे, तर्जन्यङ्गुष्ठच्छोटिकादर्शनमस्त्रे॥ ५३॥

आवाहनानन्तरम्—

गन्धैर्धूपैस्तथा पुष्पैर्विविधैर्भक्ष्यभोजनैः।
पूजयेद्देवदेवेशं मनसैव प्रकल्पितैः॥५४॥

एवं च—

आत्मानं भैरवं ध्यात्वा ततो हृद्यागमाचरेत्।

पुर्यष्टकशरीरमपि भैरवीकर्तुमयं प्रक्रम आरब्धः॥ ५४॥

तत्र याज्यस्य भैरवरूपस्यात्मन आसनन्यासं तावद्वितत्य निरूपयति—

नाभौ कन्दं समारोप्य नालं तु द्वादशाङ्गुलम् ॥५५॥
हृदन्तं कल्पयेद्यावत्तत्र पद्मं विचिन्तयेत् ।
अष्टपत्रं महादीप्तं केसरालं सकर्णिकम् ॥५६॥

कन्दं पद्मोत्पत्तिमूलम्, समारोप्य परिकल्प्य, मत्तगन्धपीडनयुक्तया च कन्दं नाभौ नाभिविषये समारोप्य उल्लास्य, नालं प्राणशक्तिरूपम्, नाभिहृदयान्तरालस्य द्वादशाङ्गुलत्वात् द्वादशाङ्गुलमित्युक्तम् ॥ ५५ ॥

अत्र व्याप्तिमाह—

कन्दं शक्तिमयं तत्र नाले वै कण्टकास्तु ये ।
भुवनानि च तान्येव रुद्राणां वरवर्णिनि ॥५७॥
मायात्मको भवेद् ग्रन्थिरशुद्धाध्वव्यवस्थितः ।
विद्यापद्मं महादीप्तँ कर्णिकाबीजराजितम् ॥५८॥
पुष्कराणि च देवेशि तत्र विद्येश्वराः स्मृताः ।
एवं ध्यात्वा महापद्मं सर्वदेवमयं शुभम् ॥५९॥

कल्पयेदित्यनुवर्तते । शक्तिरिच्छात्मा पारमेश्वरी आधारभूता यस्यां विश्वमिदमाध्रियते सा 'व्योमाकाराम्' इति वक्ष्यमाणत्वात् गर्भीकृतधरादितत्त्वचतुष्टया । यथोक्तं श्रीपूर्वशास्त्रे—

'आदावाधारशक्तिं तु नाभ्यधश्चतुरङ्गुलाम् ॥
धरां सुरोदं पोतं च कन्दश्चेति चतुष्टयम् ॥' (८।५५)

इति । तत्र अप्तत्त्वव्याप्त्या सुरार्णवम्, तेजोव्याप्त्या ख्यातं [पोतम्], प्राणप्रसूतिहेतुं व्यूहात्मकं वायुव्याप्त्या कन्दमित्येवंव्यक्तिका शक्तिः प्रकृतं रूपं यस्य तत्सारमित्यर्थः । अत एव अङ्कुरनालरूपाशेषाध्यव्यक्तेः तत्र गन्धतन्मात्रादिकलातत्त्वान्तनालव्याप्तिः । रुद्राणामिति तत्तत्तत्त्वाधिष्ठातृणाम् । महादीप्तमिति शुद्धाध्ववर्त्यशेषमन्त्रतेजोमयत्वात् । पुष्कराणि बीजानि । विद्येश्वराः अनन्तभट्टारकाद्याः शिखण्ड्यन्ताः । एवं कन्दनालग्रन्थिदलकर्णिकाबीजरूपं षडुत्थमासनं प्रसिद्धम् ॥ ५९ ॥

आसनन्यासे क्रममाह—

शक्तिन्यासो भवेत् पूर्वं कन्दं तु तदनन्तरम् ।
अङ्कुरं नालविन्यासमनन्तं परिकल्पयेत् ॥६०॥
तेजोमयं महाशुभ्रं स्फुरत्किरणभास्वरम् ।

विश्वोल्लेखभित्तिभूतामिच्छाशक्तिमाविश्य तदवष्टम्भरूपं कन्दमाक्रम्य तदुन्मेषतत्प्रसररूपाङ्कुरनालात्मकमशेषं मायान्तमध्वानमासूत्र्य तदुपरि अनन्तं विद्येशं तेजोमयं स्मरणमात्रेण कल्पयेदित्यर्थः ॥ ६० ॥

नालं विन्यस्य यदुक्तं 'अनन्तं परिकल्पयेत्' इति, तन्मध्ये ग्रन्थिस्थाने सिंहासनं तदुपरि च पद्मं क्रमेण कल्पयितुमाह—

धर्मं ज्ञानं च वैराग्यमैश्वर्यं च क्रमान्न्यसेत् ॥६१॥

एते च—

सितरक्तपीतकृष्णा आग्नेय्यादीशदिग्गताः ।
पादकाः सिंहरूपास्ते त्रिनेत्रा भीमविक्रमा ॥६२॥

पादका इति एतद्वासनानुविद्धा हि संसरन्ति संसारे— इत्यशेषसंसारिणः अज्ञाताः पादाः पादकाः, एते सिंहरूपा इति पराक्रममहिम्ना, अशेषविश्वाक्रमणात् । ईश्वरशक्त्यधिष्ठाने एवैतदेषां घटतेः न तु सांख्यनये जडबुद्धिधर्मरूपतायाम् इतीश्वरशक्तयधिष्ठानादेते त्रिनेत्राः, घोरसंसारघातहेतुत्वाच्च भीमविक्रमाः ॥ ६२ ॥

एते च मुमुक्षुणा—

शिवशक्तिमया मन्त्रा न्यस्तव्या वीरवन्दिते ।

वस्तुतः परमेश्वरशक्तिमया एव, तथा त्वपरिज्ञाता अधरपदसंच.-रिणः । यदा तु यथा प्रत्यभिज्ञायन्ते, तदा मननत्राणधर्मकाः प्रत्यभिज्ञातुः शिवस्य इच्छया मन्त्ररूपतां प्रकटयन्तः शुद्धप्रसरणिसंसारिणो भवन्ति भक्तिभाज इति परमार्थः, न त्वन्यथैषां मन्त्ररूपता काचित् अशुद्धाध्वव्यवस्थितेः ॥

सिंहासनेऽवयवान्तराण्याह—

अधर्माज्ञानावैराग्यमनैश्वर्यं च प्राग्दिशः ।।६३।।
उत्तरान्तं निवेश्यं तु

एते हि—

गात्रकाः सितवर्णकाः ।

सिंहासनपट्टिकारूपाः । प्रायश्च सर्वेऽख्यातिमयमायाच्छादितत्वादधर्मादिमयाः, अत एव धर्मादीन् प्रति स्पृहयालव इत्यधर्मादय एषां मायापदे अज्ञातानि गात्रकाणि ।। ६३ ।।

अत्रैव—

संधानकीलकाश्चैव अतसीपुष्पसंनिभाः ।।६४।।
वेदा युगाश्च ते चैव ज्ञातव्याः क्रमशः प्रिये ।

आग्नेय्यादिक्रमेण प्रतिकोणं पादकेन सह गात्रकद्वयस्य बन्धनार्थं कीलकद्वयमिति । ऋगादयो वेदाः, कृतादयश्च युगास्तत्तद्भोगवासनाः पुष्णन्तः संसारबन्धनहेतवो विचित्रशङ्काशङ्कुरूपाः संधानकीलका इत्युक्ताः । बन्धकत्वादेव च कृष्णवर्णा ज्ञातव्याः । पूर्वोक्तपारमेश्वरशक्तिरूपतया यथाज्ञाता बन्धका भवन्ति । ननु एते बुद्धिधर्माः कथमियतीं भूमिं प्राप्ताः? उच्यते—सर्वेषां बुद्ध्यादिधर्माणां मायोत्पत्तिभूः, बुद्ध्यादयस्तु विभवस्थानम्, उच्छेद्यास्तु मूलभूमित उच्छिन्ना न पुनः प्ररोहन्तीत्युत्पत्तिपदादुच्छेत्तुमेतानीदृक्क्रमो दर्शितः ।। ६४ ।।

अत एव सत्त्वरजस्तमांसि मूलत एवोच्छेत्तुं सिंहासनोपरि गुणमयमेव मायामसूरकं न्यसितुमाह—

अधश्छादनमूर्ध्वं च रक्तं शुक्लं विचिन्तयेत् ।।६५।।
मध्ये तमो विजानीयाद्गुणास्त्वेते व्यवस्थिताः ।

ऊर्ध्वं शुद्धविद्यानिकटवर्तित्वात् सितं सत्त्वरूपम् । अधस्तु संसरणानुगुणत्वाद्रक्तं रजोमयम् । मध्ये तु ख्यात्याच्छादनप्रकर्षात् तमोमयं कृष्णम् । प्राधानिकः प्रपञ्चो मायायामसन्नित्यादि त्वसत्, अशेषमायाकार्यस्य मायायां सूक्ष्मरूपतया भुवनाध्ववर्णयिष्यमाणस्थित्यावस्थितत्वात् । शक्तिदातपवित्रत्रैस्तु सर्वमेतच्छिवशक्तिरूपं मन्त्रतयैव भावनीयम् ।

यद्वक्ष्यति—'यत्र यत्र' इत्युपक्रम्य, सर्वं शिवमयं यतः ।।' (४।३१०) इति ।।

अथ सिंहासनमसूरकोपरि विद्यापद्मं न्यसितुमाह—

सितं पद्मं विजानीयात् केसराणि विचिन्तयेत् ॥६६॥
सितरक्तप्रपीतानि मूलमध्याग्रदेशतः ।
कर्णिका हेमसंकाशा बीजानि हरितानि तु ॥६७॥

ईदृग्वर्णमेव सितपद्मं भवति। सितत्वं चास्य शुद्धविद्यामयत्वात् ॥ ६७ ॥

अस्य दलेषु देवतान्यासमाह—

वामां पूर्वदले न्यस्य ज्येष्ठां वह्निदलाश्रिताम् ।
रौद्रीं दक्षिणपत्रे तु कालीं नैर्ऋतगोचरे ॥६८॥
कलविकरणीं देवीं विन्यस्येद् वारुणे दले ॥
बलविकरणीं देवीं वायव्यदलमाश्रिताम् ॥६९॥
बलप्रमथनीं देवीमुत्तरे विनियोजयेत् ।
सर्वभूतदमनीं च ऐशान्यां विनियोजयेत् ॥७०॥
मध्ये मनोन्मनीं देवीं कर्णिकायां निवेशयेत् ।

स्पष्टमेतत् ॥ ७० ॥

एतच्च—

शक्रचापनिभं देवि ध्यातव्यं शक्तिमण्डलम् ॥७१॥

ततोऽपि—

मध्ये सूर्यसहस्राभां चिन्तयेत्तु मनोन्मनीम् ।

एता देव्यो भुवनाध्वनीत्या परेण रूपेण शक्तितत्त्वे स्थिताः, मध्ये तु पदे परापरेण, इह तु विद्यायामपरेण रूपेणेति विभागः। तत्रैव चासां नामानुसारि स्वरूपं दर्शयिष्यामः, सर्वं प्रागुक्तशक्तित्रयमयमिति ॥

विद्यातत्त्वे मानमेयमातृरूपं ज्ञानक्रियेच्छाव्याप्तिसतत्त्वं मण्डलत्रयं न्यसितुमाह—

सूर्याध्वमण्डलं पत्रे सोमं संयोज्य केसरे ॥७२॥
वह्निमण्डलकं देवि कर्णिकायां निवेशयेत् ।

अत्र हि मेयरूपस्य सोमस्य वह्निसूर्यात्मकमातृमानमध्यवर्तित्वम्, न हि मातृप्रकाशभित्तिं विना मानप्रकाशाच्छुरणं विना वा मेयप्रकाशः कश्चित्। प्रमात्रैव हि चिद्रसाश्यानीभावात्म मेयमाभास्यते, आभास्यमानं च प्रमाण-प्रकाशाच्छुरितमेव भवतीत्यलमधिकेन; भविष्यत्येतत् सृष्टिसंहार-पटले ॥ ७२ ॥

एतद्धामत्रयाधिष्ठातृदेवतात्रयं निरूपयति तदधिष्ठातृविश्वान्तर्भाव-मत्र प्रकटयितुम्—

ब्रह्मा विष्णुर्हरश्चैव मण्डलेष्वधिपाः स्मृताः ॥७३॥

परापरया व्याप्त्या एषां ध्यानमाह—

ब्रह्मा चतुर्मुखो रक्तश्चतुर्बाहुविभूषितः।
कृष्णाजिनोत्तरीयश्च राजीवासनसंस्थितः ॥७४॥
कमण्डलुधरो देवि दण्डहस्तस्तथैव च।
अक्षमालाधरो देवः पद्महस्तः सुलोचनः ॥७५॥
ध्यात्वा पत्रेषु तं न्यस्येत् सर्वकिल्विषनाशनम्।
अतसीपुष्पसंकाशं शङ्खचक्रगदाधरम् ॥७६॥
पीताम्बरधरं देवं वनमालाविभूषितम्।
स्फुरन्मुकुटमाणिक्यं किङ्किणीजालमण्डितम् ॥७७॥
दिव्यकुण्डलधर्तारं गरुडासनसंस्थितम्।
ध्यात्वा विष्णुं महात्मानं केशरेषु निवेशयेत् ॥७८॥

शङ्खेन पद्ममुपलक्ष्यते। मानमेययोर्लोलीभावान्मेयात्मनि सोममण्डले सृष्टिप्रधानेऽपि स्थितिकारी विष्णुः, स्थित्यात्मनि च प्रमाणरूपे सूर्यमण्डले सृष्टिकर्ता ब्रह्माधिष्ठाता, इति युज्यते एवैतत् ॥ ७७ ॥

शङ्खकुन्देन्दुधवलं शूलहस्तं त्रिलोचनम्।
दशबाहुं विशालाक्षं नागयज्ञोपवीतिनम् ॥७९॥
सिंहचर्मपरीधानं शशाङ्ककृतभूषणम्।
नीलकण्ठं वृषारूढं रुद्रं ध्यात्वा वरानने ॥८०॥

निवेशयेत् कर्णिकायां महापातकनाशनम् ।

तदुपरि—

महाप्रेतं न्यसेत् पश्चात् प्रहसन्तं सचेतनम् ॥८१॥

रक्तवर्णं सुतेजस्कं नेत्रत्रयविभूषितम् ।

प्रकर्षेण इतः स्फुटेदन्तानिमज्जनेन अहन्ताप्रधानां स्थितिमनुप्रविष्ट; प्रकर्षेण च इतं गतं संबद्धं विश्वं यस्य इति व्युत्पत्त्या प्रेत इह सदाशिवः, स च महदिति पदेन अनाश्रितशिवरूपः । परमशिव एव च भगवानेकश्चितद्रूपस्तदधररूपवर्ती, इत्यनाश्रितादिस्तदेकजीवितः, स्वयं तु प्रेत इव प्रेतः, अधराध्वनोऽत्र स्तिमितत्वेनावस्थानाच्च प्रेतः, स च अपरया व्याप्त्या स्थूलः सदाशिवः, मध्यमया स एव नादरूपः, परया तु अनाश्रितः, इति तदनुसारेण सिंहासनं पद्मं च योज्यम् । स च प्रेतः परमशिवोऽहन्तानुप्रवेशादेव प्रहसन् नादामर्शरूपो महाविकाससमयश्च, तेनैव परमशिवेन नादात्मना सचेतनः । एवमपि तावन्मात्रेदन्तोन्मेषात्मकोपाधिरूपत्वात् विश्वानुरञ्जकत्वाच्च रक्तवर्णः, बोधप्राधान्यात् सुतेजस्कः । वक्ष्यति च —

'सूर्यकोटिसमप्रभम् ।' (१०।१२१४)

इति भौवने पटले । इच्छाज्ञानक्रियाशक्त्यात्मना च एषणीयज्ञेयकार्यात्म विश्वं नयता नेत्रत्रितयेन ऊर्ध्वदृशा विशेषेण भूषितं राजमानम् । यथोक्तम्—

'तिस्रो देव्यो यदा चैनं नित्यमेवाभ्युपासते ।
त्र्यम्बकस्तु तदा ज्ञेयः······················॥'

इति ॥ ८१ ॥

एवमियत्पर्यन्तम्

प्रणवेन न्यसेत् सर्वमासनं भैरवस्य तु ॥८२॥

'ओं आसनाय नमः' इति मन्त्रेण । एतत्सर्वमासनं चिद्भैरवाभेदेन व्याप्तं 'सर्वं शिवमयम्' इति वक्ष्यमाणत्वात् शक्तिरूपम्, न तु व्यतिरिक्तापररूपं प्रणवान्तर्गर्भीकारेण न्यसेत् । अत्र च—

'आसनं विभजेन्मन्त्री क्रमशः पद्ममुद्रया ।

इति **श्रीरौरव** उक्तत्वात् करद्वयं मुकुलीकृत्य पद्ममुद्रास्फालनीया स्थापनीया ॥८२॥

गन्धैः पुष्पैः समभ्यर्च्य

प्रणवेनैव ।

ततो मूर्ति प्रकल्पयेत् ।

कदम्बकुसुमाकारां तुषारविरणत्विषम् ॥८३॥

प्रकाशाह्लादमयीमित्यर्थः ॥८३॥

अथ—

मूर्त्यूर्ध्वे भैरवं देवं सकलं परिकल्पयेत् ।
द्वात्रिंशद्वर्णकचितं स्फुरत्तडिदिवोज्ज्वलम् ॥८४॥

हृत्तो द्वादशान्तं मन्त्रोच्चारं कृत्वा, तत्र क्षणं विश्रम्य हृद्येव मन्त्रराजं पुर्यष्टकं भैरवीकर्तुं न्यसेदिति गुणः । अत्र च वक्ष्यमाणब्रह्मकवाटकलावक्त्र-भङ्ग्यादि सर्वमासूत्रितमात्रं प्रभापुञ्जन्यायेन चिन्तयेत्, इत्याशयेन 'स्फुर-त्तडिदियोज्ज्वलम् इत्युक्तम् ॥८४॥

अथ—

वक्त्राणि कल्पयेद्देवि स्वध्यानेन महेश्वरि ।
मूर्धादिचरणं यावत् प्रणवादिनमोन्ततः ॥८५॥
अष्टात्रिंशत्कलाभेदं शोध्याध्वानं प्रकल्पयेत् ।
नवतत्त्वं त्रितत्त्वं च नवकं भैरवाभिधम् ॥८६॥
विद्याङ्गा लोचनं चैव क्षुरिकां च प्रकल्पयेत् ।
शक्तित्रयं ततो न्यस्येदक्षदिग्वामगोचरे ॥८७॥

मध्यप्रदेशे देवेशि

एतदविस्मरणार्थं पुनरपि पठितम् तत्त्वन्यासेन परमेश्वरसृष्टानि तच्छक्तिमयानि, भगवति तु प्रकाशानन्दघनानि अत एव आसनासी (नात्म ? नस्य) विश्वं शिवमयमित्युक्तम् ॥८७॥

ध्यानमाह—

ततो रूपमनुस्मरेत् ।
त्रिपञ्चनयनं देवं जटामुकुटमण्डितम् ॥८८॥
चन्द्रकोटिप्रतीकाशं चन्द्रार्धकृतशेखरम् ।
पञ्चवक्त्रं विशालाक्षं सर्पगोनासमण्डितम् ॥८९॥
वृश्चिकैरग्निवर्णाभैर्हारेण तु विराजितम् ।
कपालमालाभरणं खड्गखेटकधारिणम् ॥९०॥

पाशाङ्कुशधरं देवं शरहस्तं पिनाकिनम् ।
वरदाभयहस्तं च मुण्डखटवाङ्गधारिणम् ॥६१॥
वीणाडमरूहस्तं च घण्टाहस्तं त्रिशूलिनम् ।
वज्रदण्डकृताटोपं परश्वायुधहस्तकम् ॥६२॥
मुद्गरेण विचित्रेण वर्तुलेन विराजितम् ।
सिंहचर्मपरीधानं गजचर्मोत्तरीयकम् ॥६३॥
अष्टादशभुजं देवं नीलकण्ठं सुतेजसम् ।

आरुरुक्षून् निष्कलधाम्नि प्रवेशयितुं भगवता स्वस्वातन्त्र्यात् ईदृगाकार उन्मनाशक्तिभूमौ दर्शितः । नहि भौवने क्वापि ईदृग्देवोऽस्ति । शाक्तस्फारमयत्वादेव चायमष्टादशभुजो दुर्गादिव्यास्तथात्वात् । अस्मिश्च प्रतिमुद्रास्थानीयाकृतिग्रन्थे चिह्नै रव्याप्तिरखण्डितैवास्ति । तथाहि—तिसृभिः परादिशक्तिभिः स्थूलसूक्ष्मपरभेदान्मायान्तं व्याप्य स्थितानां पञ्चानां नयनं येन तं त्रिपञ्चनयनम्, जटाभिरूर्ध्वपदावस्थिताभिर्वामेश्वर्यादिशक्तिभिः, मुकुटेन च स्वातन्त्र्यास्फारेण मण्डितम्, चन्द्रकोटिप्रतीकाशम् इति प्रकाशानन्दघनम् । तदुक्तं **श्रीलक्ष्मीकौलार्णवे**—

'अद्वैतत्वात् सुरेशानि भैरवो गीयते भुवि ।
न तु दंष्ट्राकरालत्वात्तस्यात् सौम्यं विचिन्तयेत् ॥'

इति । **चन्द्रार्धकृतशेखरम्** इति विश्वाप्यायकृदमाख्यामृतकलासंबद्धम्, **पञ्चवक्त्रम्** इति चिदानन्देच्छाज्ञानक्रियाख्यानि पञ्च परस्वरूपाभिव्यञ्जकानि संसारत्राणरूपाणि वक्त्राणि यस्य स तम्, विशालाक्षम् इति

'अन्तर्लक्ष्यो बहिर्दृष्टिर्निमेषोन्मेषवर्जितः ।'

इत्याम्नातपरभैरवस्फारावस्थितम्, सर्पेत्यादिना हारेण तु विराजितम् इत्यन्तेन बहिष्कृतमायीयकार्माणवाख्यपाशत्रयसंयोजनवियोजनक्रीडापरत्वमुक्तम्, कपालमालाभरणम् इति अशेषविश्वशरीरम्, **विश्वम्** कपालमालात्मनावयवप्रपञ्चरूपमाभरणं न तु आवरणं यस्य, चिदानन्दघनस्य भगवतस्तिस्र इच्छाज्ञानक्रियाः करणरूपाः, एकैकस्याश्च शक्तेस्त्रैरूप्यान्नवत्वम्, तत्रापि परापरभेदेन द्वैविध्यादष्टादशभुजत्वम् । तत्र खड्गेन ज्ञानशक्त्यात्मना पाशच्छेदनम् खेटकेन क्रियाशक्तिरूपेण भक्तानां संसारत्रासपरिहरणम्, पाशेन विश्वबन्धनेन स्वातन्त्र्यम्, अङ्कुशेन तदाकर्षणम्, शरपिना-

काभ्यां कारणग्रन्थिमालाभेदनम्, वरदाभयहस्तत्वेन भोगमोक्षप्रदत्वम्ः मुण्डधारणेन अख्यात्यात्मकमायामुण्डापहर्तृत्वम्, अनाश्रितान्तस्य विश्वस्य अस्थिकरङ्कस्थानीयस्य स्वर्चिद्भित्तिलग्नत्वं खट्वाङ्गधारणेन, वीणाडमरुघण्टाभिर्मन्द्रतारमध्यध्वनिवैचित्र्याश्रयनादावमर्शनिभालनावहितशक्तित्वम्, इच्छाज्ञानक्रियायोगिस्वातन्त्र्यशक्तिदण्डेन त्रिशूलेन पाशत्रयशातनम्ः वज्रेण ऊर्ध्वस्थितेच्छादिशक्तित्रयेण अधःस्थितैषणीयादित्रयेण च अशेषविश्वात्मकनिजशक्तित्वम्, दण्डेन नियतिशक्त्यात्मना विश्वनियमनम्, परशुना हलाकृतिना नादशक्त्यात्मना, मुद्गरेण बिन्दुशक्तिरूपेण अशेषभेदविदारणचूर्णीकरणम्, इति ध्वन्यते। सिंहो विद्येश्वरसदाशिवशक्तिशिवात्मकपञ्चाननश्चित्स्फारः, तस्य चर्म चरितम्, गजस्य च विततविततस्य मायात्मन उक्तस्वरूपसिंहनिर्भेद्यस्य चर्म चरितं विलसितं स्वस्वरूपसंलग्नत्वात् परीधानं बोधाभेदात्मकस्वस्वरूपोपरि परिवर्तमानं यस्य, देवं क्रीडादिशीलम् नीलकण्ठम् अख्यात्यात्मकमहाविषहरम्, सुतेजसं चिदानन्दघनम्। एवमादि च भैरवानुकरणस्तोत्रेऽस्माभिर्वितत्य दर्शितम् ॥६३॥

अस्य भगवतो वक्त्रध्यानमाह—

ऊर्ध्ववक्त्रं महेशानि स्फटिकाभं विचिन्तयेत् ॥६४॥
आपीतं पूर्ववक्त्रं तु नीलोत्पलदलप्रभम्।
दक्षिणं तु विजानीयावामं चैव विचिन्तयेत् ॥६५॥

दाडिमीकुसुमप्रख्यं कुङ्कुमोदकसंनिभम्।
चन्द्रार्बुदप्रतीकाशं पश्चिमं तु विचिन्तयेत् ॥६६॥

वक्त्राणां दिग्रूपवैचित्र्यं तत्तदनुग्रहादिकृत्यवैचित्र्यात् ॥६६॥

एवमीदृशम्—

स्वच्छन्दभैरवं देवं सर्वकामफलप्रदम्।
ध्यायते यस्तु युक्तात्मा क्षिप्रं सिध्यति मानवः ॥६७॥

युक्तात्मा एकचित्तः, सिद्ध्यति भुक्तिमुक्ती लभते। यथा पूर्वं वाचकस्य सकृदुच्चारात् सर्वकिल्विषनाशित्वमुक्तम्, तथा वाच्यस्यापि ध्यानमात्रात् सर्वसिद्धिप्रदर्शित्वमुक्तम्, इति महाप्रभावतास्योच्यते ॥६७॥

परं न्यासमाह—

ततः परमबीजेन परं परमकारणम्।

सुशान्तं निष्कलं देवं सर्वव्यापि निरञ्जनम् ॥९८॥
आवाहयेत् सुहृष्टात्मा तव देवि वदाम्यहम् ।

परं निरतिशयम्, सुहृष्टात्मा इति शाम्भवपदसमावेशं प्रति उत्कण्ठातिशयात्, आवाहयेत् द्वादशान्तादवतारयेत्, परशक्त्यवष्टम्भेन तत्स्वरूपमुन्मज्ज्य हृत्पर्यन्तं तच्चमत्कारसारं कुर्वीतेत्यर्थः ॥९९॥

कीदृशम्—

हृत्कण्ठतालुभ्रूमध्यनादान्तान्तसमाश्रितम् ॥९९॥
निष्कम्पं कारणातीतम्

नादान्तः शक्त्यन्तः, तस्यान्तः पर्यन्तो द्वादशान्तः तेन हृदादिद्वादशान्तं युगपद्व्याप्नुवन्तं निष्कम्पं स्वरूपादचलितम् ॥

एवम्—

आवाह्य परमेश्वरम् ।
संस्थाप्य विधिवद्देवमङ्गषट्कं ततो न्यसेत् ॥१००॥

'उत्तानौ तु करौ कृत्वा अङ्गुष्ठौ तलमध्यगौ ।
आवाहनी त्वियम्...........................॥'

इति आवाहनमुद्रया आवाहनम् ।

'बद्धाङ्गुष्ठौ स्थितौ मुष्टी उन्मुखौ स्थापनी भवेत् ।'

इति मुद्रया स्थापनम् ॥

अथ—

पाद्यमाचमनं चार्घं स्वागतं तदनन्तरम् ।
संनिधानं च देवेशि

कल्पयेदिति शेषः पादार्थमुदकं पाद्यम् । सुशोभनम् अस्मदनुग्रहपरमागमनमस्त्विति स्वागतम्, योनिमुद्रया संनिधानम् ।

एवं कृत्वा

निष्ठुरया निरोधयेत् ॥१०१॥

निष्ठुरा मुद्रा तया निरोधयेत् अविचलं स्थापयेत् । सा तु—

'अङ्गुष्ठगर्भगौ मुष्टी...........।'

इति ।

'............निष्ठुरा तन्निरोधने ।'

इत्युक्ता ॥ १०१ ॥

ततः—

गन्धैः पुष्पैस्तथा धूपैर्धूपयित्वा तमर्चयेत् ।

सर्वमेतन्मानसं कुर्यात् ॥

अथ सन्निधानार्थं

मुद्रां प्रदर्शयेत्पश्चात् त्रिधा त्रैकाल्यकर्मणि ॥१०२॥

मुदं हर्षं राति ददाति, परभैरवचैतन्यद्रविणं मुद्रयति, परावेशेन मोदयति भक्तान् द्रावयति पाशान् इति वा निरुक्तां परस्वरूपप्रतिबिम्बरूपां मुद्रां वक्ष्यमाणाम् अष्टादशविधाम् ।

'एता मुद्रा महादेवि भैरवस्य प्रदर्शयेत् ।
आवाहने निरोधे च तथैव च विसर्जने ॥' (१४।२०)

इति वक्ष्यमाणत्रैकाल्यकर्मणि । त्रिधेति

'मनोजा गुरुवक्त्रस्था वाग्भवा मन्त्रसंभवा ।
देहोद्भवाङ्गविक्षेपैर्मुद्रेयं विविधा स्मृता ॥

इत्याम्नायनिर्दिष्टा ॥ १०२ ॥

विस्तरेणान्तर्यागं वक्तुमाह—

ततः स्नानादिकं कर्म कृत्वा चैव वरानने ।
परिधाप्य सुवस्त्राणि नेत्रपट्टोद्भवानि च ॥१०३॥
विलिप्यागुरुकर्पूरैर्मुकुटाद्यैर्विभूषयेत् ।

विलिप्य परिधाप्य भूषयेदिति क्रमः ॥

पुष्पैर्नानाविधैः शुभ्रैरर्चयेद्धूपयेत् पुनः ॥१०४॥
अर्घं दत्त्वा महेशानि पुनर्मुद्रां प्रदर्शयेत् ।
प्रणम्य भैरवं देवं स्वच्छन्दं विश्वनायकम् ॥१०५॥

अर्घं विशेषार्घम् । प्रणम्य इति समावेशेन तन्मयीभावमाश्रित्य ॥ १०५ ॥

ततो ह्याभरणं बाह्ये विनिवेश्य वरानने ।

परमेश्वरशक्तिरूपं तदभेदेन न्यस्तमपि वक्त्राङ्गादि पुनस्तदिच्छयैव तदाभासितत्वात् प्रभापुञ्जवत् पृथगिव आवरणतया स्थितं विनिवेश्यम् । एवं चाभिदधदेवं शिक्षयति—यद्विश्वं ग्राह्यग्राहकाभिमतं शिवरूपमपि शिवेन तथाभासितत्वात् पृथगिव लक्ष्यते, न तु वास्तवमस्य पृथक्त्वं कदाचित् ॥

आवरणन्यासे विभागमाह—

ऐशान्यां पूर्वतो याम्यां उत्तराप्यावसानकम् ॥१०६॥
विन्यसेत् पञ्च वक्त्राणि पञ्चवक्त्रयुतानि च ।
बाहुभिर्दशभिश्चैव शशाङ्कमुकुटैः सह ॥१०७॥
ध्यातव्यानि स्वरूपाणि वराभयकराणि तु ।

एकैकस्याः शक्तेः पञ्चशक्तिरूपत्वात् पञ्चवक्त्ररूपत्वमेकैकस्य च शाक्तस्फारात्मकस्वरूपतो भेदेनाभासितत्वात्, तथापि च मन्त्रनाडीसंधानाभ्यां तदभेदसारत्वात् पृथगपि एषां पूजनमुक्तम् । स्वं स्फटिकाभत्वादि पूर्वोक्तं रूपं येषां तानि स्वरूपाणि । वराभयकरत्वं खड्गखेटकपाशाङ्कुशशरपिनाकमुण्डखट्वाङ्गोपलक्षणपरम् । मन्त्राणां परपरापरापररूपत्वात् परादीनां च प्रत्येकं त्रैविध्यान्महासामान्यरूपव्याप्तत्वाच्च दशरूपता, इति तद्व्याप्तत्वाच्च दशबाहुत्वम् ॥ १०७ ॥

वक्त्रावरणानुषक्तान्यङ्गान्याह...

अग्नीशरक्षोवायव्यचतुर्दिक्षु च तं न्यसेत् ॥१०८॥
हृच्छिरश्च शिखा वर्म अस्त्रं च प्रविभागशः ।

अग्नीशरक्षोवायव्यदिक्षु यथासंख्यं हृच्छिरःशिखावर्माणि अस्त्रं च चतुर्दिक्कम् इति विभागः । सकलाङ्गान्येव पृथगावरणतया पूज्यानि न तु निष्कलाङ्गानि, तेषां सर्वज्ञताद्येकरूपाणां निष्कलैकरूपत्वात् ॥ १०८ ॥

एषां रूपमाह—

हृदयं रक्तवर्णाभं शिरो गोरोचनप्रभम् ॥१०९॥
तडिद्वलयसंकाशां शिखां देवीं विचिन्तयेत् ।
आधूम्रं कवचं विद्यात् कपिशं चास्त्रमेव च ॥११०॥

नेत्ररूपस्थाननिर्देशं वक्तुमाह—

ज्योतीरूपप्रतीकाशं नेत्रं मध्ये च संस्थितम् ।

विन्यसेदित्येव। मध्ये इति कर्णिकायाम् वक्ष्यति हि—

'नेत्रं तु कर्णिकायां वै' (२।१७१)

इति ॥

एते च—

पञ्चवक्त्राः स्मृताः सर्वे दशबाह्विन्दुभूषिताः ॥१११॥
नानाभरणसंयुक्ता नानास्त्रग्गन्धलेपनाः ।
नानावस्त्रपरीधाना मुकुटैरुज्ज्वलैः शुभैः ॥११२॥
रत्नमालावनद्धाश्च हारकेयूरभूषिताः ।

एते च—

द्विरष्टवर्षकाकाराः सुरूपाः स्थिरयौवनाः ॥११३॥
भैरवाद्याः स्मृता मन्त्रा पीठेशाः पीठमर्दकाः ।

भैरवाद्या अङ्गान्ता मन्त्राः, पीठस्य विद्यामन्त्रमण्डलद्रारूपस्य चतुर्विधस्य, ईशाः स्वामिनः, स्वात्मसात्करणेन मर्दकाश्च । ये तु **पीठक्षेत्र-संदोहादिपल्लीपरमेतद्वयाचक्षते तेऽस्मिन्नन्तर्यागे देवतान्यासस्य मध्येऽप्येवं कल्पयन्त उपहास्या एव** ॥ ११३ ॥

अथ—

या सा पूर्वं मया ख्याता अघोरी शक्तिरुत्तमा ॥११४॥
भैरवं पूजयित्वा तु तस्योत्सङ्गे तु तां न्यसेत् ।

तस्या ध्यानमाह –

यादृशं भैरवं रूपं भैरव्यास्तादृगेव हि ॥११५॥

तथा च—

ईषत्करालवदनां गम्भीरविपुलस्वनाम् ।
प्रसन्नास्यां सदा ध्यायेद् भैरवीं विस्मितेक्षणाम् ॥११६॥

करालत्वं भैरवानुकारतः पाशभक्षणात्, गम्भीरविपुलस्वनत्वं विमर्श-प्राधान्यात्, प्रसन्नास्यत्वं परभैरवानुरूप्येण अनुग्रहप्रवणत्वात्, अत एव भैरव मुद्रानुप्रवेशादेव विस्मितेक्षणत्वम् ॥ ११६ ॥

ततः—

द्वितीयावरणे देवि विन्यसेद् भैरवाष्टकम् ।

द्वितीयशब्देन अङ्गवक्त्राणि एकमेवावरणं समव्याप्तिकत्वाद् भगवद्द्वारम्भकत्वाच्च, इति दर्शयति ॥

कथं न्यसेदित्याह—

कपालीशं तु पूर्वाया माग्नेय्यां शिखिवाहनम् ॥११७॥

दक्षिणे क्रोधराजं तु विकरालं तु नैर्ऋते ।

मन्मथं पश्चिमे भागे मेघनादेश्वरं तथा ॥११८॥

वायव्ये देवि विन्यस्य सोमराजं तथोत्तरे ।

विद्याराजं तथैशान्यां विन्यसेत्तु सुभावितः ॥११९॥

अष्टावपि—

पञ्चवक्त्रस्त्रिनेत्राश्च दशबाह्विन्दुशेखराः ।

कपालमालाभरणाः स्फुरन्माणिक्यमण्डिताः ॥१२०॥

एषाँ दिक्क्रमेण ध्यानमाह—

पूर्वं पीतं स्मृतं देवि रक्तमाग्नेयगोचरे ।

दक्षिणे नीलमेघाभं नैर्ऋत्यां ज्वलनप्रभम् ॥१२१॥

श्यामं चापरदिग्भागे धूम्रं वायव्यगोचरे ।

चन्द्रबिम्बप्रभं सौम्ये ईशाने स्फटिकप्रभम् ॥१२२॥

अथ—

तृतीये चैव लोकेशान् सास्त्रान् संपरिकल्पयेत् ।

नामानि तेषां वक्ष्यामि यथावदनुपूर्वशः ॥१२३॥

इन्द्राग्नियमनिर्ऋतिवरुणाश्च समीरणः ।

सोमराजः कुबेरश्च ईशानः परमेश्वरः ॥१२४॥

'सास्त्रान् इति वदन्नस्त्रावरणं न पृथङ्न्यास्यम्, इति निरूपयति तृतीये इत्यभिधानाच्च ॥ १२४ ॥

ते च—

भैरवाष्टकरूपेण ध्यातव्यास्तु वरानने ।

परभैरवशक्तिपुञ्जात्मकभैरवाष्टकप्रसररूपत्वात् पूर्वं पीतम् इत्याद्युक्तभैरवाष्टकरूपेणैव चिन्त्याः ॥

एवमेतदस्त्राण्यपि भैरवास्त्रव्याप्तिसाराणि यागरक्षापराणि नामत उद्दिशति—

वज्रं शक्तिस्तथा दण्डः खड्गपाशस्तथैव च ॥१२५॥
ध्वजो गदा त्रिशूलं च लोकपालायुधानि वै ।

ध्यानमाह—

वज्रं चानेकवर्णाढ्यं शक्तिं हेमसमप्रभाम् ॥१२६॥
दण्डं भिन्नाञ्जनाभं च खड्गं नीलोत्पलप्रभम् ।
किंशुकाभं तथा पाशं ध्वजं शुक्लं विचिन्तयेत् ॥१२७॥
गदा तु विद्रुमाभा वै शूलं विद्युत्समप्रभम् ।

एतानि चैषां करस्थानि ध्येयानि ॥ १२७ ॥

अथ—

संपूज्यावरणं सर्वं संधानं मन्त्रनायके ॥१२८॥

कर्तव्यमित्यनुषज्यते ॥ १२८ ॥

कथमित्याकाङ्क्षायाम्—

अस्त्राणि लोकपालांश्च भैरवाष्टकमेव च ।
पञ्च ब्रह्माण्यथाङ्गानि एतान्यावरणानि तु ॥१२९॥
क्रमेणोच्चारयेत् सर्वं यावत्तद्गर्भमैश्वरम् ।

अस्त्राणीत्यादिस्तृतीयपटलोक्तः प्रकारोऽनुसंधेयः । इदं चात्र पूजासतत्त्वम्—

'उल्लङ्घ्याखिलमध्वजालममलां चिन्मूर्तिमाश्रित्य ता-
मुन्मज्जद्बहुरूपमूर्तिमभितः श्रित्वा धिया वाथ ताम् ।
उद्योगादिचतुष्कलद्युतिमहातत्त्वात्मिकां तन्मयी-
भाव्याशेषमिहार्पयेत मनसा विश्वं परार्चापरः ॥'

इतिः ॥ १२९ ॥

अनन्तरम्—

मूलमन्त्रेण कर्त्तव्यं नाडीसंधानमेव च ॥१३०॥

अत्रापि—

'आत्मनो निष्कलोच्चारं कृत्वा कुम्भे निवेशयेत् ।
कलशस्थस्य वामेन रेचयेत् पूरयेत्ततः ॥
मण्डलस्थस्य सव्येन पुनर्वामेन रेचयेत् ।' (४।४६—४७)

इति चतुर्थपटलनिरूपयिष्यमाणस्थित्या निष्कलनाथमुच्चारयेत्, स्ववामेन निर्गत्य भैरवदक्षिणेन विशेत्, ततः क्रमेण वक्त्राङ्गभैरवलोकपालान्तमेवमेव च कुर्वीत इति मूलमन्त्रेण नाडीसंधानम् । एवं ह्युपसंहातप्रसरक्रमाभ्यां सर्वं देवताचक्रं भगवत्परभैरवमयमेव जायते । ये तु तृतीयचतुर्थपटलग्रन्थमेतत् परामृश्य मन्त्रसंधाननाडीसंधाने अन्यथा चान्यथा व्याचक्षते ते भ्रान्ता एव, 'अनागतावेक्षणं तन्त्रयुक्तिः' इति हि वाक्यविदां निश्चयः ॥ १३० ॥

अथ—

परान्तं यावदाभाव्य नैवेद्यानि निवेदयेत् ।

परान्तं यावदाभाव्य इत्यनेन परमीकरणं कृत्वा नैवेद्यानि निवेदयेत्, इत्यादिशति । वक्ष्यति हि तृतीये पटले—

'मन्त्रसंधानमेतद्धि.......................।'

इत्युक्त्वा

'....................परमीकरणं शृणु ।
उच्चारयेत्ततो देवं ह्रस्वदीर्घप्लुप्तान्वितम् ॥
तावदुच्चारयेन्मन्त्रं यावन्निर्वाणगोचरम् ।' (३।२०-२१)

इत्यादि यावत्,

'सर्वेष्वावरणेष्वेव देवि तद्व्यापकं न्यसेत् ।
तेन चाधिष्ठिताः सर्वे सर्वकामफलप्रदाः ॥' (३।२४)

इत्येवमीदृशेषु स्थानेषु पूर्वापरं विमृश्य अनुसंधेयम् अथ च परान्तं यावदाभाव्य षट्त्रिंशत्तत्त्वमयत्वेन ध्यात्वा, नैवेद्यानि निवेदयेत् ब्रह्मार्पणदृष्ट्या भगवति अर्पयेत्, निवेदयेत् शिवमयानि जानीयादित्यर्थः ॥

मानसानि नैवेद्यानि उद्दिशति—

घारिका वटाकाँश्चैव शष्कुलीर्मोदकांस्तथा ॥१३१॥
खण्डलड्डुशरावाणि भक्ष्याणि विविधानि च ।
शाल्योदनं मुद्गसूपमाज्याक्तं संप्रकल्पयेत् ॥१३२॥
कौशल्यां मण्डजामूपांस्तथा क्षौद्रांशिरांसि च ।
घृताक्ताँश्चिल्लकांश्चैव लवणामपरिजल्पयेत् ॥१३३॥
अवदंशान्यनेकानि कटूनि मधुराणि च ।
रसालां च दधि क्षीरमासवं विविधं तथा ॥१३४॥
मत्स्यमांसान्यनेकानि लेह्यपेयानि यानि च ।
अग्रमापूरयेच्चजंभोर्एित्तशाठ्यविवर्जितः ॥१३५॥

'यद्यत्किचिन्मानसाह्लादि सर्वं तत्तद्युक्त्यैवानुसन्धाय पूर्वम् ।
विश्वाभेदाद्भैरवैकात्म तस्मिन् स्वस्मिन् सर्वं धाम्नि लीनं विदध्यात् ॥'

इति **नैवेद्यरहस्यम्** । वित्तशाठ्याविवर्जित इति बाह्ययागे योज्यम्, नहि मानसे यागे कृपणत्वं भवति कस्यचित् ॥ १३५ ॥

एवं कृत्वा भगवद्रूपस्य स्वात्मनः परमानन्दनिर्भरत्वमनुसन्धातुम्—

पाश्चादर्धः प्रदातव्यः सुरया सुसुगन्धया ॥

सुराया आनन्दहेतुत्वादेवमुक्तम् । ये तु **जात्युद्धारपरभैरवरूपत्वोन्मीलकेऽप्यस्मिन् भैरवनये सुराशब्द जलवाचिनमपि व्याचक्षते, ते जातिग्रहग्रस्ताः**

'मद्यं मांसं तथा मत्स्यानन्यानि च वरानने ।
साचारांश्च निराचारांल्लिङ्गिनो न जुगुप्सयेत् ॥' (५।१४८)

इति **भाविसमयोल्लङ्घिनः पशव एव** ॥

एवं च कृत्वा—

मुद्रां प्रदर्शयेत्पश्चात् त्रिधा त्रैकाल्यकर्मणि ॥१३६॥

'त्रैकाल्यकर्मणि' इत्यनुवादः । व्याकृतं चैतत् प्राक् ॥ १३६ ॥

प्रणिपातं ततः कृत्वा जपं पश्चात् समाचरेत् ।

वासनामात्रशेषस्यापि देहादेश्चिदात्मनि परभैरवे समावेशतं प्रणिपातः,

अन्यथा अन्तर्बहिश्च भैरवीभावे कृते कः कुत्र प्रणिपतेत् । जपोऽत्र भूयोभूयः परभैरवस्वरूपे विमर्शः ।।

कथमित्याह—

अक्षमालां तु संगृह्य गन्धैः पुष्पैः समर्चिताम् ।।१३७।।
वाङ्निरुद्धः सुचित्तात्मा राजीवासनसंस्थितः ।
मूलमन्त्रं समुच्चार्य नादे लीनं विचिन्तयेत् ।।१३८।।
उन्मील्याक्षाणि संचिन्त्य ततस्तु जपमारभेत् ।

समर्चितामिति 'ओं अक्षमालायै नमः' इति प्रयोगेण । राजीवासनसंस्थित इत्यनेन वक्ष्यमाणदिव्यकरणाधिरूढत्वं लक्ष्यते । अत एव पश्यन्त्यादिरूपा वाक् निरुद्धा मन्त्रामर्शमयीकृता येन, अत एव शोभनमविचालि चित्तं यस्य तादृगात्मा यस्य, मूलमन्त्रम् इति सकलं निष्कलं वा, सम्यगिति अक्षराक्षरसन्तानम् इति क्रमेण उच्चार्य ऊर्ध्वं चारयित्वा नाद इति

'नास्योच्चारयिता कश्चित्' (०।५९)

इति वक्ष्यमाणनित्योदितस्फुरत्तात्मनि लीनं तन्मयीभूतं विशेषेण तदनुप्रवेशात्मना चिन्तयेत् । कथम् ? अक्षाणि इन्द्रियाणि, उन्मील्य ऊर्ध्वं मीलितानि कृत्वा, संचिन्त्य मन्त्रदेवतां सम्यगात्मैक्येन चिन्तयित्वा, चिन्तयन्नेव जपमारभेत भूयोभूयो मन्त्रं विमृशेत् । उक्तं च—

'भूयोभूयः परे भावे भावना भाव्यते हि या ।
जपः सोऽत्र स्वयं नादो मन्त्रात्मा जप्य ईदृशः ।।'

इति श्रीवैज्ञानभैरवे (१४५ श्लो०) ।।१३८।।

अत्र च—

अक्षराक्षरसन्तानं न द्रुतं न विलम्बितम् ।।१३९।।
जपः प्राणसमः कार्यः

अक्षरादक्षरं सन्तानः प्रसरणं यत्र । तेन बीजाक्षराणां ह्रस्वदीर्घादि मात्राः मालामन्त्राणामक्षराणि चिच्छक्त्यात्ममन्त्रदेवतास्त्रगुम्भितानि विमृशेत् । यथोक्तम्—

'मन्त्रं मणिवदालम्ब्य प्रभावन्मन्त्रदेवताम् ।
जपध्यानादिकं कुर्यान्न ताटस्थ्येन कुत्रचित् ।।'

इति। न द्रुतम् इति ग्रस्तक्रमविधिं परिहृत्येत्यर्थः। न विलम्बितम् इति मध्ये मध्येऽत्यनुसन्धिशून्यमिति यावत्। 'प्राणसम इति मध्यवाहिना प्राणेनोल्लासप्रवेशात्मना समोमध्यवाही प्राणो यथान्तर्मान्त्रं परामर्शं सहत इत्यर्थः। तेन मालामन्त्रान् प्राणशक्तावंशांशिकात्वात्मक्रमेण क्रमात्क्रममधिकं नियोजयंस्तावदभ्यसेत्, यावत् समस्तमालामन्त्रपरामर्शं प्राणशक्तिरन्तः क्षमते। तथा सति हि कलाग्रासात्मकसंवित्सतत्त्वासादनं भवति। चतुष्कलप्रणवादीनि तु पिण्डाक्षराणि पञ्चप्रणवाधिकारवक्ष्यमाणव्याप्त्यनुसन्धानेनैव मध्यमप्राणसाम्येन उच्चारयन् जपेत्। उक्तं च—

'न पुंसि न परे तत्त्वे शक्तौ मन्त्रं नियोजयेत्।'

इति॥ १३९॥

एवमितिकर्तव्यतामुक्त्वा फलभेदं निरूपयति—

दिनस्थो मुक्तिकाङ्क्षिभिः।

हृदयादद्वादशान्तं प्राणवाहः दिनम्, तत्र तिष्ठति, इति निर्गर्भमपानवृत्त्या प्रविश्य मन्त्रगर्भमूर्ध्वप्राणान्ते विश्रान्तिपरो जपेदिति यावत्॥

संहारः स तु विज्ञेयः

समस्ताशेषसंहारात्॥

अत एव—

शिवधामफलप्रदः॥१४०॥

साधकाभिप्रायेण तु—

व्योम्नि प्राप्तो यदा नादः पुनरेव निवर्तते।
शर्वरी सा तु विज्ञेया हृदब्जं यावदागतः॥१४१॥
सृष्टिरेषा समाख्याता सर्वसिद्धिफलोदया।

व्योम्नि द्वादशान्ते, नाद इति तच्छेषीभूतो मन्त्रो निवर्तते इति द्वादशान्तावस्थितिलब्धोन्मेषवशादपानक्रमेणान्तर्विशेत्। सृष्टिरिति आप्यायकरत्वात्, सर्वेषामुत्तमादिसिद्धिफलानामुदयो यस्याम्। तेनैवं साधकैर्निर्गर्भमेव प्राणवृत्त्या मुक्तिप्रत्यूहपरिहाराय मुण्डान्तमाश्रित्य तत उन्मिषदपानशक्त्याश्रयेण हृत्प्राप्तिपर्यन्तं जपः कार्यः, उभयार्थिना तु उभयथापि, इत्य-

र्थान्मन्तव्यम् । इत्थं चास्य मन्त्रस्य अशुद्धतत्त्वसंहारशुद्धतत्त्वसृष्टिकारितया मुक्तिभुक्तिप्रदमेकमेव पूर्णं वीर्यम्, आराधकाशयभेदात्तु पृथग्विभज्य उपदिष्टम् ॥ १४१ ॥

एवं च कुर्वता—

आत्मनो भैरवं रूपं सदा भाव्यं वरानने ॥१४२॥
तस्य विघ्ना विनश्यन्ति जपश्च सफलो भवेत् ।

सर्वदशासु परभैरवचैतन्यरूपमात्मानं भावयतो विमृशतो विशेषेण घ्नन्ति मुक्तिसिद्धिप्राप्तीः, इति विघ्नाः पाशाः प्रतिबन्धकाश्च नश्यन्ति, अत एव जपो भुक्तिमुक्तिभ्यां सफलो भवेदेषां यथाभिप्रायम् ॥ १४२ ॥

जप्त्वा निवेदयेद्देवि भैरवाय वरानने ॥१४३॥
पूरकेण प्रयोगेण

हृदि स्थिताय भैरवाय द्वादशान्तात् प्रवेशरूपेण पूरकप्रयोगेण मुमुक्षुस्तु फलानभिसंधिसंबन्धिना 'भगवन् जपमेवंसंख्याकं गृहाण' इति निवेदयेत् ॥ १४३ ॥

कीदृशम्—

त्रिस्थं च त्रितयान्वितम् ।
त्रिसिद्धिसिद्धिदं देवी

त्रिषु उल्लासप्रवेशोभयात्मकेषु पदेषु तिष्ठति, इति यः, तथा वाङ्मनःप्राणात्मकेन त्रितयेनान्वितं युक्तम्, उत्तममध्यमाधमभेदात्त्रिरूपा या सिद्धिः साधकेभ्यः, तथा सिद्धिरेतद्विलक्षणा मुमुक्षोर्मुक्तिरूपा, तामुक्तवक्ष्यमाणयुक्त्या ददाति यः । त्रिसिद्धिरिति सिद्धिश्चेति योजयित्वा व्याख्येयम् ॥

किं च—

सरहस्यमुदाहृतम् ॥१४४॥

योजनिकायां पञ्चप्रणवाधिकारे च वक्ष्यमाणनीत्या मुमुक्षुबुभुक्षूणामूर्ध्वं द्वादशान्तमाहृतं प्रापितम्, ऊर्ध्वाच्चाहृतं हृदयान्तं प्रापितं सरहस्यं कैश्चिदेव विकसितमध्यमार्गैर्लभ्यमित्यर्थः ॥ १४४ ॥

सिद्धिवैशिष्ट्येनास्य साधकं प्रति विशेषं वक्तुमाह—

शान्तिके मानसो जप्य उपांशुः पौष्टिके स्मृतः ।
सशब्दश्चाभिचारेऽसौ प्रागुदग्दक्षिणामुखः ।।१४५।।

एतद्व्याचष्टे—

आत्मा न शृणुते यं तु मानसोऽसौ प्रकीर्तितः ।
आत्मना श्रूयते यस्तु तमुपाँशु विजानते ।।१४६।।
परे शृण्वन्ति यं देवी सशब्दः स उदाहृतः ।

मानसो मध्यमायां वाचि । उपांशुसशब्दौ तु सूक्ष्मस्थूलप्रयत्नायां वैखर्याम् । त्रयस्यास्य भोगहेतुत्वमन्यत्राप्युक्तम् —

'मध्यमो भोगमोक्षाख्य उपांशुः सिद्धिदायकः ।
वाचिको भूतविषजित् सशब्दश्चाभिचारिकः ।।'

इति । एवं वदन् पश्यन्तीपरावाग्भ्यां मुक्तौ जीवन्मुक्तौ च जपः कार्यः, इति सूचयति । उक्तं च—

'जीवन्मुक्तो परो ज्ञेयो मुक्तौ मुद्रितभेदकः ।'

इति ।। १४६ ।।

जपोपयोगिनीमक्षमालां निदर्शयति—

अष्टोत्तरशतेनैव अक्षमाला समेरुका ।।१४७।।
रुद्राक्षशङ्खपद्माक्षपुत्रजीवकमौक्तिकैः ।
स्फाटिकी मणिरत्नोत्था सौवर्णी वैद्रुमी तथा ।।१४८।।

एताश्च—

दशाक्षमाला देवेशि गृहस्थानां प्रकीर्तिताः ।

अष्टाभिरुत्कृष्टेन अधिकेन शतेन । एवकारेण अधिकसंख्याया व्युदासः, सप्तविंशतिचतुष्पञ्चाशत्संख्याया अपि भावात् ।।

यथाक्रमम्—

सूत्रं ध्यात्वा परां शक्तिमध्वभागांस्ततो मणीन् ।।१४९।।
व्यक्तिस्थानं शिवस्याध्वा ततस्तद्धर्मिणीं स्मरेत् ।

सप्तविंशतिभिः कुर्याद्विगुणैर्वा चतुर्गुणैः ॥१५०॥
समैस्तु संहृतैरेकं शिवतत्त्वात्मकं मुखे ।
न तं विलङ्घयेद्विद्वान् सृष्टिसंहारकारणम् ॥१५१॥

अत्र च नवानाम् अष्टादशानां वा षट्त्रिंशतो वा तत्त्वानां तत्त्वदीक्षायामिह मृत्युञ्जयादौ गणितानां परशक्तिशिवात्मकस्थूलसूक्ष्मपरभेदत्रैविध्यादेवंसंख्याकत्वमेव भवति, इति तत्र व्याप्तिरस्ति ॥ १५१ ॥

नैष्ठिकानामाह—

वीरस्थानरतानां हि वीराणां वरवर्णिनि ।
महाशङ्खाक्षसूत्रं तु सर्वकामफलप्रदम् ॥१५२॥

वीरस्थानं श्मशानादि, महाशङ्खं नरास्थि, वीरा निष्कम्पाः ॥१५२॥

एतत्तु—

गृहस्थेन न कर्तव्यमुद्वेगजननं परम् ।

यत एवम् —

तस्मात्तु स्फाटिकी माला जप्तव्या साधकोत्तमैः ॥१५३॥

साधकोत्तमैर्गृहस्थैः ॥ १५३ ॥

सा हि—

साधयेद्विविधान् कामानधमान् मध्यमोत्तमान् ।

विविधसिद्धिखगतिविद्यातत्त्वाद्याप्तिरूपान् । मुमुक्षोस्तु दशविधाक्षमाला उक्तैव ॥

उपसंहरति—

एवं हृदम्बुजावस्थो यष्टव्यो भैरवो विभुः ॥१५४॥
सबाह्याभ्यन्तरं कृत्वा पश्चाद्यजनमारभेत् ।

सह बाह्याभ्यन्तराभ्यां देहपुर्यष्टकभैरवत्वापादनाभ्यां वर्तते यो याग एक एव, न तु करयोर्देहे अन्तश्च अन्यान्यरूपो भैरवैक्यस्यैव प्राप्यत्वेन उपदेक्ष्यमाणत्वादिति । सबाह्याभ्यन्तरम इत्यैक्येन य उपसंहृतो यागश्चिद्भै-

रवेऽशेषविश्वार्पणात्मा, तं कृत्वा ह्यागप्रतिबिम्बकरूपं च लाह्ययागम् अभिसंधाय, इत्यपि च सबाह्याभ्यन्तरं कृत्वा इत्यस्यार्थः। पश्चादिति जपानन्तरम्—

महाशून्यालये वह्नौ भूताक्षविषयादिकम्।
हूयते मनसा सार्धं स होमः स्रुक् च चेतना ॥ (१४५)

इति **श्रीविज्ञानभैरवोक्तनीत्या** द्वादशान्ते मन्त्रस्मरणपूर्वकं विश्वभावार्पणरूपं होमं विधाय अन्तर्यागप्रतिबिम्बरूपं यजनमारभेत बाह्यमित्यर्थः ॥१५४॥

आत्ममन्त्रार्घपात्रमण्डलभैरवकुसुमादिद्रव्याणां कर्तृकरणपादानाधिकरणसंप्रदानकर्मकारकरूपाणां ब्रह्मार्पणदृष्ट्या परमाद्वैतापादनरूपबाह्यपूजनाभ्यासपरिनिष्ठया सर्वव्यवहारेषु सर्वकारकाणां चिद्भैरवैक्यं प्रत्यभिज्ञाप्यते, इति यद्बहिर्यागसतत्त्वं तत्प्रस्तावनाय कर्तृकरणसंस्कारात्मकान्तर्यागानन्तरं कर्मादिसंस्काराधायकापादनादिसंस्कारार्थमर्घपात्रविधिं तावदाह—

तत्रार्घपात्रमादौ वै सौवर्णं राजतं तथा ॥१५५॥
शाङ्खं शाम्बूकं शौक्तं वा ताम्रं मृण्मयमेव वा।
पद्मपत्रपलाशोत्थं गृहीत्वा क्षाल्य वारिणा ॥१५६॥
अस्त्रजप्तेन देवेशि प्रलिप्य गुरुचन्दनैः।
मृष्टधूपेन संधूप्य वारिणा पूरयेत्ततः ॥१५७॥
वस्त्रपूतेन शुद्धेन

अर्घपात्रं रक्षाधाम। तत्र इत्यन्तर्यागाद्भैरवीभावे जाते सति, आदाविति कुसुमादिसंस्कारार्थम्। सौवर्णादि मुमुक्षोर्यथासंभवम्। शम्बूकः सामुद्रः प्राणिविशेषः। पलाशो यज्ञियस्तरुः। आक्षालनं भेदशल्यापनयनम्। आपूरणम् अशेषविश्वमयीभावानम् ॥१५७॥

ततः—

ताडयेदस्त्रमुच्चरन्

वर्मावगुण्ठितं कृत्वा

अत्रानुक्तमप्यनेन मन्त्रेणाप्यायनममृतमुद्रया कार्यम् ॥

अनन्तरम्—

यागं तत्रैव विन्यसेत् ॥१५८॥

इज्यत इति याग मन्त्रगणः । अनेनैव चात्र पूजनमपि सूचितम् ॥१५८॥

कथम्—

पूर्वोक्तेन विधानेन

अन्तर्यागोक्तासनादिपूर्वं स्फुरत्तेजोरूपसकलमन्त्रैकादशिकानिष्कलतदङ्गन्यासयुक्त्येत्यर्थः ॥

ततोऽपि—

प्रोक्षयस्तेन समासतः ।

यागार्थो द्रव्यसंघातः

परावृत्त्यवष्टम्भेनावलोक्येति शेषः । प्रोक्षणम् अत्र तेजोमयत्वापादनम् ।

ततः पुष्पादिभिः शिरसि चिद्रूपैरवं पूजयित्वा—

ततो यजनमारभेत् ॥१५९॥

अत्र भूमिकां रचयति—

शक्तिं न्यस्य ततश्चादौ व्योमाकारां सुजाज्वलाम् ।
सकलव्यापिकां सूक्ष्मां शिवाधारांतु सर्वगाम् ॥१६०॥
ओङ्कारदीपितां देवीं नमस्कारावसानिकाम् ।

शिव आधार आश्रयो यस्यास्तां प्रथमोन्मेषरूपां विन्यसनीयाशेषासनादिभित्तिभूताम्, चिन्मात्रमूर्तित्वेन व्योमाकाराम् अनुपाधिज्ञत्वरूपस्फुरत्तया सुजाज्वलाम्, गर्भीकृताशेषविश्वतया सकलव्यापिकाम्, सर्वैरलक्ष्यत्वात् सूक्ष्माम्, आधारमासनपक्षम् आधेयं च शिवं प्राप्यावस्थिततत्वात् सर्वगां देवीं विश्वक्रीडादिप्रदर्शिनीं पारमेश्वरीं शक्तिमाधाररूपां परिकल्पनीयस्य अशेषस्य तदुत्थत्वेन शिवमयत्वमनुसंधातुम् उक्तवक्ष्यमाणव्याप्तिकेन ओङ्कारेण परभैरवरूपेणोत्तेजिताम् 'ॐ आधारशक्त्यै नमः' इति प्रयोगेण न्यस्य उत्तरं विधिमारभेतेत्यर्थः । एष च शक्तिन्यासः पूर्वत्र अन्तर्यागादावपि

स्मर्तव्यः ॥१६०॥

अनन्तं चैव विन्यस्य धर्मं ज्ञानं तथैव च ॥१६१॥
वैराग्यं च तथैश्वर्यमाग्नेय्यादिक्रमेण तु ।
अधर्मं च तथाज्ञानमवैराग्यमनैश्वरम् ॥१६२॥
संधानकीलकांश्चैव अधश्छादनमूर्ध्वगम् ।
पद्मं सकेसरं देवि कर्णिकां पुष्कराणि च ॥१६३॥
मण्डलत्रितयं देवान् शक्तिश्चापि शिवान्तकम् ।
मूर्तिं ब्रह्मकलाजालं नवतत्त्वं त्रितत्त्वकम् ॥१६४॥
भैरवाष्टकविद्याङ्गलोचनं क्षुरिकां तथा ।
शक्तित्रयं परं देवमङ्गषट्कसमन्वितम् ॥१६५॥
विन्यस्य भावयेद्देवि सततं विधिपूर्वकम् ।

विधिपूर्वकमिति पूर्वोक्तध्यानादियुक्त्येत्यर्थः । यदिहानुक्तं तत्पूर्वतोऽनुसंधेम्, यच्च पूर्वत्र नोक्तं तदितोऽनुसंधेयमधिकारभेदेनान्तर्बहिर्यागयोः पर्यायेण प्रकृतिविकृतरूपत्वात्, सर्वं चैतत्पूर्वं निर्णीतम् ॥१६५॥

निर्वर्त्य तु यथान्यायं प्रहृष्टेनान्तरात्मना ॥१६६॥
स्वागतं चार्घ्यपाद्यं च सन्निधानं तथैव च ।
रोधं निष्ठुरया कुर्यान्मूलमन्त्रमनुस्मरन् ॥१६७॥
पूजा सुविपुला कार्या गन्धधूपस्रगादिभिः ।
मुद्रां प्रदर्शयेत् पश्चात् त्रिधा त्रैकाल्यकर्मणि ॥१६८॥
तत आवरणं बाह्ये विनिवेश्यं वरानने ।
ईशपूर्वयाम्यसौम्यवरुणान्तं प्रकल्पयेत् ॥१६९॥
वक्त्राणां पञ्चकं देवि स्वध्यानगुणसंयुतम् ।
आग्नेयैशानरक्षःस सामीरैन्द्रदिशोरपि ॥१७०॥
उत्तरान्तं निवेश्यं तु अङ्गानां पञ्चकं तथा ।

नेत्रं तु कर्णिकायां वै पूर्वस्यां दिशि संस्थितम् ॥१७१॥

एतदपि पूर्वमेव व्याख्यातम्। प्रहृष्टेनान्तरात्मने इति भैरवाशेष (वेश) मयेनेत्यर्थः। अत्र पूर्वं श्रीमदघोरेश्वरीन्यासः स्मर्तव्यः। सामीरैन्द्र-दिशोरपि उत्तरान्तम् इत्यत्रेन्द्रदिश उत्तरान्तं चतुर्दिक्कमस्त्रं कल्पयेदिति योज्यम्। यथोक्तं पूर्वम्—

अग्नीशरक्षोवायव्यचतुर्दिक्षु च तं न्यसेत्' (२।१०८)

इत्यादि ॥१७१॥

सर्वत्र व्यापकं विधिमाह—

स्वमन्त्रेण तु सर्वेषामर्घ्यं पाद्यं समाहितः।

दद्यादिति शेषः॥

समाहितत्वं स्फुटयति—

मन्त्रसंकरपुष्पाणि न कुर्यात् साधकः सदा ॥१७२॥
न बाहुं पृष्ठतो वापि मन्त्राणां परिकल्पयेत्।
परिपाट्या तु दातव्यं न मन्त्रांल्लङ्घयेत् क्वचित् ॥१७३॥

मन्त्राणां संकरो यत्र तादृंशि पुष्पाणि न कुर्यात्, नान्यमन्त्रेणान्यमर्चयेदित्यर्थः। तदित्येवं कृते सति साधकः परसिद्धिपात्रं भवतीत्यर्थः ॥१७३॥

एवं च—

स्वमुद्रामन्त्रसंयुक्तान् युगपत् परिकल्पयेत्।

ध्यानपूजादौ स्वमुद्राभिश्च मन्त्रैश्च संयुक्तान् देवान् परिकल्पयेत्। येषां विशिष्टमुद्रा नोक्तास्तेषाम्—

'कपालं चैव खटाङ्गमनुक्तेषु प्रदर्शयेत्' (१४।२०)

इति भाविनं विधिं स्मरेत्॥

पूजा सुविपुला कार्ये इत्युक्तम्, असंभवद्वित्तस्तु किं कुर्यादित्याह—

अर्घ्यं पाद्यं च धूपं च नित्यं तावत् समाचरेत् ॥१७४॥
सर्वेषामेव मन्त्राणां विधिरेष प्रकीर्तितः।

वित्तशाठ्यवर्जं नित्यं पूजयेत्, सर्वथा वित्ताभावे तूक्तशाम्बूकादिनापि वा मनसैवापि पूजयेदित्यर्थः ॥१७४॥

एवमसंभवद्वित्तविषयामर्घ्यपाद्यपूजादिसंपाद्यां पूजां प्रसङ्गादुक्त्वा प्रकृतमनुबध्नाति—

भैरवाष्टकलोकेशान् सास्त्रान् संपरिकल्पयेत् ॥१७५॥

अथ—

बाह्ये श्मशानविन्यासं प्रणवादिनमोन्तगम् ।
पूर्वादीशानपर्यन्तं कल्पयेत विधानतः ॥१७६॥
आमर्दकं च पूर्वं वै श्मशानाधिपतिं विभुम् ।
श्मशानैः सकबन्धैश्च सशूलोद्बन्धभीषणैः ॥१७७॥
चितिभिः प्रज्वलन्तीभिः शिवारावैः सुभीषणैः ।
अग्निकं दक्षिणे भागे कालाख्यं पश्चिमे तथा ॥१७८॥
एकपादं तथा सौम्ये आग्नेय्यां त्रिपुरान्तकम् ।
नैर्ऋत्यामग्निजिह्वं तु वायव्यां तु करालिनम् ॥१७९॥
ऐशान्यां भीमवक्त्रं तु श्मशानेशाः प्रकीर्तिताः ।

एते च **श्रीकामरूपोज्जयिनीकाश्मीरकाञ्चीकरवीरदेवीकोट्टोड्डियान-हिरण्यपुरवासिनः**, इत्याम्नायादेतदाधारपीठादिपूजाऽर्थसिद्धैव । अत्र श्मशानैः सकबन्धैरित्यादि सर्वश्मशानसाधारणम् । इत्थंभूतलक्षणे चैतास्तृतीयाः ॥१७९॥

एतांश्च—

तर्पयेन्मत्स्यमांसाद्यैरासवैर्विविधैस्तथा ॥१८०॥
गन्धं पुष्पं तथा धूपं सर्वेषां तु प्रदापयेत् ।

श्मशानानि ह्यागे नोक्तानि मा भूद्देहशोष इति, एवमुग्रत्वादादौ मत्स्यादिभिस्तर्पणं ततः पूजा, एतानि यतिविषयाण्येव । अत्र च पक्षे लोकपालास्त्रावरणे पृथक्कार्ये, यथा च पञ्चावरणा पूजा भवति ॥१८०॥

अत्र च—

प्रणिपातं ततः कृत्वा जप्त्वा मन्त्रं सुभावितः ॥१८१॥

रेचकेन प्रयोगेन निवेद्य विधिपूर्वकम् ।
हुड्डुङ्कारनमस्कारान् कृत्वा चैव ततो व्रजेत् ॥१८२॥
अग्निकुण्डसमीपं तु अर्घहस्तः सुभावितः ।

मन्त्रमिति मूलमङ्गसहितम्, रेचकेन विधिपूर्वकम् इति द्वादशान्तारोहतद्विश्रान्तितदवरोहपूर्वं नासाग्रेण जप्तं मन्त्रं सपुष्पं भगवञ्जपं गृहाण' इति प्रयोगेणार्पयेत् । भक्तिवैवश्योन्मिषन्नादामर्शमयो ध्वनिर्मुखवाद्यापरपर्यायो हुडुंकारः ॥१८२॥

कुण्डसंस्कारानाह—

कुण्डं तु लक्षणोपेतं प्रोक्षयेदस्त्रवारिणा ॥१८३॥
कवचेनावगुण्ठ्यैतदस्त्रदर्भेण चोल्लिखेत् ।
उद्धृत्य प्रोक्षयेत् पश्चादस्त्रमन्त्रेण भामिनि ॥८१४॥
पूरणं तेन कर्तव्यं समीकरणमेव च ।
सेचनं कुट्टनं चैव लेपनं तेन कारयेत् ॥१८५॥
प्रोक्षणं शोषणं चैव तथास्त्रेणैव कारयेत् ।

लक्षणोपेतं प्रतिष्ठाशास्त्रादिनिरूपितमानस्वरूपम् । परदृगवलोकनानन्तरं प्रोक्षणं शुद्ध्यर्थमवगुण्ठनं रक्षार्थम् इति सर्वत्रानुमन्तव्यम्, प्रोक्षणविशेषात् संताडनं तेनैव संगृहीतम् । एते च प्रोक्षणादयः शोषणान्तास्त्रयोदश कुण्डनिष्पत्त्यवसरे निष्पन्नेऽपि वा तत्र क्रियाशक्त्यात्मपरमेश्वररूपसंपत्तये भावनया कर्तव्याः । उल्लिखेत् खनेत् । उद्धरणम् अशुद्धमृदपासनम् संमार्जनं रजोनिवारणम् ॥१८५॥

अनन्तरम्—

पूजनं गन्धपुष्पाद्यैः

ॐ क्रियाशक्त्यात्मने कुण्डाय नमः' इति प्रयोगेण ।

अथात्र वागीश्वर्यवतारयोग्यतां कर्तुमस्त्रेणाभिमन्त्रणवज्रीकरणगृहीकरणानि वक्तुमाह—

असिना चाभिमन्त्रणम् ॥१८६॥

वज्रीकरणमस्त्रेण

तदेव व्याचष्टे—

रेखाः पूर्वापरास्त्रयः ।
याम्यसौम्यमुखी चैका वज्रमेतत् प्रकीर्तितम् ॥१८७॥

त्रय इति लिङ्गव्यत्ययात्, उल्लेखनव्यापारेणैतत्कार्यम् । यद्वा पूर्वापरायतदर्भत्रयमध्ये दक्षिणोत्तरायतं दर्भकाण्डमेकं क्षिप्त्वा वज्रसंस्थानेन कुण्डस्य दाढर्यं जनयेत् ॥१८७॥

किं च—

असिनैवाग्निकुण्डं तद्दर्भैः पूर्वाग्रसंस्तरैः ।
सबाह्याभ्यन्तरं छाद्यं गृहहेत्वर्थमीश्वरि ॥१८८॥

निर्विघ्नं गृहं संपादयितुम् ॥१८८॥
अथ वागीश्या महत्तरकस्यासनं निरूपयति—

कुण्डस्य दक्षिणे भागे शुष्कगोमयमासनम् ।
दर्भेण विष्टरं पुष्पं प्रणवेन प्रकल्पयेत् ॥१८९॥

कुण्डान्तर्दक्षिणे गोमयासनोपरि दार्भं विष्टरं तदुपरि पुष्पं ॐ ब्रह्मासनाय नमः इति दद्यात् ॥१८९॥

एतदुपरि महत्तरमाह—

स्वनामपदसंयुक्तं स्वध्यानेन नमोन्तगम् ।
आमन्त्रणपदेनैव ब्रह्माणं स्थाप्य पूजयेत् ॥१९०॥
पुष्पादिभिः सुधूपाद्यैर्ध्रुवेण तु यथाक्रमम् ।

अत्र च ॐ ब्रह्मन् संनिहितो भव नमस्ते' इति प्रयोगः ॥१९०॥

अत्र गृहमध्यलाभार्थमाह—

चतुष्पथं कुण्डमध्ये दर्भाभ्यां प्रणवेन तु ॥१९१॥
पूर्वसौम्याग्रभागाभ्यां विष्टरं तस्य चोपरि ।

पुष्पं तस्योपरिष्टात्तु हृदयेनैव पूजयेत् ॥१९२॥
वागीशीं च समाहूय प्रणवादिनमोन्तगाम् ।

हृदयेन नैष्कलेन, वागीशस्येयं वागीशी पराशक्तिः, आह्वानामन्त्राण-विभक्त्या पश्चाद् नमस्ते इति सर्वत्र प्रयोगः ॥१९२॥

अस्या ध्यानपूर्वां पूजामाह—

नीलोत्पलदलश्यामामृतुमच्चारुलोचनाम् ॥१९३॥
सर्वलक्षणसंपूर्णां सर्वावयवभूषिताम् ।
ध्यात्वा चैवंविधां देवीं स्थापयेत् कुण्डमध्यतः ॥१९४॥
ऋतुकाल इवोत्तानां शिरसैशानसंस्थिताम् ।
पूजयेद् गन्धपुष्पाद्यैर्भवमन्त्रमनुस्मरन् ॥१९५॥

देवीं द्योतमानां वाक्शक्तिम्, कुण्डस्य क्रियाशक्त्यात्मनो मध्ये, स्थापयेद् अवस्थितिं बन्धयेत्। उत्तानाम् ऊर्ध्वधाम्नि प्रसारात्मकतनन-रूपाम्, अत एव चारु लोचनं प्रकाशो यस्याः। नीलोत्पलश्यामलत्वं तु मायीयरूपापेक्षमस्याः। ऋतुकालः शुद्धविद्यात्मवह्न्यादिजननौन्मुख्यम्, शिरसा पराख्पेण, ऐशाने स्वातन्त्र्यभट्टारके, संस्थितां नित्यसंबद्धामीशानदिशि निष्ठशिरसं च। किं कुर्वन् भवति तेन तेन सकलब्रह्मभङ्ग्यादिरूपेण भवो निष्कलभट्टारकस्तस्य मन्त्रमनुस्मरन् तत्सत्तासमाविष्टः ॥१९५॥

किं च—

ततो मुद्रां दर्शयेत संनिधानाय मन्त्रवित् ।

मुद्रां योन्याख्याम् ॥

ततोऽग्निपात्रमादाय शिवाम्भोऽस्त्रेण प्रोक्षयेत् ॥१९६॥
कवचेनावगुण्ठ्यापि प्रणवेनैव पूजयेत् ।
अरण्यादिसमुद्भूतं लोकाग्न्यन्तं विधानतः ॥१९७॥

अग्निमित्युत्तरस्थं काकाक्षिवदिहापि संबन्ध्यम् ॥१९७॥

अथ—

अग्निं तु शुक्रवद् ध्यात्वा चैतन्यं प्रणवेन तु ।

कल्पयेदस्येति शेषः । नासापथेनाग्निं प्रवेश्य स्वचैतन्यैकीकारं नीत्वा रेचयेदिति गुरवः ॥

ततोऽपि—

षडङ्गेनैव संपूज्य अमृतत्वं ध्रुवेण तु ॥१९८॥

ध्रुवेण इति परचैतन्यमन्त्रेण श्रीनिष्कलेन षडङ्गेनैव परामृतापादनरूपं पूजनमस्य कुर्यादित्यर्थः ॥१९८॥

अथ—

आत्मानं भैरवं ध्यात्वा अग्निं ध्यात्वा तु बीजवत् ।
ध्रुवेण कुण्डबाह्ये तु त्रिधा भ्राम्यावतारयेत् ॥१९९॥
योनौ तु बीजवत् क्षिप्त्वा भैरवेण शिवाम्भसा ।
अस्त्रमुच्चार्य संप्रोक्ष्य योनिं प्रच्छादयेद् बुधः ॥२००॥
दर्भेण ध्रुवमन्त्रेण

त्रिधा भ्राम्य इति योन्याकारसंपुटगृहीतं पात्रं सव्यापसव्यक्रमेण त्रिधा योनिक्षोभार्थमाभ्राम्य अवतारयेद् योनिं प्रापयेत् । भैरवेण तु श्रीनिष्कलेन । ध्रुवमन्त्रेण इति प्रणवेन तदुच्चमेखलासंस्थैः प्रागग्रैरुदगग्रैर्हुतभुग्वेश्मनो दर्भैरक्षवाटं प्रकल्पयेत् । श्रीमन्त्रराजे इत्थमूर्ध्वमुखैः इति चोपकल्पितमुपेक्ष्यम् । बुद्धः शिवसमावेशैकशाली । आत्मनो हेतुकर्तृत्वं शिवस्य तु मुख्यकर्तृत्वम् इत्यादिव्याख्यानमसत्, शिवीभूतस्यैव शिवयागेऽधिकृतत्वात् कैवात्र पशुभावशङ्का, पशुत्वे वा कथं मोचकता,

मन्त्राः करभूतास्तु पशुकार्यस्य साधने ।
आचार्यः करणं प्रोक्तः शिवरूपो यतः स्मृतः ॥' (३।१६०)

इत्यादिना च वक्ष्यमाणेन का संगतिरित्यास्तामेतत् । **अयं तत्र रहस्यार्थोऽद्याप्यनुन्मुद्रितोऽस्मद्गुरुवक्त्रपारम्पर्यायातः प्रकाश्यते—**

परावाङ्माहेशी जगदजनयत् स्वाप्रथनतो
विशुद्धान्तर्धामा विकृतिकलनाग्रस्तविभवम् ।

श्रितज्येष्ठास्फारात्तनितततनुरेषा तदुचितं
शिशुं दष्टया रौद्रया प्रथयति शिवाभेदसरसम् ॥
अतः पूर्णाहन्तामृतरससमास्वादसुहितः
शिवावेशाद्वाचं शिवरसपरौन्मुख्यमुभगाम् ।
स्ववीर्येणाक्रम्य प्रवरगुरुरग्न्यादि निखिलं
शिवैकात्मस्वात्मद्युतिमयमयं संजनयति ॥

इति ॥२००॥

किं च—

अक्षवाटं ततो न्यसेत् ।
अस्त्रेणैव चतुर्दिक्षु दर्भैरेव प्रकल्पयेत् ॥२०१॥

देव्या गुप्त्यर्थमक्षवाटं जवनिकास्थानीयं रक्षार्थमूर्ध्वमुखैर्दर्भैर्न्यसेत् ॥२०१॥

अथान्तर्वन्त्या देव्याः—

सप्तवारास्त्रमन्त्रेण दर्भेणैव तु कङ्कणम् ।
दक्षहस्ते तु बध्नीयादस्त्रमन्त्रमनुस्मरन् ॥२०२॥
रक्षार्थमग्निगर्भस्य

ॐ कङ्कणं बध्नामि नमः' इत्यूहमन्त्रोऽत्र । एवं सर्वत्र कर्मौचित्येनोहमन्त्राः कर्तव्याः । दक्षहस्ते पुंगर्भार्थं कङ्कणबन्धः ॥२०२॥

एवं प्रोक्षणावगुण्ठनोल्लेखनोद्धरणप्रोक्षणादिशोषणान्तैस्त्रयोदशभिः संस्कारैः कुण्ड संस्कृत्य संपूज्य, अस्त्राभिमन्त्रणवज्रीकरणकुण्डाच्छादनात्मसंस्कारत्रयं गृहहेत्वर्थं कृत्वा, ब्रह्मण आसनावाहनपूजनानि विधाय, गृहमध्यलाभाय चतुष्पथं कृत्वा, वागीस्यावाहनासनपूजनशुक्रध्यानचैतन्यापादन(अमृती) करणविशेषध्यानत्रिराभ्रमणयोनिप्रक्षेपान् नव संस्कारान् प्रकल्प्य, पुनर्वागीश्याः प्रोक्षणयोनिप्रच्छादनाक्षवाटकल्पनकङ्कणबन्धांश्चतुः—संस्कारान्विधाय, अग्नेर्दीक्षादिकर्मसंपत्तिसमर्थं मान्त्रं देहं संपादयितुं वक्त्राङ्गक्रमाद्ग र्भाधानादिसंस्कारानाह—

गर्भाधानमतो भवेत् ।

अपरास्यत्रिराहुत्या पूजनं हृदयेन तु ॥२०३॥
हृदा त्रिराहुतिं दत्त्वा गर्भाधानं कृतं भवेत् ।

प्रणवपूर्वं पश्चिमवक्त्रबीजं लकारमुच्चार्य 'गर्भाधानं करोमि स्वाहा' इति त्रिः कृत्वा हृदयेन नैष्कलेन गर्भाधानं संपद्यतां स्वाहा' इति त्रिर्जुहुयात् एवमुत्तरत्रानुसंधेयम् । अत्र 'पूजनं हृदयेन तु' इति मध्यग्रन्थः पूर्वं योज्यः, तेनादावङ्गमन्त्रेण 'अग्निगर्भाय नम.' इत्यर्चनम्: ततो वक्त्रमन्त्रेणाहुतित्रयम् ततस्तेनैवाङ्गमन्त्रेणाहुतित्रयम्, उत्तरत्र ईदृश एव क्रमस्य भावात् ॥२०२॥

पुंसवनमाह—

हृदा वै जलबिन्दुं तु दर्भाग्रेणात्र पातयेत् ॥२०४॥
गन्धपुष्पादिभिः पूजां शिखया कारयेत्ततः ।
त्रिराहुतिं चोत्तरेण शिखया च त्रिराहुतिम् ॥२०५॥
पुंसः कल्पनमेवं हि न स्त्रीगर्भे तु जन्यते ।

जलबिन्दुं पुर्यष्टकरूपं जीवमभिसंधातुं 'पुमान् भव नमः' इत्यन्तेन प्रयोगेण अत्रेत्याहिते गर्भे क्षिपेत् । शिखया नैष्कल्या, उत्तरेणेति वकारेण । पुंस्त्वमुपचयः कार्ये शक्तत्वम्, अपचयः स्त्रीत्वम् ॥२०५॥

अथ—

सीमन्तं दक्षिणास्येन दर्भाग्रेण प्रकल्पयेत् ॥२०६॥
ग्रीवामंसौ कटिं चैव बाहू जङ्घे प्रकल्पयेत् ।
प्रत्यङ्गानि च संकल्प्य सीमन्तोन्नयनं भवेत् ॥२०७॥

पुर्यष्टकोपरि स्थूलदेहप्रविभागमात्रमिह सीमन्तः । दक्षिणास्यम् अघोरवक्त्रमन्त्रः, प्रत्यङ्गानि करोदरचरणाङ्गुल्यादीनि ॥२०७॥

अत्र च—

गन्धपुष्पादिभिः पूजा शिरसा चाहुतित्रयात् ।
पूर्वमध्यापरान् वह्नौ त्रीन् भागान् परिकल्पयेत् ॥२०८॥
मुखहृत्पाददेशांस्तु होमात्तच्च त्रितत्त्वकम् ।

पूजेति कार्या, शिरसेति काकाक्षिवत्। आहुतित्रयाद्धोमादिन्येकवाक्यता। तच्चैतद्भागत्रयं शिवविद्यानराख्यतत्त्वत्रयरूपम्। मुखेन मूर्धा, पादाभ्यां गुह्यमाक्षिप्तमित्येषैवात्र दण्डभङ्गिः ॥२०८॥

प्रत्यङ्गानीति यदुक्तं तद्विभक्तुं कवाटवक्त्रादि न्यसिन् कवाटन्यासं तावदाह—

शिरांसि पञ्चाहुत्यैव ऊर्ध्वास्येन त्रिभिस्त्रिभिः ॥२०९॥

कल्पयेदिति शेषः। शिरांसि कवाटानि, ऊर्ध्वास्येन क्षकारेण। अत्र च सुतारिण्याद्याः प्राग्वत् कला अनुसंधेयाः ॥२०९॥

अथैतदनूद्य वक्त्रकलाभिर्वक्त्रकल्पनामाह—

पञ्चवक्त्रं तु संकल्प्य मध्यप्राग्याम्यसौम्यकम्।
अपरं चाप्याहुतिभिः पूर्वास्येन त्रिसंख्यया ॥२१०॥
वक्त्राणां निष्कृतिं तद्वदाहुतीनां त्रिसंख्यया।

'पञ्चमं यद्भवेद्वक्त्रं क्षकार' (स्व० १।४९) इति पूर्वमुक्तत्वाद् आदौ मध्यममूर्ध्ववक्त्रं क्षकारेण शान्त्यतीतानुसंधानेन प्रकल्प्य, पश्चात् पूर्वास्येन यकारेण वक्त्रचतुष्टयं शान्त्यादिकलानुसंधिना प्रत्येकं तिसृभिराहुतिभिः कल्प्यम्, मध्येत्यादावुक्तत्वाद् आदौ मध्यमवक्त्रन्यासः। एतच्च सर्वत्रानुसंधेयम् ॥२१०॥

किं च—

नेत्रं नेत्रेण संकल्प्य मुखेष्वेवं त्रयं त्रयम् ॥२११॥
आहुतित्रितयेनैव

नेत्रेण सकलनेत्रमन्त्रेण ॥२११॥

एतच्च—

तिलैः सर्वं तु कारयेत्।

सर्वमित्यग्निसंस्कारजातम्, आज्यं तु निष्पन्नस्य शिवाग्नेस्तर्पणाय, निष्पत्तिश्चास्य भैरवरूपस्यैवेति ॥

ततः कलासमूहं च पञ्च चाथ चतुष्टयम् ॥२१२॥

सीमन्तोन्नयनमध्य एव तद्वक्त्रकलादिन्यासस्तन्त्रान्तरवैलक्षण्येनेहोक्तः ॥२१२॥

एवमीशानपुरुषकलाभिः प्रत्यङ्गन्यासमुक्त्वा अघोरकलाभिराह—

अष्टाङ्गानि तथा त्रीणि दश चाष्टावनुक्रमात् ।

शेषास्यैः संप्रकल्प्यैवं कलामूर्तिस्ततो भवेत् ॥२१३॥

अङ्गानि 'हृदि ग्रीवा' (१।५०) इत्यादिप्रागुक्तानि । एवमिति प्रत्यङ्गम्, तत्तत्कलानुसंधिनाहुतित्रयेण । कला मूर्तिर्यस्येति बहुव्रीहिः ॥२१३॥

अथात्रैव—

अङ्गानि विन्यसेत् पश्चाद् हृदाद्यानि यथाक्रमम् ।

नेत्रस्योक्तत्वात् तद्वर्जितानि सकलाङ्गानि तन्मन्त्रैर्न्यसेत् । एव 'प्रत्यङ्गानि संकल्प्य' इति यदुक्तम्, तदेव पूर्वमध्येत्यादिना श्लोकषट्केन विभक्तम् ॥

एवमेतत्सर्वं कृत्वा—

त्रिराहुतिं दक्षिणेन

दक्षिणवक्त्रमन्त्रेण 'सीमन्तोन्नयनं करोमि' इत्यन्तेन दद्यात् ॥

अथ—

शिरसा चाहुतित्रयम् ॥२१४॥

चकारोऽनेनैवादौ पूजां कुर्यात्, इति प्रस्तावपूरणं ध्वनति । यत्तु – गन्धपुष्पादिभिः पूजा शिरसा चाहुतित्रयात्' (२।२०८)

इति पूर्वोक्तम् तद्भागत्रयकल्पनया त्रितत्त्वकल्पनार्थम् ॥२१४॥

उपसंहरति—

सीमान्तोन्नयनं ह्येवं

एवं विभक्तावयवस्याग्नेः

जातकर्म त्वथोच्यते ।

अस्त्रेण वीजयेदग्निमस्त्रेणैव तु पूजयेत् ॥२१५॥

त्रिराहुतिं तु पूर्वेण अस्त्रेणैवाहुतित्रयम् ।

एवं मन्त्रद्वयेनैव जातकर्म कृतं भवेत् ॥२१६॥

वीजनं प्रसवाभिमुखीकरणम्, पूर्वेण यकारेण ॥२१६॥

एवं गर्भाधानसीमन्तोन्नयनजातकर्माणि कृत्वा—

अस्त्रेण प्रोक्षयेत् कुण्डं सद्यः सूतकशुद्धये ।

आपादितशिवभावोऽपि दीक्षादिसंपत्त्यर्थं यतोऽग्निः शरीरं ग्राहितस्त-तश्चिदात्मनो देहग्रहः सूतकरूपः सर्वाशुद्धिप्रथमाङ्कुरः शोध्य एव ॥

जातस्याग्नेः—

वक्त्राण्युद्धाटयेत् पश्चाद्वक्त्रेणैवाहुतित्रयात् ।

उद्घाटनं विकासः ।

यथा—

वक्त्राणि शोध्यान्यसिना आहुतित्रययोगतः ॥२१७॥

प्रतिवक्त्रं स्वमन्त्रेण परामृश्य 'शोधयामि' इत्यूहान्तेऽस्त्रमुच्चार्य त्रिर्जुहुयात् ॥२१७॥

तथा—

वक्त्राभिधारो वक्त्रैस्तु वक्त्रे वक्त्रे त्रयं त्रयम् ।

वक्त्रेष्वभिधारो दीप्तिः । त्रयं त्रयमिति आहुतीनां दद्यादिति शेषः ॥

वह्नेः संरक्षणार्थं दिक्षु देवतान्यासं प्रस्तोतुमाह—

प्रोक्षयेत् कुण्डपार्श्वानि सास्त्रेणैव शिवाम्भसा ॥२१८॥

दर्भानास्तीर्य पूर्वाग्रान् दक्षिणोत्तरसंस्थितान् ।

सौम्याग्रान् पूर्ववारुण्योः परिधीन् विष्टरांस्तथा ॥२१९॥

हस्तमात्राः शाखाः परिधयः । समध्यग्रन्थि दार्भमासनं विष्टरः ॥२१९॥

एवं क्रमात्क्रमनन्तर्दर्भपरिधिविष्टराः—

अस्त्रमन्त्रेण ते सर्वे

न्यसनीयाः ।

तत्र—

ब्रह्माणं पूर्वविष्टरे ।

रुद्रं च दक्षिणे स्थाप्य विष्णुं पश्चिमविष्टरे ॥२२०॥

सदाशिवं चोत्तरेऽथ स्वनामपदचिह्नितम् ।

आदौ ध्रुवं स्मरेद्देवि नमश्चान्ते प्रकल्पयेत् ॥२२१॥

गन्धपुष्पादिभिः पूज्याः स्वरूपं तेष्वनुस्मरेत् ।

पष्टम् ॥२२१॥

ततोऽप्यन्तः—

मेखलोपरि लोकेशान् पूजयेत् प्रणवेन तु ॥२२२॥

एवं च—

रक्षार्थं जातबालस्य ब्रह्माद्याः पूजितास्तु ये ।

ततः कङ्कणकं मुक्त्वा दक्षहस्तव्यवस्थितम् ॥२२३॥

पुष्पं संगृह्य देवेन शिवाग्नेर्नाम कल्पयेत् ।

गर्भस्य जातत्वाद्रक्षान्तरस्य च विहितत्वाद् गर्भरक्षाया अधिकारो निवृत्त इति कङ्कणमोक्षः । देवेन मूलमन्त्रेण सप्रणवेन 'शिवाग्निर्भव नमः' इति नामकल्पनम् ॥२२३॥

अथ—

कवचेनोपचारं तु गन्धपुष्पादिधूपकैः ॥२२४॥

कवचेन नैष्कलेन 'शिवाग्नये नमः' इत्यन्तेन उपचारं पूजां कुर्यात् ॥२२४॥

अत्र—

ऊर्ध्वास्येनाहुतीस्तिस्रः कवचेन त्रयं पुनः ।

प्राग्वद्हृमन्त्रेण दद्यात् । एवं सूतकशुद्धिवक्त्रोद्घाटनवक्त्रशुद्धिवक्त्राभिधारविष्टरादिन्यासदेवतास्थापनतदर्चनकङ्कणमोक्षणान्यष्टौ अवान्तरसंस्कारान् कृत्वा नामकरणाख्यः पश्चिमः संस्कारः कृतः ॥

अथ—

शिवनामाङ्कितं वह्निं जनयित्वा सुरांस्ततः ॥२२५॥

विसर्जयेत्तु स्वस्थानं सावित्रीं प्रणवेन तु ।

पुष्पादिभिः समभ्यर्च्य होमैरेव त्रिभिस्त्रिभिः ॥२२६॥

तुश्चार्थे भिन्नक्रमः । तेन सुरान् ब्रह्मादीन् सरस्वतीं च प्रणवादिस्वनामभिरभ्यर्च्य प्रत्येकमाहुतित्रयेण संतर्प्य 'क्षम्यताम्' इत्युक्त्वा विसर्जयेत् ॥२३६॥

अथ—

धाम्नैवेध्मास्तु होतव्या हस्तमात्रप्रमाणतः ।

चतुर्विंशतिसंख्याताः शिवाग्नेस्तर्पणाय तु ॥२२७॥

धाम्ना निष्कलेन । इध्मा अस्फुटिता ऋज्व्यः सत्वचः शाखाः ॥२२७॥

एवं तिलैः संस्कारानुक्त्वा आज्यकार्यान् संस्कारान् प्रस्तोतुमाज्यप्रक्षेपकरणस्रुक्स्रुवसंस्कारार्थमाह —

स्रुक्स्रुवौ संप्रताप्याग्नौ शिवाम्भोऽस्त्रेण प्रोक्षयेत् ।
कवचेनावगुण्ठ्यैतौ शिवाग्नौ भ्रामयेत् त्रिधा ॥२२८॥

अस्त्रेण मार्जयेदद्भिर्दर्भाग्रेणाथ संस्पृशेत् ।
पुनरग्नौ परिभ्राम्य प्रोक्षयेत्तौ शिवाम्भसा ॥२२९॥

दर्भमध्येन संस्पृश्य भूयोऽग्नौ भ्राम्य तापयेत् ।
शिवाम्भसा मार्जयित्वा दर्भमूलेन संस्पृशेत् ॥२३०॥

स्रुक्स्रुवाभ्यां ततो मूलं स्थापयेत्तावधोमुखौ ।
दर्भाणां पृष्ठतः पूज्यौ दक्षिणेऽग्नेः सदा बुधैः ॥२३१॥

मार्जनं प्रोक्षणमेव, तापनं काष्ठादिभावनिवारणाय । यथोक्तम्—
..................तापयेत्तेजसि त्रिधा ।
संजातौ तेन संतप्तौ काष्ठभावपराङ्मुखौ ॥ इति ।

सृष्टिक्रमेणात्र दर्भस्याग्रमध्यमूलैस्तदग्रमध्यमूलस्पर्शेन त्रिर्भ्रमणेन च इच्छादिशक्तित्रयमयत्वमनयोर्जायते । स्रुक्स्रुवाभ्यामिति स्रुक्स्रुवयोरित्यर्थः । संस्कारद्वादशकानन्तरं पूज्यावधोमुखाविति सृष्टयुन्मुखत्वाभिप्रायेण । अग्नेर्दक्षिणे होतुर्वामे, इति दीप्त्याप्यायनाभ्यामनयोर्युगपत्यसंबन्धेनाग्नीषोममयत्वापत्तिः ॥२३१॥

अथ—

आज्यसंस्करणं कुर्यादाज्याधिश्रयणादिकम् ।

अधिश्रयणं संप्रोक्षिते पात्रे प्रस्रुतस्य स्थापनम् । क्वचिदधिस्रवणमिति पाठः । तत्राधिकरणभाण्डे तापनमित्ययमर्थः ॥

आदिशब्दसूचितान् संस्कारानाह—

आज्यं संप्रोक्ष्य चास्त्रेण कवचेनावगुण्ठयेत् ॥२३२॥
शिवाग्नौ ताप्यमस्त्रेण उद्वास्यं कवचेन तु ।
कुण्डस्य परितो देवि त्रिधा भ्राम्य तु स्थापयेत् ॥२३३॥
योनिसंस्थं चाज्यपात्रं

तापनं दीप्त्यर्थमाग्नेय्यां दिशि । उद्वासनमग्नेरूर्ध्वधारणं दीप्तेः स्फुटतार्थम् ॥२३३॥

किं च—

उत्प्लवं संप्लवं ततः ।

तस्याज्यस्योत्प्लवं च कुर्यादिति शेषः ॥

केनेत्याह—

दर्भाग्रद्वयमादाय प्रादेशं मध्यग्रन्थितम् ॥२३४॥

पवित्रमेतद्विहितमुत्प्लवं तेन संप्लवम् ।

प्रसारिताङ्गुष्ठतर्जनीमानं प्रादेशः ॥२३४॥

कथमित्याह—

अङ्गुष्ठानामिकाभ्यां तु गृहीत्वैतत् पवित्रकम् ॥२३५॥

पराङ्मुखं तु त्रीन् वारान् संमुखं त्रींस्तथैव च ।

अस्त्रेणैव तु मन्त्रेण

असारभागापनयनायोत्प्लवं साराहरणाय संप्लवम् ॥

किं च—

अवद्योतः शिवाग्निना ॥२३६॥

अस्त्रेणेत्येव कार्य इति शेषः ॥२३६॥

तं व्याचष्टे—

दर्भोल्मुकं तु संगृह्य आज्यपात्रं निरीक्षयेत् ।

तेन प्रकाशयेत् । अत्र चावसरे स्वनेत्रतेजोनिरीक्षणेन परतेजोमयं चाज्यं कुर्यादित्यर्थः ॥

नीराजनं ततः कुर्यात्

निःशेषेण राजनं च ज्वलितेन दर्भेण सर्वतो भ्रामितेन दीपनमस्त्रेणैव ।

पर्यग्निकरणं ततः ॥२३७॥

कथम्—

धाम्नास्त्रमन्त्रमुच्चार्य तमग्नावुल्मुकं क्षिपेत् ।

धाम्ना मूलेन सह परितः समन्तादग्निकरणं तेजोमयत्वापत्तिः ॥
ततः—

धाम्नैव विधिना मन्त्री प्रोक्षयेदस्त्रवारिणा ॥२३८॥

विधिः शिवाभेदाभिसंधिः ॥२३८॥
किं च—

अभिमन्त्र्य षडङ्गेन अमृतत्वं शिवेन तु ।

निष्कलेन साङ्गेनाभिमन्त्रणमेवममृतत्वममृतमुद्रया ॥
एवमाज्यप्रोक्षणावगुण्ठनतापनोद्वासनभ्रामणोत्प्लवसंप्लवावद्योतननीराजनपर्यग्निकरणप्रोक्षणामृताख्यसंस्कारान् द्वादश कृत्वा—

सकृदुच्चारयोगेन पूजयेद् भैरवेण तु ॥२३९॥

निष्कलेन ॥२३९॥

एवं कर्त्रपादानकरणाधिकरणकर्मणां यष्ट्रर्घपात्रस्रुगादिस्थण्डिलाग्न्याज्यादीनां संस्कारैः संप्रदानात्मकभैरवदेवतैक्यापादनं कृत्वा तदेव द्रढयितुमग्निवक्त्राणां भैरववक्त्रमन्त्रैरभिसंधिमाह—

वक्त्रसंधानकं वक्त्रैराहुतित्रितयेन तु ।

एतद्व्याचष्टे—

अपरास्येन तद्वक्त्रसंधानं तु समाचरेत् ॥२४०॥
एवं सौम्यस्य वक्त्रस्य संधानं तु कृतं भवेत् ।
त्रिराहुतिप्रयोगेण दक्षिणस्याप्ययं विधिः ॥२४१॥
पूर्ववक्त्रेऽप्यथैवं स्यादूर्ध्ववक्त्रं शिवान्वितम् ।
त्रिराहुतिप्रयोगेण वक्त्रसंधिः प्रकीर्तितः ॥२४२॥

अपरास्येनेति तन्मन्त्रेण, तद्वक्त्रसंधानमिति तेनैवापरवक्त्रेण संधानमित्यर्थादुत्तरवक्त्रबीजनामभ्यां विस्पष्टस्य उत्तरस्य । यदाह—एवं सौम्यस्य वक्त्रस्य संधानं तु कृतं भवेदिति । अतश्च 'ॐ लं सद्योजातवक्त्रेण ॐ वं वामदेववक्त्रमनुसंदधे स्वाहा' इति प्रयोगः । एवम् 'ॐ वं वामदेववक्त्रेण ॐ रं अघोरवक्त्रमनुसंदधे स्वाहा' इति प्रयोगः। एवमन्यत् । शिवान्वितमिति ईशानविश्रान्तिसारम् । अत्र प्रतिवक्त्रानुसंधिं त्रिस्तिलैर्जुहुयात्, न त्वाज्येन, तत्संस्काराणामसमाप्तत्वात् । पश्चिमप्रमुखमूर्ध्वे विश्रान्तिः कार्या ॥२४२॥

मुमुक्षून् प्रति अस्यैव प्राधान्यादित्याह—

मुख्यमूर्ध्वं स्मृतं वक्त्रं गुणत्वमितरेषु तु ।

अथ कर्मौचित्यानुगुण्येन यन्मुख्यं वक्त्रं तदूर्ध्वं स्मर्तव्यम्, इत्यत्राप्यर्थेऽनुसंधिमुक्त्वा प्रसङ्गाद्वक्त्रभेदेन होममाह—

मुक्तिकामस्य दीक्षायामूर्ध्ववक्त्रस्य मुख्यता २४३॥

एतन्नैमित्तिकविषये ॥२४३॥

काम्ये तु विभागेनाह—

पादलेपाञ्जनाद्या वै सिद्धीस्तु विविधाश्च याः ।
सदाशिवान्तगाः सर्वाः पूर्ववक्त्रे तु होमयेत् ॥२४४॥

विवधा इति उत्तममध्यमाधमाः । होमयेदिति होमेन साधयेत् ॥२४४॥

मारणोच्चाटनादौ तु विद्वेषे स्तम्भने तथा ।
दक्षिणे चैव वक्त्रे तु होमात् सिद्धिः परा भवेत् ॥२४५॥
शान्तिकं पौष्टिकं चैव सौभाग्याकर्षणानि च ।
सौभाग्यारोहसिद्धिं तु उत्तरे होमयेत् सदा ॥२४६॥

आकर्षणं परचित्तादेः ॥२४६॥

नित्यविषयमप्याह—

पश्चिमे नित्यकर्माणि

सर्वैः कार्याणि, तस्य विधिपूर्वकत्वात् ॥

स एष—

विनियोगः प्रकीर्तितः ।

एवं च यो यत्र वक्त्रे कर्म कर्तुं वाच्छति, स तदूर्ध्वे न्यसेत्, ऊर्ध्वं तु तत्स्थाने । यद्वक्ष्यति—

'..............येन तत्कर्म वाञ्छितम् ।
तन्मुख्यवक्त्रं संकल्प्य.........॥' (स्व० २।२६४)

इति ॥

एवं प्रस्तुते नित्यकर्मणि—

आज्यभागो हि होतव्य ऊर्ध्ववक्त्रे तु पश्चिमे ॥२४७॥

पश्चिमे सद्योजाते, ऊर्ध्ववक्त्रे ऊर्ध्ववक्त्रस्थाने प्रापित इत्यर्थः ॥२४७॥

एवमस्य भैरवापत्तिपर्यन्तान् संस्कारान् कृत्वा वह्नेर्भैरववक्तानुनुसंधिना भैरवेणैकतां संपूर्य, इदानीमाज्यवह्न्योः क्रमेण त्रिधामत्वापादनार्थमाह—

आज्यपात्रस्य मध्ये तु दर्भौ वै भैरवेण तु ।
न्यसितव्यो वरारोहे ततो वै वर्त्मकल्पना ॥२४८॥

तत इति मध्यस्थदर्भद्वयदानाद्वर्त्मनां त्रयाणां कल्पना मार्गाणां कार्या । दर्भ इति जातावेकवचनम् ॥२४८॥

कथमित्याह—

उच्चार्य भैरवं पात्रे संपातं पात्य वर्त्मना ।
नाडीत्रयेण युगपत् पात्र भागत्रयं न्यसेत् ॥२४९॥

नाडीत्रयरूपेण वर्त्मना मार्गत्रयेण भैरवं निष्कलमुच्चार्य आज्यगतभागत्रये त्रिष्ठया प्राणशक्त्या इच्छाज्ञानक्रियात्मना समं पातं विश्रान्तिं कृत्वा वह्निसोमसूर्यात्मकधामत्रयमयं भागत्रयं न्यसेद् अनुसंदधीत ॥२४९॥

अत्र विभागः—

सुषुम्नां मध्यमार्गस्थां दक्षे पिङ्गां प्रकल्पयेत् ।
इडाभागे तु यत्तेजो वामे सौम्यं प्रकल्पयेत् ॥२५०॥

एवमाज्यं त्रिधाममयीकृत्य तद्धोमाद्वह्निमपि तन्मयीकर्तुमाह—

एवं त्रिभागं संकल्प्य स्रुवमापूर्य होमयेत् ।
भैरवेणैव मन्त्रेणाग्नये स्वाहान्तमेव च ॥२५१॥

अग्निभागात्तु संगृह्य

मध्यनाडिस्थं प्रकाशानन्दसारमग्नीषोमात्मकं धाम पृथक्त्वमाभासयद् वामे सोमतां श्रयति दक्षिणे तु वह्नितां, तत्र सोमात्मनो हविषोऽन्तर्वर्तिनः प्रज्वालकस्याभावान्न न मध्यवद् ददाहकात्मत्वम्, इति तत्प्रकाशकत्वमात्रात् सूर्यरूपताप्युच्यते, उपादानौचित्यात् त्वग्नितापीत्यग्निभागोऽत्र दक्षिणः, अत एवेह पिङ्गलेत्यग्निनाम्ना दक्षनाडी व्यवहिता । तृतीयपटले तु—

'पिङ्गलामध्यमार्गेण वर्णोच्चारक्रमेण तु ।' (स्व० ३।२२) इति,

पिङ्गला मध्यमा नाडी' (स्व० ३।१४९)

इति च मध्यनाड्युक्ते युज्यत एव, इति न कश्चित् पूर्वापरव्याघातोऽस्ति। ततो विभागोऽत्र दक्षिणकृतनाडीसंपातानुसारं स्वदक्षिणस्ततो होमोऽग्नेर्दक्षिणे भागे। एवं वामेऽपि ज्ञेयम् ॥२५१॥

अथ—

स्रुवेणाज्याहुतिं क्षिपेत्।

सोमभागस्तु सोमाय स्वाहेत्यन्ते समुच्चरन् ॥२५२॥

सप्रणवं निष्कलपूर्वोऽत्र मन्त्रः, इत्यादिकमादिशन् पूर्वोक्तमनुवदति—

धामादिप्रणवाद्यं च स्रुवेणाज्याहुतिं क्षिपेत्।

क्रियाविशेषणमेतत् ॥

ततोऽपि—

अग्नीषोमेति संज्ञे द्वे स्वाहान्ते धाम चादितः ॥२५३॥

प्रणवाद्याज्यमध्यासु तु स्रुवमापूर्य होमयेत्।

शुक्लपक्षे विधिर्ह्येष

अग्निषोमेत्यत्र अग्नीषोमाभ्यामिति प्रयोगः। अयं शुक्लपक्षे विधिः।

अन्यत्र तु—

कृष्णपक्षेऽन्यथा भवेत् ॥२५४॥

तमाह—

सोमभागे भवेत् सूर्यो ह्यग्निसंज्ञा तु पूर्ववत्।

अग्नेः सूर्यस्य मध्याद् आहुतिं प्रतिपादयेत् ॥२५५॥

यतः सूर्यस्य मध्ये वै अमावस्यां विशेच्छशी।

शुक्लपक्षे सोमस्य पूर्णत्वात् सोमायेत्याहुतिः। कृष्णपक्षे तु क्षीणस्येन्दोः सूर्यमण्डलाक्रमणात् सूर्यायेत्याहुतिः। मध्ये तु अग्निसूर्याभ्यामिति। अन्यत्तु पूर्ववत् ॥२५५॥

एवमग्नेरपि त्रिधाममयत्वं संपाद्य—

प्राशनार्थमतो होमो वक्त्राणां भैरवेण तु ॥२५६॥

कार्यं इति शेषः । अत एव त्रिधाममयीकारादनन्तरं तेन प्रणवं निष्कलं वक्रमन्त्रं चोच्चार्य 'अग्नेः प्राशनं करोमि स्वाहा' इत्यन्तोऽत्र प्रयोगः । प्राशनं च भाविपाशभक्षणाद्यौचित्याधानम् ॥

अन्यानपि संस्कारानेकप्रघट्टकेन शिवाग्नेः पुष्कलतासंपत्तिसतत्त्वानाह—

चूडाद्या ये तु संस्कारा अग्नेर्बालान्तसंस्थिताः ।
प्रापणार्थाय सर्वेषां पूर्णामिकां प्रदापयेत् ॥२५७॥
भैरवं तु समुच्चार्य

आदिशब्दादुपनयनादयो बालस्य ब्रह्मचारिणोऽन्ते ये संस्थिता उद्वाहादयः । अत्र च 'अग्नेः चूडाद्याः सर्वे संस्काराः सन्तु स्वाहा' इत्यन्तः प्रयोगः । पूर्णायामितिकर्तव्यता भविष्यति ॥२५७॥

एवं कृते सति प्रवृद्धः—

शिवाग्निः सर्वसिद्धिदः ।

सर्वेषां समय्यादीनां सर्वाः सिद्धिर्ददातीति तन्त्रेणेत्यर्थः । एवं संस्कृताच्छिवाग्नेश्चर्वर्थं पुनः संस्कारं विना नित्यकर्मार्थं च—

'आप्याश्चरुपुरोडाशाः पञ्चसंस्कारसंस्कृते ।
अनाहूते शिवे वह्नौ.................. ॥'

इत्यन्यत्रोक्तत्वादनाहूतपरमेश्वर एव ॥

अग्निं तु प्रोद्धरेत् पश्चात् पात्रे संस्थाप्य रक्षयेत्॥२५८॥

कवचावगुण्ठितं रक्षितं कुर्यात् ॥२५८॥

अथ—

कुण्डस्य चोत्तरे भागे विष्टरस्य च बाह्यतः ।
प्रणीतं कल्पयेत्तत्र

विष्टरस्येति रुद्राश्रयस्य ॥

प्रणीतं व्याचष्टे—

चमसं वारिपूरितम् ॥२५९॥

चमसं दारुपात्रम् ॥२५९॥

तत्र च यज्ञध्वंसनाशिनो विष्णोरासनार्थम्—

पुष्पाक्षततिलैर्युक्तं पवित्रं तत्र विन्यसेत् ।

तस्मिश्च—

प्रणवादि समावाह्य विष्णुनाम ततो नमः ॥२६०॥

आमन्त्रणपदेनैव विष्णुं संस्थाप्य पूजयेत् ।

स्वागतासनपाद्यार्घैः

अत्र प्राग्वत् प्रयोगतः

ततो विज्ञापयेत्तु तम् ॥२६१॥

पश्वर्थं यज्ञ आरब्ध आत्मार्थं वाथ साधकैः ।

भगवंस्त्वत्प्रसादेन यागे निश्छिद्रतास्तु नः ॥२६२॥

पश्वर्थं नैमित्तिके, दीक्षाविधानार्थं नित्ये, भगवन् काम्ये इति योज्यम् ॥

एवमितिकर्तव्यतां कृत्वा—

ततोऽग्नौ यजनं कृत्वा भैरवं तु प्रपूजयेत् ।

कथमित्याह—

स्थण्डिलोक्तविधानेन अनन्तादीन् प्रकल्पयेत् ॥२६३॥

अत्र विभागं तावदुक्त्वा कर्मौचित्येनाग्निवक्त्रजिह्वाकल्पनं कर्तुमाह—

ध्यात्वा वक्त्राणि पञ्चादौ येन यत्कर्म वाञ्छितम् ।

तन्मुख्यवक्त्रं संकल्प्य मुखं कुण्डप्रमाणतः ॥२६४॥

भावयेन्नव जिह्वास्तु वक्त्रेवक्त्रे प्रतिष्ठिताः ।

वक्त्राणां गुणमुख्यताकल्पनं पूर्वमेव सुविभक्तम् । मुखमित्यास्यम् ॥२६४॥

जिह्वानां दिग्विभागमाह—

प्रागाद्यष्टौ मध्य एका

प्रागादि कृत्वा च ऐशान्तमष्टौ ॥

तासां च—

काम्यार्थे दिग्गतास्तु याः ॥२६५॥

याः प्रागादिदिगष्टस्थास्ताः काम्ये कर्मणि इत्यर्थः ॥२६५॥
ताः कर्मचोदितैर्नामभिरुद्दिशति—

राज्यार्था दाहजननी मृत्युदा शत्रुकारिका ।
वशीकर्त्र्युच्चाटनी स्यादर्थदा मुक्तिदायिका ॥२६६॥

नवम्याः कर्मोचितं नामाह—

सर्वसिद्धिप्रदा मध्ये

यत एवम्—

तस्मान्मध्ये तु होमयेत् ।

एवमुद्दिष्टानाम्—

पूर्णा तु भैरवेणैव जिह्वानां कल्पनाय च ॥२६७॥
पुनः पूर्णाहुतिं चैव भैरवेण प्रदापयत् ।

एकत्र मूलमन्त्रपूर्वम् 'अग्निजिह्वाः कल्पयामि' इति प्रयोगः । अन्यत्र 'जिह्वासंनिधिरस्तु स्वाहा' इति ॥ २६७ ॥

अथ वह्नेः परमसंस्कारकरणपूर्वमनन्तादीन् प्रकल्पयेदिति यदुपक्षिप्तं तन्निर्वाहयति—

ज्वालाग्रं तु हृदागृह्य वह्निचैतन्यकल्पितम् ॥२६८॥
आतमहृत्स्थं तु संकल्प्य योगपीठं तु कल्पयेत् ।

मध्यजिह्वानुसारेण अग्निनाभौ तु कन्दकम् ॥२६९॥
नालं हृदवधि ध्यात्वा पद्मं तत्र विचिन्तयेत् ।

वह्निचैतन्यरूपतया कल्पितं भावितं ज्वालाग्रं हृदा हृन्मत्रेण आगृह्य नासापथेन स्वीकृत्य हृद्गतचैतन्यानलैकीभावेन भैरवीकृत्य बाह्यवह्नेः सूक्ष्मदेहस्यापि भैरवतां कर्तुं 'योगोऽस्य शक्तयः स्वाक्या विस्फूर्जन्ति समन्ततः' । (१।५।५) इति मतङ्गोक्तनीत्या योगपीठम् अनन्तादिसदाशिवान्तं शक्तिरूपमासनमस्य कल्पयेत् ॥ २६९ ॥

पत्राष्टकसमोपेतं सितवर्णं सुतेजसम् ॥२७०॥
अनन्तं कल्पयेत्तत्र धर्मादिचरणान्तिकम् ।

ओंकारेण शिवान्तं च

ततः—

अग्निमूर्तिं प्रकल्पयेत् ॥२७१॥

प्राग्वत् हंसाक्षरेणैव ॥ २७१ ॥

ततोऽपि—

शिखा हृदि स्थिता या तु ध्रुवेणोत्कीलयेत् पुनः ।
रेचकेण क्षिपेद् वह्नौ सा मूर्तिर्भैरवात्मिका ॥२७२॥

ध्रुवेण निष्कलेन, उत्कीलयेत् स्वचैतन्यभैरवेणैकीकृतामुद्धरेत्, ततो दक्षनासापथेन बाह्यवह्निमूर्तौ क्षिपेत्, एवमेषा मूर्तिर्भैरवात्मिका भवति ॥ २७२ ॥

अथ—

मूर्तिभूतं प्रकल्प्यैवमष्टात्रिंशत्कलायुतम् ।
शोध्याध्वानं तु विन्यस्येद्दीक्षाकाले वरानने ॥२७३॥

अष्टात्रिंशत्कलाः पूर्वोक्ता वक्त्रभङ्ग्याद्युपलक्षणपराः । शोध्याध्वानमिति येनाध्वना गुरुर्दीक्षां चिकीर्षति ॥ २७३ ॥

एवं कृत्वा—

भैरवं पूजयित्वा तु शास्त्रदृष्टेन कर्मणा ।
वक्त्रसंधिश्च वक्त्राभ्यां शिववक्त्राग्निवक्त्रयोः ॥२७४॥

शास्त्रदृष्टेनेति यथोक्तावरणान्तं मानसेनार्घादिक्रमेण । वक्त्राभ्यामिति बह्वर्थं द्विवचनम्, तेन वक्त्रमन्त्रैरित्यर्थः । शिववक्त्रे भैरववक्त्रम्, अत्र च 'ओं लं सद्योजाताख्यभैरववक्त्रं शिवाग्निवक्त्रेऽनुसंदधे स्वाहा' इत्यादिक्रमेण वक्त्रसंधिश्च पूर्वोक्तवक्त्रसंधिविलक्षणः कर्तव्यः ॥ २७४ ॥

किं च—

संधाय चैवं जिह्वाभ्यां

अन्तर्बहिर्वह्निवक्त्राणां परमेशवक्त्रैर्मन्त्रपूर्वं जिह्वानुसंधानं कृत्वा

नाडीसंधिरतो भवेत् ।

तदाह—

मूलमन्त्रं समुच्चार्य अग्निनासाविनिर्गतम् ॥२७५॥
स्थण्डिलस्थशिवालीनमेकार्थं चैव संधयेत् ।

अग्निहृदयाद्भावनया मूलमन्त्रमुच्चार्य तद्दक्षिणेन निर्गत्य स्थण्डिलेशस्य वामेन प्रविश्य दक्षिणेन निर्यायात्, इति क्रमेण सर्वावरणमन्त्रेष्वनुसंधाय अग्नेर्वामेन विशेत् एकार्थमित्यभिन्नं स्वच्छन्दभैरवात्मकं वाच्यदेवतारूपमित्यर्थः ॥ २७५ ॥

एवमनुसंधाय—

शुद्धाज्येनाहुतिशतमष्टोत्कृष्टं वरानने ॥२७६॥
भैरवस्य तु होतव्यं वक्त्राङ्गानां दशांशकम् ।
भैरवाष्टकलोकेशान् दशमांशेन होमयेत् ॥२७७॥

षट्त्रिंशत्तत्त्वानि स्थूलसूक्ष्मपरभेदादष्टोत्तरशतमिति (व्याप्त्या) वनयव (अधिश्रयणादि)-संस्कारैरापादिताशेषविश्वमयत्वेन आज्येन अष्टोत्तरशतस्रुवहोमाद्भैरवमन्त्रदेवतां तर्पयेत् अनुग्रहाभिमुखीकुर्यादित्यर्थः । वक्त्रादीनां दशांशत्वेऽभिप्रायो जपप्रकरणे निर्णीतोऽङ्गवद्व्या देववदित्यन्ते ॥ २७७ ॥

अथ—

मूलमन्त्रं समुच्चार्य पूर्णमिकां प्रपातयेत् ।

सर्वमन्त्रचक्रतर्पणाय ॥

ततोऽपि प्रधानभूतमूलमन्त्रतृप्त्यर्थं द्वितीयां पूर्णां दद्यादित्याह—

भैरवाप्यायनार्थाय तथा पूर्णां प्रपातयेत् ॥२७८॥

ततोऽपि—

पुनर्न्यूनातिरिक्तार्थं निश्छिद्रकरणाय च ।

मूलेन पूर्णां पातयेदिति शेषः । न्यूनातिरिक्तनिवृत्त्यर्थमेव निश्छिद्रकरणम् ॥

एवं नित्यहोमविधिं निर्वर्त्य—

पश्चाद्धोमः प्रकर्तव्यो यथेच्छं तु वरानने ॥२७९॥

यथेच्छमिति नैमित्तिकः काम्यो वा ॥ २७९ ॥
अथैवं होमद्रव्यविभागं तत्तत्साधनाभिप्रायतो निर्दिशति—

सर्वकामप्रदो होमस्तिलैः शस्तो घृतान्वितैः ॥

पृथक्तु—

धान्यैर्धनार्थसिद्धयर्थं

आज्याक्तैरिति सर्वत्रानुषङ्गः । धनमजाविकम्, अर्थो हिरण्यादिकम् ॥

घृतगुग्गुलहोमतः ॥२८० ॥

जायते विपुला सिद्धिरधमा मध्यमोत्तमा

तथा—

श्वेतारविन्दैराज्याक्तैः

होमः कार्यः ।

बिल्वैश्च श्रियमाप्नुयात् ॥२८१॥

क्षीराक्ततिलहोमेन शान्तिकर्म वरानने ।

प्रायश्च द्रव्याणि जातभेदेन चतुर्धा स्थितानीति तैर्होमार्हैः ।

सितरक्तपीतकृष्णैः शमनाकृष्टिपौष्टिकम् ॥२८२ ॥
मारणं च वरारोहे क्रमेण परिकल्पयेत् ।

किं च—

कुन्दपुष्पैः सुतार्थाय

होमो भवति ॥

अशोकैः प्रियसंगमः ॥२८३ ॥

जातिकुट्मलकैः कन्या गान्धर्वी बकुलोद्भवैः ।
नागैस्तु नागकन्या वै सिद्धार्थैः सिद्धकन्यका ॥२८४॥
चम्पकैश्चाप्यप्सरसो नरेन्द्रः फल्गुषेण तु ।

घृताक्तेन वरारोहे समन्त्रो सपुरोहितः ॥२८५॥

राज्ञी पुत्रसमोपेता वशं याति वरानने ।

यक्षिणी वशमायाति पुष्पैश्चैव कदम्बजैः ॥२८६॥

सर्वेष्वभिमतेषु तैरित्यनुषङ्गः कार्यः । नागैरिति पुंनागैः, सिद्धार्थैः पुष्पविशेषैः । यत्र यैः पुष्पैर्होमस्तत्र तैरेवार्चनं कार्यम्, फल्गुषमिति नृमांसम् ॥ २८६ ॥

तथा

विद्याधरी कुय्यकैश्च साधयेन्नात्र संशयः ।

कुय्यकानि कुटकाख्यानि । नात्र संशय इत्यनेन निश्चितप्रतिपत्तेः कर्म फलदं भवति, इत्याह, अत एव शिष्यलक्षणे दृढव्रत इत्येतत्साधकविषये योजितम् ॥

होमे हस्तसंस्थानमाह—

मृगीं बद्ध्वा तिलैर्होमः

पसृततर्जनीकनिष्ठाङ्गुलिरङ्गुष्ठमध्यमानामासंदंशात्मा मृगीबन्धः ॥

पद्मबिल्वैरधिष्ठितम् ॥२८७॥

अखण्डितैः कृत्वा जुहुयादिति शेषः ॥ २८७ ॥

भक्ष्यैर्ग्रासप्रमाणैस्तु धान्यैः प्रसृतिसंमितैः ।

अत्र च हस्तसंनिवेशो यथोचितमनुमन्तव्यः ॥

उपसंहरति—

एवं होमानुसारेण साधको विधिसंस्थितः ॥२८८॥

पूजाहोमरतो नित्यं यान् यान् कामान् समीहते ।

तांस्तान् स साधयत्येव भैरवस्य वचो यथा ॥२८९॥

विधौ शास्त्रनियन्त्रिते कर्मणि सम्यक् स्थितः कामान् काम्यमानानि फलानि, यथा भैरवस्याज्ञा स ह्यागमात्माज्ञामात्रेणैव सर्वं संपादयति । अथ च यथा येन सत्याभिसंधिरूपेण भैरवस्य सर्वशक्तेः, न तु परिमितस्य कस्य-

चिदिदं वचः, तथा तेन प्रकारेण आश्वस्तानामेष विधिरनुष्ठीयमानः साधयत्येवाभीष्टमिति शिवम् ॥२८९॥

गुरुचरणसरोजामोदमत्तं मनो मे
यदिह किमपि तत्त्वं व्याकरोच्छैवशास्त्रे ।
विविधविधिरहस्यं स्यात् तदासेव्यमानं
भवहरहरधामावेशि सद्भक्तिभाजाम् ॥१॥

इति स्वच्छन्दतन्त्रे
श्री महामाहेश्वराचार्यवर्यश्रीक्षेमराजविरजितोद्द्योताख्य-
व्याख्योपेतेऽर्चाधिकारो नाम
द्वितीयः पटलः ॥२॥

तृतोयः पटलः

यत्र गलत्युन्मिषितेऽशेषा संसारवासनाविस्रा ।
अधिवासोऽसौ सर्वो जयति परानन्दनिःष्यन्दी ॥

एवं प्रासङ्गिकानन्तरप्रमेयगर्भमवश्यानुष्ठेयं नित्यकर्मोक्त्वा प्राप्तनिरूपणावसरं नैमित्तिकप्रथमभूतमधिवासं निर्णेतुं भैरव उवाच—

अधिवासं प्रवक्ष्यामि यथावदनुपूर्वशः ।

देवगुरुशिष्यद्रव्याणां भाविदीक्षोचितयोग्यतात्मकसंस्कारपरिग्रहो यागगृहाधिकरणवसनं **चाधिवासः** स च गुरुणा कार्य इति तत्संकारोपक्रममेव तमाह —

वारिणा सुविशुद्धात्मा कृतकृत्यः प्रसन्नधीः ॥१॥
भस्मोद्धूलितदेहस्तु मुद्रालङ्कारभूषितः ।
जिह्मजेनोपवीतेन सुवासा वा दिगम्बरः ॥२॥
सुगन्धिगन्धलिप्ताङ्गः पुष्पस्रग्दामभूषितः ।
दिव्याभरणसंपन्नः सुप्रसन्नः सुभावितः ॥३॥
सुधूपितः सुताम्बूलश्चन्दनागुरुचर्चितः ।

आत्मा शरीरं मनश्च । कृत्यं संध्यावन्दनादि, अथ च कृतकृत्य परभैरवैक्यपरिपूर्णः, तत एव प्रसन्ना त्यक्तवाह्याभिलाषा धीः यस्य । मुद्रालङ्कारभूषितः शिखाकर्णप्रकोष्ठप्रतिष्ठापितपञ्चमुद्रः । जिह्मः शवः तज्जेन तत्केशजेन । एतच्च यथायोगं गृहस्थनैष्ठिकाचार्यविषयं व्याख्येयम् । सुगन्धि इत्यादिना इदमाह—यस्य स्वभावेन शिवभावनापरत्वं नास्ति, स बाह्योपचारेणापि चेतः प्रसाद्य सुभावितः शिवावेशोन्मेषमयः स्यात् । यतः—

न चावज्ञा क्रियाकाले संसारोद्धरणं प्रति ।
मन्त्रदानव्रतादेशशिष्यध्रुङ्मारकी भवेत् ॥'

इत्याम्नातम् ॥

किं कुर्यादित्याह—

मखद्वारप्रदेशे तु स्थित्वा प्रागिव भावितः ॥४॥
द्वाराध्यक्षान् पूजयित्वा पुष्पप्रक्षेपणं ततः ।

हुंफट्कारप्रयोगेण तालाशब्दं विधाय च ॥५॥
पाष्ण्यर्धोहस्तसंयोगाद्विघ्नप्रोच्चाटनाय वै ।
पाष्ण्या भूमिगतान् हन्यात्तालया चान्तरिक्षगान् ॥६॥
मन्त्रैर्दिव्यान् विशोध्यैवं यागहर्म्यं विशेत्ततः ।

पुष्पप्रक्षेपणं तालाशब्दं विघ्नप्रोच्चाटनाय पाष्ण्या अधोभूमिसंयोगात् हस्तसंयोगाच्च विधायेति विदधद्विशेदिति योजना । अन्तरिक्षं भुवोलोकः । स्पष्टमन्यत् ॥६॥

अथ—

रक्षां पूर्ववदस्त्रेण परितः परिकल्पयेत् ॥७॥
वर्मणा मायारूपेणाच्छाद्यैव तु मखालयम् ।
ततो दक्षिणदिग्भागे उपविश्य वरानने ॥८॥
करन्यासं यथापूर्वं दहनोत्पूयने तथा ।
प्लावनाप्यायने चैव सकलीकरणं तथा ॥९॥
पूर्ववन्मानसं यागमन्तर्देहे समाचरेत् ।

परित इति अस्त्रप्राकाररूपाम्, मायारूपेण इति माया हि कलातत्त्वान्ताशेषाच्छादिका दुर्भेदा चेति तद्रूपेन । शिष्टं निर्णीतपूर्वम् ॥९॥

अन्तर्यागे प्रागुक्तं विधिं स्मारयति—

शक्त्याधारमनन्तं च धर्मादिचरणावधि ॥१०॥
गात्रकाणि त्वधर्माद्यास्तथा संधानकीलकान् ।
अधश्छादनमूर्ध्वं च पद्मकेसरकर्णिकाः ॥११॥
पुष्कराणि च शक्तीश्च मण्डलान् मण्डलाधिपान् ।
शिवान्तमासनं दद्यात् पूर्वरूपं ध्रुवेण तु ॥१२॥
मूर्तिब्रह्मकलाव्यूहं नवतत्त्वं त्रितत्त्वकम् ।
द्वात्रिंशदक्षरं देवं भैरवाष्टकमेव च ॥१३॥
विद्याङ्गानि तथा देवीं क्षुरिकां लोचनत्रयम् ।
शक्तित्रयं परं देवमङ्गषट्कसमन्वितम् ॥१४॥

निर्णीतं चैतत् । नैमित्तिकेऽपि सर्वमेतत् कार्यमिति पुनः पाठेऽभिप्रायः ॥१४॥

अपि च—

मुद्रामन्त्रांश्च द्रव्याणि यथास्थानं प्रकल्पयेत् ।

आवाहनस्थापनसंनिधाननिरोधनादिरूपा मुद्राः, आसनतो भैरवान्तान् मन्त्रान्, पाद्याचमनीयार्घादीनि द्रव्याणि । यथास्थानमिति पूर्वोक्तया नीत्या ॥

तदेतत्सर्वम्—

संकल्प्य च यथान्यायं यथायोगं प्रकल्पयेत् ॥१५॥

यथायोगं तथाक्रमं यो यो न्यायो निरूपितव्याप्त्यनुसरणं तदनतिक्रमेणेत्यर्थः ॥१५॥

अथावरणन्यासमपि स्मारयति—

सद्योजातं च वामं च अघोरं च यदुक्तवान् ।
पुरुषेशौ च देवस्य दलस्थांश्चोपकल्पयेत् ॥१६॥
हृदयादींस्ततः पञ्च दिशासु विदिशासु च ।

उक्तवानहमित्यर्थः । दिशास्वित्यादिरैशः पाठः ॥१६॥

किं च—

पूर्वतो यावदीशान्तं भैरवावरणं वहिः ॥१७॥
लोकपालांस्तदस्त्राणि पूर्वादीशान्तकावधि ।

परिकल्पयेदित्यनुषज्यते ॥१७॥

मन्त्रसंधानमाह—

अस्त्राणि लोकपालांश्च भैरवाष्टकमेव च ॥१८॥
पञ्चब्रह्माण्यथाङ्गानि एतान्यावरणानि हि ।
क्रमेणोच्चारयेत् सर्वान्यावत्तद्गर्भमैश्वरम् ॥१९॥

मन्त्रसंधानमेतद्धि

'शूलहस्तायेशानाय नमः' इति प्रातिलोम्यक्रमेण सकलान्तमुत्तरोत्तरलीनताक्रमेणोच्चारणं मन्त्रसंधानम् 'पञ्चब्रह्माण्यथाङ्गानि' इति प्रातिलोम्य-

क्रमेऽप्यानुलोम्येन पाठो वक्त्राङ्गनामेकावरणहेतुतया, इति त्र्यावरणोऽयं क्रमः ॥१९॥

अथ—

परमीकरणं शृणु ।

उच्चारयेत्ततो देवं ह्रस्वदीर्घप्लुतान्वितम् ॥२०॥
तावदुच्चारयेन्मन्त्रं यावन्निर्वाणगोचरम् ।

देवं द्योतनादिसतत्त्वं श्रीनिष्कलम् । ह्रस्वेत्यादि,

ह्रस्वं दीर्घं प्लुतं सूक्ष्ममतिसूक्ष्मं परं शिवम्' (६।४)

इति पञ्चप्रणवाधिकारे वक्ष्यमाणस्थित्या अकारोकारमकारबिन्दु नादवर्णकलासु ह्रस्वादिमात्रारूपासु वक्ष्यमाणव्याप्त्यनुसारेण विश्रम्य निर्वाण-गोचरं द्वादशान्तं यावन्मन्त्रमुच्चारयेदित्यर्थः ॥२०॥

अत्रैवेतिकर्तव्यतां पूरयति—

अधःशक्तेर्यावदूर्ध्वं सोमसूर्यपथान्तरा ॥२१॥
पिङ्गलामध्यमार्गेण वर्णोच्चारक्रमेण तु ।
देवतापञ्चकं शक्तिं व्यापिनीं समनोन्मने ॥२२॥
भेदयित्वा क्रमात् सर्वं यावद्वै निधनान्तिकम् ।
निस्तरङ्गं निरध्वाख्यं सकलव्यापि चोन्मनम् ॥२३॥

वक्ष्यमाणदिव्यकरणक्रमेण अध इति कन्दात् प्राणशक्तिं हृदयं प्रापय्य वामदक्षिणवाहमध्ये पूर्वनिर्णीतदिशा पिङ्गलानाम्ना मध्यमार्गेणाकारोकारा-दीन् नादपर्यन्तं ह्रस्वादिरूपवर्णोच्चारक्रमेण ब्रह्मादिसदाशिवान्तं देवता-पञ्चकं तदुपरितनसुसूक्ष्मतममन्त्रांशैश्च शक्त्याद्युन्मनान्तं भेदयित्वा, ग्रन्थि-रूपताविदारणयुक्त्या परावाग्रूपमन्त्रपरामर्शं शेषं कुर्वन् निधनान्तिकं सर्वो-पशान्तिपदं द्वादशान्तं यावत् मन्त्रमुच्चारयेदित्यर्थः । कीदृशं निधनान्तिकम्? तरङ्गेभ्यो भेदकल्लोलेभ्यो निष्क्रान्तम्, निष्क्रान्ता उल्लसिता वर्णमन्त्राद्याध्वनामाख्याः प्रथा यतस्तादृशम्, तथा सकलस्याशेषस्य व्यापकम् । ईदृशं कथमेकं वस्तु भवतीत्याह—उन्मनम् मननं सर्वं संकुचितं संवेदनमुत्क्रम्य स्थितं स्वतन्त्रमित्यर्थः ॥२३॥

अथ—

तदध्यास्य

तन्निष्कलं तत्त्वं गाढावष्टम्भेन किंचित्कालं समाविश्य ।

आनुलोम्येन हृत्पद्मे विनिवेशयेत् ।

द्वादशान्तात् प्रभृति तत्त्वं च—

'समना उन्मना चैव' (स्व० ११।२६)

इत्यादिवक्ष्यमाणदृष्टया मन्त्रप्रमेयसृष्टिक्रमेणावरुह्य हृत्पद्मप्रतिष्ठापितसकलभट्टारकव्यापकत्वेन भावयेत् ॥

किं च—

सर्वेष्वावरणेष्वेवं देवि तद्व्यापकं न्यसेत् ॥२४॥

एवमिति एकेनैव प्रयत्नेन ॥२४॥

तेन चाधिष्ठिताः सर्वे सर्वकामफलप्रदाः ।

तद्रश्मिपुञ्जात्मकत्वात् सकलादिमन्त्राणाम् चो ह्यर्थे ॥

अत्र पूर्वोक्तं ध्यानादि स्मारयति—

यथा स्वरूपसंस्थानवर्णा ये कथिता मया ॥२५॥

तथा ते विनियोक्तव्या मानसे मानसेन तु ।

स्वरूपं मूलं ब्रह्माङ्गादिरूपम्, संस्थानम् आकृतिः, वर्णः सितादि कथिता इति द्वितीये पटले । मानस इति यागे, मानसेन चित्तेन ॥२५॥

ततश्च—

कर्णिकायां तु संस्थाप्य द्विधावस्थं च भैरवम् ॥२६॥

शुद्धस्फटिकसंकाशं सर्वमन्त्रै रलंकृतम् ।

द्विधा सकलनिष्कलभावेन, अवस्था अनुग्राह्यानुग्रहाय स्वस्वातन्त्र्येणावस्थितिर्यस्य, सकलं सिताकारं निष्कलं तु प्रकाशमात्रतत्त्वम् अलंकृतम् इति रश्मिपरिवृतम् । एवं द्वात्रिंशदक्षरापेक्षया यद्यपि मूलमन्त्रस्य निष्कलत्वं तथाप्यकारादिकलोच्चारे सति सकलत्वमप्यस्तीति ॥२६॥

यत्सत्यतो निष्कलं तत्त्वं तन्निर्दिशति—

तत्रापि परतो ज्ञेयमनिर्देश्यमनामयम् ॥२७॥

तत्र तयोः सकलनिष्कलयोरुपरि परतः परं परिपूर्णेन रूपेण भैरवस्वरूपं ज्ञेयम् स्वतः प्रकाशमानं प्रत्यभिज्ञेयमित्यर्थः । यतस्तद् अनिर्देश्यम् इदन्ताया न विषयो यस्मात्, अनामयं सूक्ष्मतमेनापि आमयेनाख्यात्यात्मकमहामायास्पर्शेन शून्यम् ॥२७॥

तथा च—

यत्र नास्ति द्विधाभावः

निष्कलसकलाद्यशेषसामरस्यात्मकत्वात् ॥

न मन्त्रादिकल्पना ।

ओंकारबिन्दुनादानां विलयं तं विनिर्दिशेत् ॥२८॥

सर्वमन्त्रप्रमेयविश्रान्तिपदं तज्जानीयादित्यर्थः । यद्वक्ष्यति—

'यावदुच्चार्यते वाचा यावल्लेख्येऽपि तिष्ठति ।
तावत् स सकलो ज्ञेयः ।' (स्व० ७।२३९)

इति तथा—

'अक्षरेषु कुतो मोक्षः परं तत्त्वमनक्षरम् ।' (स्व० ७।२३८)

इति ॥२८॥

अतश्च—

तत्स्थानं दुर्लभं मत्वा संभवेन्न कदाचन ।
यस्य नाग्रं च मूलं च न दिशो विदिशस्तथा ॥२९॥
न शब्दो नापि चाकाशं ध्यात्वा तत्तु विमुच्यते ।

तिष्ठत्यस्मिन् सर्वमिति स्थानम् आकृतिशून्यत्वाद् मूलाग्राद्यभावः, वर्णात्मकमन्त्ररूपशून्यत्वान्न शब्द इत्युक्तम् । एवमपि न तच्छून्यमित्याशयेनोक्तं नाकाशमिति । ध्यात्वा इति अकृतकाहंविमर्शविश्रान्त्या समाविश्य विमुच्यते जीवन्मुक्तिराप्यते ॥२९॥

तदित्थम्—

प्रथमं मानसं यागं पश्चाद्द्रव्यसमन्वितम् ॥३०॥
य एवं सततं कुर्याद् दैशिको यागतत्परः ।
स्वहस्ते स्थण्डिले लिङ्गे मण्डले चरुके तथा ॥३१॥
जले चाग्नौ च संपूज्य सम्यग् दीक्षाफलं लभेत् ।

मानस्य प्राथम्यं शिवीभावं विना शिवयागेऽधिकाराभावादित्युक्तत्वात्, देशिक उपदेशप्रयोजन आचार्यः । सततमिति नित्यार्चारतत्वात् । स्वहस्ते इति शिवहस्तदानावसरे स्थण्डिल इत्यधिवासमये, लिङ्गे इति

'लिङ्गशब्देन विद्वांसः सृष्टिसंहारकारणम् ।'

इत्यादिनिरुक्तेः प्रस्तावोचितशिष्यचैतन्ये बाह्येऽपि वा बाणादिरूपे भाक्ते, मण्डले इति वक्ष्यमाणरूपे, चरुके हविर्विशेषात्मनि, जले कलशस्थे, वह्नौ पाशदाहके। दीक्षायाः फलं शिष्याणां भैरवात्मकस्वरूपप्रत्यभिज्ञानम् लभेत तत्र हेतुकर्तृकत्वसामर्थ्यमासादयत्येव। एवं च सर्वथा शिवीभावात्मकमानसयागपूर्वं बाह्ययागं निर्वर्तयेत् ॥३१॥

अन्यथा—

अकृत्वा मानसं यागं योऽन्यं यागं समारभेत् ॥३२॥
अशिवः स तु विज्ञेयो न मोक्षाय विधीयते।

अशिव इति मानसयागकार्यशिवीभावाभावात् तथाभूतश्च पशुर्मोक्षाय न विधीयते तदर्थमधिक्रियते इत्यर्थः ॥३२॥

यतः—

आत्मयागे कृते चैव देहशुद्धिः प्रजायते ॥३३॥

चो ह्यर्थे। एवशब्दो जायतेशब्दादनन्तरं योज्यः। तेन यस्माद्यागादनन्तरं बाह्यान्तरोभयरूपस्य देहस्य शिवीभावावेशात्मा शुद्धिर्जायत एव, तस्मादसाववश्यकार्य इत्यर्थः ॥३३॥

तथा हि सति—

अधिष्ठितं शिवेनैव तमाचार्यं विनिर्दिशेत्।

शिवेन सहचारित्वादाचार्य इति हि वक्ष्यति॥

किं च—

आत्मनिर्दहनं चैव मानसं च यदुक्तवान् ॥३४॥

अहमित्यर्थः। आत्मा इह द्विविधो देहः ॥३४॥

विदित्वा सम्यगाचार्यः पाशहा स शिवः स्मृतः।

सम्यग्वेदनं देहाद्यहन्ताप्रशमनेन शिवाहंभावावेशः।

यागस्यास्य प्रभावमाह—

यत्र यत्र स्थितो देशे यश्चैवं तु विधिं यजेत् ॥३५॥
ब्रह्महापि स मुच्येत किं पुनः शिवतत्परः।

विहितमहापातकोऽपि भगवदिच्छाप्रयोजनाद् यो विधिमिममभिसंधाय यजेत् भगवन्तमर्चयेत्, सोऽपि मुच्यते ॥३५॥

किं च—

सर्वावस्थागतश्चैव विषयैरनुरञ्जितः ॥३६॥

सकृत् संपूज्य मुच्येत किं पुनर्यो दिने दिने ।

सर्वावस्थागत इत्यादिना समयपालनासमर्थो भोगभुगपि सकृन्निर्बीज-दीक्षायामर्चनान्मुच्यते, तस्मात् सततमेतदर्चनं पुत्रकाद्यैर्विधेयमित्येवंपरमेतत् ॥ ३६ ॥

अस्या अर्चादिक्रियाया महत्तां प्रथयति—

एतत्तन्त्रोक्तविधिना यदुक्तं विधिपूर्वकम् ॥३७॥

इज्यादि चान्यतन्त्रेऽपि तद्धैतत् कामिकं भवेत् ।

समानासमानस्रोतस्यन्यत्रापि पारमेश्वरे तन्त्रे यदिज्यादि दीक्षादि-विधिपूर्वकमुक्तम्, तदेतत्तन्त्रोक्तेन संपूर्णेतिकर्तव्यताकेन विधिना तत् कामिकम् इति तत्तत्काम्यमानभोगमोक्षप्रयोजनं स्यात् । एतदुक्त्या दीक्षादावितिकर्तव्यतान्यत्राश्रीयमाणाभिलषितं पूरयत्येव संपूर्णत्वादित्यर्थः । तद्धै इत्यत्र तस्येति पाठे तस्य कर्तुमिति व्याख्येयम् ॥ ३७॥

अत एवान्यत्राप्याश्रीयमाणमेतत्—

नानासिद्धिगुणैर्युक्तं

अधिकानपि क्रियापादोक्तान् सिद्धिरूपान् गुणान् करोति ॥

तथा

नानाकामफलप्रदम् ॥३॥

चर्यापादोक्तमप्यविलम्बितं फलं संपादयति ॥ ३८ ॥

योगपादोक्तमपि घटयतीत्याह—

योगसिद्धिश्च जायेत

विद्यापादोक्तमपि इतः पराद्वयस्पर्शिनो विधेरनुष्ठानाच्च साधयत्येवानुष्ठातृजन इत्यप्याह—

मुक्तिं च लभते ध्रुवम् ।

अपि चैतदिज्यानुष्ठातृपूजनम्—

सदाशिवोऽपि जानाति देवाश्चैवासुरादयः ॥३९॥

परभैरवभक्तिशालिनेऽपि महाप्रभावा अपि स्पृहयन्तीति यावत् ॥३९॥

एवं प्रासङ्गिकमुक्त्वा प्रकृतमाह—

एवं तु मानसं यागं कृत्वा बाह्यं समाचरेत् ।

तत्र प्रथमम्—

परां वृत्तिमनुध्यायन् द्रव्याण्यादौ विलोकयेत् ॥४०॥

पराम् अन्तर्यागनिष्पन्नभैरवावेशमयीं वृत्तिं स्फुरत्तामवलम्बमानो यागद्रव्याणि प्रोक्षणादिकल्पितसंस्कारेभ्यः पूर्वं पराद्वयज्ञानापादितैक्यात्ममहाशुद्धीनि कुर्यादित्यर्थः ॥ ४० ॥

तान्युद्दिशति—

सितचन्दनकर्पूरं सुधूपं सितवाससी ।
पुष्पाणि दिव्यगन्धीनि तिलव्रीहिघृतादिकम् ॥४१॥
चूतपल्लवदर्भांस्तु सिद्धार्थान् खटिकां तथा ।
करणीं कर्तरीं चैव पाशबन्धनसूत्रकम् ॥४२॥
वार्धानीं शिवकुम्भं च तथेध्मान् परिधीनपि ।
समिधो दन्तकाष्ठं च चरुस्थालीं स्रुचं स्रुवम् ॥४३॥
तण्डुलांश्च तथा क्षीरमेवमादीन्यनेकशः ।

दीक्षायाः शिवत्वापादनात्मनः शुद्धेः कार्यत्वात्तदौचित्येन सितगुणस्य प्रधानत्वम् । सितवाससी चूतपल्लवाश्च कलशवार्धान्यर्थम्, व्रीहयो विकिरार्थम्, सिद्धार्थाः शय्याद्यवसरे रक्षार्थम्, खटिकाकरण्यौ मण्डलार्थम्, कर्तरी पाशसूत्रच्छेदाय, वार्धान्यस्त्रयागाय, इध्माः प्रागुक्ताः हस्तमात्राश्चतुर्विंशति समिद्धस्याग्नेस्तृप्त्यर्थम्, परिधयो हस्तप्रमाणाः सपत्राः शाखाश्चतस्रः कुण्डबाह्ये दिक्षु विघ्नप्रवेशरक्षार्थम्,

'समिधो यज्ञवृक्षोत्थाः सत्वचो निर्व्रणाः शुभाः ।
प्रादेशमात्राः स्थौल्येन कनिष्ठाभ्यधिकाश्च याः ॥'

इत्युक्तास्ताश्चाग्नेर्दीप्त्युत्पादनाय, दन्तकाष्ठं शिष्यार्थम्, तण्डुलक्षीरचरुर्देवगुर्वर्थमपि । स्पष्टमन्यत् । एवमादीनि । आदिशब्दान्मण्डलार्थं रजांसि, शिष्यार्थं पञ्चगव्यनेत्रपट्टाद्यपीति ॥४३॥

एवं द्रव्याण्यवलोक्य—

ततोऽर्घपात्रमादाय क्षालयेदस्त्रवारिणा ॥४४॥
कवचेनावगुण्ठ्यैव प्रणवेन तु पूजयेत् ।

उदकादिभिरष्टाङ्गैः पूरयेत्तु वरानने ॥४५॥

उदकं क्षीरकुसुमं कुशसर्षपतण्डुलाः ।

सयवघृता अष्टौ । इहाष्टमूर्तेरर्घ्यं पुर्यष्टकाकृतम् ॥ ४५ ॥

अथ—

प्रणवेनासनं सर्वं ततो मूर्तिं न्यसेत् प्रिये ॥४६॥

भैरवावरणैर्युक्तां पूजयेत्तां यथाक्रमम् ।

गन्धैः पुष्पैस्तथा धूपैर्मन्त्रसन्धानपूर्वकम् ॥४७॥

भैरवेणावरणैश्च युक्तां न्यसेत्, मन्त्रसंधानपूर्वकं पूजयेत् ॥ ४७ ॥

किं च—

मन्तव्यं परमं तत्त्वं ततश्चैवामृती भवेत् ।

परमं तत्त्वं निष्कलं पूर्वोक्तयुक्त्या जपन्नमृतमुद्राप्रदर्शनेनामृतीकुर्यादित्यर्थः ॥

अर्घपात्रार्थं च—

पात्राणां त्रितयं कल्प्यं निरोधार्थे विधौ तथा ॥४८॥

पश्वर्घे च

विध्यर्घपात्रं पूजार्थम्, निरोधार्घपात्रं तु निरोधविसर्जनाद्यवसरोपयोगि सुरया कर्तव्यम् । यदवोचत्—

'पश्चादर्घः प्रदातव्यः सुरया सुसुगन्धया' (स्व० २।१३६)

इति । पशोस्तु प्रोक्षणाद्यर्थं पश्वर्घपात्रम् ॥ ४८ ॥

तदेतन्त्रयम्—

प्रकल्प्यैवं शिवहस्तं प्रकल्पयेत् ।

इह लौकिके दीक्षाकर्मणि (शिक्षा ? वा)त्यनाचार्येण प्रस्तूयमानेऽविशिष्टेन करेण कथं करणम्, इत्यस्य नित्यकर्मन्यासससंस्कृतस्यापि सातिशयपाशक्षणशिवत्वदानात्मकनैमित्तिककर्मविशेषविशिष्टां साधकतमतामाधातुं दीप्तमन्त्रचक्रन्यासतत्स्वात्मैक्यानुसंध्यध्यासितशिवात्मककर्तृवीर्यावष्टम्भसारा शिवहस्तता प्रथममवश्यमेव विधातव्या । यत्तु—

शिवहस्ते विभुं ध्यात्वा मन्त्रग्रामं सुजाज्वलम् ।' (स्व० ३।१४२)

इतीहैव वक्ष्यति, तदनुग्राह्यैकविषयम् ॥

मन्त्रसंधानकं प्रयत्नान्नाडीसंधानमेव च ॥४९॥

कर्तव्यमिति शेषः ॥४९॥

मन्त्रसंधाने मुख्यप्रकारमाह—

मूलमन्त्रमनुस्मृत्य हृत्कण्ठतालुमध्यगम् ।
भ्रूमध्यं शब्दकूटं तत्तुर्यस्थानं विभेदयेत् ॥५०॥
वामदक्षिणमध्ये तु विषुवत्स्थेन भेदयेत् ।
द्वादशान्तं परं नीत्वा करस्थो मन्त्रविग्रहः ॥५१॥

अनुसंधेय इति शेषः । परं मूलमन्त्रं शब्दकूटम् अशेषवाचकशब्दात्मकमन्त्रराशिरूपमन्तःस्वीकृतमन्त्रग्रामम्, शब्दनरूपं च कूटं परनादात्मकनित्यस्वरूपमनुस्मृत्य वक्ष्यमाणकरणबन्धमात्रार्थानुसंधिमान् स्वेच्छयाचार्यो-हृत्कण्ठतालुभ्रूमध्यात्मकं तुर्यस्थानं च भेदयेत् । कथमित्याह—वामेत्यादिना । मध्यमार्गेण भ्रूमध्यं यावत्करणक्रमेण भ्रूमध्यदत्तचित्तः सव्येतरनासापुटसमस्फारणयुक्तिलब्धमध्यप्राणतीक्ष्णसूच्यग्रेण बिन्दुग्रन्थिं भित्त्वाऽनायासेन नादादिग्रन्थीनपि भिन्द्यादित्यर्थः । भविष्यति चैतत् । ततो द्वादशान्तं मन्त्रं नीत्वा करस्थो मन्त्रविग्रहः शुद्धयाप्त्यैवानुसंधेयो यथा करणस्य कर्तृवीर्यसारता भवति ॥५१॥

नाडीसंधानमप्याह—

तस्याप्यनेन न्यायेन विलोमेन विशेद्धृदि ।
आत्मनो रेचकेनैव पूरकेण विशेद्धृदि ॥५२॥
नाडीसंधानमेतद्धि शिवेन परिकीर्तितम् ।

आत्मन ऊर्ध्वंरेचकेन गत्वा, तस्यापि इति करस्थस्य भगवतो विलोमेन इति द्वादशान्ताद्धृदि विशेत् पुनस्तत उल्लास्य तद्द्वादशान्तं प्राप्य तेनैव पूरकेण हृदि स्वस्मिन् विशेत्, इत्येतन्नाडीसंधानं पूर्वोद्दिष्टनासाक्रमनाडीसंधानविलक्षणं शिवेन परिकीर्तितम् इत्यनेनास्याभेदव्याप्तिप्रदर्शकस्योपादेयत्वमिति ध्वनति ॥५२॥

एवं नाडीसंधानेन स्वहृदयं प्रविश्य—

व्यापकं तु शिवं ध्यायेन्मन्त्रमूर्तिमधिष्ठितम् ॥५३॥

अन्तर्बाह्ये शिवहस्ते च स्थितां सर्वां मन्त्रचक्रमूर्तिमधिष्ठाय स्थितं शिवं निष्कलनाथं व्यापकं ध्यायेत् ॥५३॥

अथैवं शिवहस्ते महाव्याप्तिमनुसंधाय शिष्याद्युपयोगिपञ्चगव्यसंस्कारमाह—

दर्भं संगृह्य चास्त्रेण सप्तबाराभिमन्त्रितम् ।
पञ्चगव्याय पात्रं तु शोधयेत्तु शिवाम्भसा ॥५४॥

'पवित्राः पावना गावः सर्वदैवतविग्रहाः ।
गोमूत्रे स्वःसरिन्मुख्या तटस्था मृच्च गोमयम् ॥
अमृतं तत्पयो दिव्यं तद्विकारो दधि स्थितम् ।
तद्धृतं तद्गतः सारस्तत्सदामरतर्पणम् ॥'

इति श्रीमत्पराख्यसंहितोक्तातिशयानि पञ्चगव्यानि समाह्रियन्ते यस्मिस्तत् पञ्चगव्यं कुशोदकं शोधयेत् क्षालयेदित्यर्थः ॥५४॥

अस्त्रेण क्षालयेत्तच्च कवचेनावगुण्ठयेत् ।

तस्य च—

दर्भासनं ध्रुवेणैव मण्डलं तु प्रकल्पयेत् ॥५५॥

वर्तुलं स्वस्तिकं वा ॥५५॥

तस्योपरि न्यसेत् पात्रं गोमयादीनि चाहरेत् ।
पृथक्पात्रस्थितान्येव प्रोक्ष्यास्त्रेण शिवाम्भसा ॥५६॥

अथ—

गोमयं तु हृदामन्त्र्य गोमूत्रं शिरसा दधि ।
शिखया वर्मणा क्षीरमस्त्रेणाज्यं कुशोदकम् ॥५७॥

तथा—

धाम्ना च मन्त्रयेत् पश्चाद् गोमयादीनि योजयेत् ।
पूर्वसंस्कृतपात्रे तु स्वमन्त्रैः

स्वमन्त्रैरेव पृथक्पात्रेषु मन्त्रितानि तैरेवाभिमन्त्रयेत् ।

तथा—

गोमयादिकम् ॥५८॥

संयोज्य मन्त्रयेत् पश्चात्तैरेव हृदयादिभिः ।

सर्वैरेव युगपत् ॥

एवं संस्कृतस्यास्यात्र विशेषसंस्कारार्थमासनपूर्वं मन्त्रन्यासमाह—

प्रणवेन तु संकल्प्य अनन्तं मूर्तिविग्रहम् ॥५९॥
धामाङ्गानि च बाह्ये तु संपूज्यावरणस्थितिम् ।
मन्त्रसंधानकं कृत्वा अमृतीकरणं तथा ॥६०॥
शिवामृतं तत्संचित्य संपूज्य स्थापयेत्ततः ।

मूर्तिः चिद्रूपा, विग्रहः सकलभट्टारकः, धाम मूलमन्त्रः ॥६०॥

अथ यागभूमिं संस्कर्तुम्—

अस्त्राभिमन्त्रितं दर्भं गृहीत्वोल्लेखनं कुरु ॥६१॥
यावद्भूमौ समन्तात्तु सौम्यास्यो दक्षिणे स्थितः ।
ततश्चैवोद्धरेच्छल्यमाजलान्तं व्यवस्थितम् ॥६२॥
रेचितं भावयेच्छुद्धं मौक्तिकाद्यैः प्रपूरयेत् ।
समीकरणमस्त्रेण कवचेन तु सेचनम् ॥६३॥
आकोटनमथास्त्रेण

एतान्संस्कारान्निष्पन्नकुण्डवद्भावनया कृत्वा

ततो मार्जनलेपने ।
अस्त्रेण पञ्चगव्येन गन्धतोयेन चोपरि ॥६४॥

पञ्चगव्येन लेपनं ततोऽपि गन्धतोयेनेत्यर्थः ॥६४॥

अथ—

शिवाम्भसास्त्रयुक्तेन विकिराण्यभिमन्त्रयेत् ।
सप्तकृत्वोऽस्त्रमन्त्रेण

शिवाम्भसा संप्रोक्ष्य, विकीर्यन्त इति विकिराणि तिलादीनि । यथोक्तं श्रीमन्मतङ्गतन्त्रे—

'तिला लाजा यवाश्चैव दूर्वाः सिद्धार्थकाः शुभाः ।
कुसुमानि च शुक्लानि सुसुगन्धीनि भूरिशः ।
ईषच्चन्दनपङ्केन मिश्रोऽयं विकिरः शुभः ।' [२।५०।२३-२४]

इति । एतानि विकिराण्यभिमन्त्रयेत् ॥

ततः—

स्थित्वा मन्त्रे तु प्राग्दिशः ॥६५॥

ऊर्ध्वाधो विकिरेद्धान्यान्यस्त्रभूतानि चिन्तयेत् ।

शिववदाचार्यस्य मध्ये स्थितिः ॥६५॥

एतानि च—

चामरेण सुशुभ्रेण अस्त्रमन्त्रेण संहरेत् ॥६६॥

ऐशान्यभिमुखान्येव

कुतः किमवधि ? इत्याह—

नैर्ऋत्या यावदैश्वरम् ।

अथ यागक्षेत्रमध्यक्रमेण

पञ्चगव्येन संप्रोक्ष्य गन्धाम्भोभिः शिवाम्भसा ॥६७॥

ध्रुवेण श्रियमावाह्य पद्महस्तां सुलोचनाम् ।

शुक्लपुष्पाणि मुञ्चन्तीं सर्वलक्षणसंयुताम् ॥६८॥

नीलोत्पलदलश्यामां यागहर्म्यावलोकिनीम् ।

ब्रह्मस्थानोपविष्टां तु द्वाराभिमुखभद्रदाम् ॥६९॥

गन्धपुष्पादिभिः पूज्य शिवकुम्भं प्रकल्पयेत् ।

द्वाराभिमुखस्य यागधाम प्रविशतः शिष्यादेः कल्याणकारिणीं मोक्षलक्ष्मीं संपूज्य शिवकुम्भं कुर्यात् ॥६९॥

कथमित्याह—

ऐशानीं दिशमाश्रित्य पञ्चगव्येन मण्डलम् ॥७०॥

गन्धोदकेन संलिप्य शिवाम्भोऽस्त्रेण प्रोक्षयेत् ।

अनन्ताद्यासनं दत्त्वा ध्रुवेणामण्डलावधि ॥७१॥

सर्वदोषविनिर्मुक्तं कुम्भं चन्दनलेपितम् ।

स्वस्तिकाद्यैश्चर्चयित्वा यवसिद्धार्थदूर्वभिः ॥७२॥

सितसूत्रेण संवेष्टय वस्त्रपूतेन चाम्भसा ।

संपूर्य सर्वतश्छन्नं चूताश्वत्थादिपल्लवैः ॥७३॥
रत्नगर्भौषधीयुक्तं सहदेवादिभिर्गणैः ।
प्रोक्ष्य चास्त्रेण संगृह्य कवचेनावगुण्ठितम् ॥७४॥
आसनस्योपरि न्यस्येन्मूलमन्त्रमनुस्मरन् ।

आमण्डलावधि इति परव्याप्त्या ब्रह्मबिलशक्तिव्यापिन्यात्मकानि ब्रह्मविष्णुरुद्राधिष्ठितानि यानि सूर्यादिमण्डलानि, तदन्तं न तु शिवान्तम्

मन्त्रशक्तिभिरुग्राभिः शोषनिर्दहनादिभिः ।
शरीरं शोषितं यस्मात्तदर्थमभिषेचनम् ॥' (स्व० ४।४५०)

इति भाविनीत्याप्यायनप्रयोजनस्योपसंहारप्रधानशिवान्तासनत्वानुपपत्तेः । यवादिभिरन्तर्गतैरुपलक्षितम्, सूत्रेण वर्मभूतेनेति, रत्नगर्भमोषधीयुक्तं च । सहदेवादिभिर्गणैरिति

'ओषधीनां वरैकैव सहदेवा शिवागमे ।'

इति सारसंग्रहे कथितत्वात् सहदेवाप्रधानौषधिलोहधातुबीजपुञ्जैर्युक्तमित्यर्थः । मूलमन्त्रम् इत्यादिना कलशस्य परचिन्मूर्तिमयत्वमुक्तम् ॥७४॥

अथ तत्र—

कलाध्वभैरवादीनि न्यस्यार्घादीन् प्रकल्पयेत् ॥७५॥
मुद्रां बद्ध्वा हृदादीनि पूज्यान्यग्निदलादिषु ।
गन्धपुष्पपवित्राद्यैः सितवस्त्रेण भूषयेत् ॥७६॥

अथ च पूर्वोक्तः सर्वो न्यासादिक्रम आश्रयणीयः । पवित्रम् अर्घपात्राम्बु न तु पवित्रकम्, तस्य नियतसमयपूरणाय नियतकालत्वात् । एवमुत्तरत्रापि ॥७६॥

अथ—

वामभागे तु कुम्भस्य पञ्चगव्येन मण्डलम् ।
शिवाम्भसा तु संप्रोक्ष्य प्रणवेनासनं न्यसेत् ॥७७॥
संप्रोक्ष्य च शिवाम्भोभिर्वार्धानीं मङ्गलान्विताम् ।
कुम्भवच्चार्चयित्वा तामासनस्योपरि न्यसेत् ॥७८॥

वामभाग इति क्रियाशक्तिव्याप्त्या भाविधारापातनक्रमेण विघ्नप्रशमनसिद्ध्यर्थम्, कुम्भवदासनस्योपरि तदङ्गत्वात्तद्व्याप्त्यैवेत्यर्थः । मङ्गलान्वितां सुलक्षणान्विताम् ॥७८॥

अथ—

गन्धपुष्पपवित्राद्यैः पूजयित्वा तु वार्धनीम् ।
उच्चार्यास्त्रं क्रमेणाग्रे द्रव्याणां वार्धनीं नयेत् ॥७९॥
अच्छिन्नामनुलोमेन जलधारां तु पातयन् ।
तत्स्थानात्तु समुद्धृत्य यावत्कोणं तु शांकरम् ॥८०॥

उच्चार्येति काकाक्षिवत् । तत्स्थानात् कलशवामादस्त्रमुच्चार्य वार्धनीं समुद्धृत्य अधिवास्यानां द्रव्याणामग्रे पृष्ठतोऽनुलोमेन पूर्वादिदिक्क्रमेण शाङ्करं कोणम् ऐशानं कोणं यावदच्छिन्नां विघ्नोत्सादनाय जलधारामस्त्रमुच्चार्य पातयन् पातयन्तं शिष्यं प्रयुञ्जानो गुरुर्नयेत् नाययेदित्यर्थः । अत्रोच्चार्य पाययन्निति द्वौ णिचौ ॥८०॥

अत्र च कर्मणि—

आचार्यः कलशं पश्चाद् भैरवेण समुद्धरेत् ।
नयेद्वार्धानिमार्गेण तस्मिन् संस्थापयेत् पुनः ॥८१॥

अग्रे भ्रमन्त्या वार्धान्याः पश्चाच्छिवकुम्भं भ्रमयन् स्वमन्त्रेण स्थापयेदित्यर्थः ॥८१॥

वार्धानीं स्थापयेत् पश्चादस्त्रमन्त्रमनुस्मरन् ।

स्थापयेदिति, क्रियाशक्तिव्याप्त्या धारापातेन लोकपालान् व्यवस्थाप्य भगवतो दक्षिणहस्ते वार्धान्यस्त्रमिति ॥

अथ—

विशेषपूजामुभयोर्गन्धपुष्पपवित्रकैः ॥८२॥
मन्त्रसंधानकं कुर्यान्नाडीसंधिमथोभयोः ।

किं च—

विकिरान् संहितान् पूर्वं वार्धान्याः कल्पयेदधः ॥८३॥

अत एव च—

अक्षतास्त्राण्यनेकानि शरकुन्तासिमुद्गराः ।
चक्रपट्टिसवज्रादित्रिशूलान्तान्यनेकशः ॥८४॥

यागौको व्याप्य सर्वं तु तिर्यगूर्ध्वमधः स्थिताः ।

वार्धान्यस्त्रस्य सर्वे ते रश्मिभूता व्यवस्थिताः ॥८५॥

एतच्च—

शिष्यस्य दक्षिणे हस्ते वार्धान्यस्त्रं तु संहितम् ।

तेन स्वस्थान एव स्थापितस्य शिवस्य शिवकुम्भदक्षिणेऽस्त्रं स्थापयेत् । यदुक्तं मृगेन्द्रेऽपि—

'तद्दक्षिण *महाशस्त्रम्' (कि० ७।२४) इत्यादि ॥

यत एवम्—

तेनैतं यज्ञरक्षार्थं यागादौ कलशं न्यसेत् ॥८६॥

कलशम् इति कलशाधिकरणमशेषयागाद्याप्यायनाद्यवभृथस्नानान्तप्रयोजनं भगवन्तमित्यर्थः ॥८६॥

तं च—

नैवेद्यं विविधं दत्त्वा नुत्वा विज्ञापयेद्विभुम् ।

भगवंस्त्वत्प्रसादेन यागं निर्वर्तयाम्यहम् ॥८७॥

संनिधानं सदा तुभ्यं

इच्छामीति शेषः । क्रियाग्रहणमपि कर्तव्यमिति चतुर्थी ॥

ततश्च—

अविघ्नार्थं सदा भव ।

एवं कृत्वा—

अनुज्ञातोत्थितो यायादर्घहस्तो दिगीश्वरान् ॥८८॥

ततश्च—

स्वनामपदविन्यासानोंकारादिनमोन्तगान् ।

गन्धपुष्पपवित्राद्यैः पूजयेत्तान् प्रयत्नतः ॥८९॥

'ॐ इन्द्र संनिहितो भव नमस्ते' इत्यादिस्वनामपदविन्यासपूर्वमेतान् प्रपूजयेत् ॥८९॥

तानुद्दिशति संक्षेपेण—

इन्द्राद्यनन्तपर्यन्तांल्लोकपालान् प्रपूजयेत् ।

---

*महेशास्त्रम्—पु०।

ऊर्ध्वे ब्रह्मा, अधोऽनन्तः, इत्यनन्तपर्यन्तानित्युक्तम्, तत्र चैशानदिगूर्ध्वे* ब्रह्मा नैर्ऋ तदिग्भागेऽनन्तः पूज्यः। इहाधिवासे गृहरक्षार्थं दश लोकपालाः पूज्याः। यागे तु पूर्वोक्तभैरवाष्टकव्याप्त्याष्टावेव, तथा श्रुतत्वात्।

यदर्थमेत्तकृदाह—

ततो मण्डलकं मध्ये यागभूमौ प्रकल्पयेत् ॥९०॥
पञ्चगव्येन लिप्त्वादौ गन्धतोयेन चोपरि।

मण्डलं लिम्पेदित्यर्थः। रजोमण्डलकं त्वधिवासादुत्तरकालं भविष्यति ॥९०॥

अथैतत्—

शिवाम्भसास्त्रमन्त्रेण संप्रोक्ष्य त्ववगुण्ठयेत् ॥९१॥

अर्थात् कवचमन्त्रेण ॥९१॥

अत्र चादौ—

ब्रह्मस्थानस्य पूर्वेण गुरून् पूज्य विनायकम्।
वायव्ये पूजयेद्देवि गन्धपुष्पैरनुक्रमात् ॥९२॥

अविघ्नार्थमादौ वायव्ये गणपतिं पूजयेत्, ततः पूर्वस्यां दिशि गुर्वादीनित्यनुक्रमार्थः ॥९२॥

अथैतांस्तु नमस्कृत्य आज्ञां दत्तां विभावयेत्।

एतैरेव।

इत्थं गृहीताज्ञः—

ततस्तु मध्यदेशस्थं योगपीठं प्रकल्पयेत् ॥९३॥
पूर्वोक्तेन विधानेन

आधारशक्त्यादिप्रेतान्तं परमेश्वरस्य योगशब्दवाच्यस्वशक्तिरूपपीठमासनम्। यथोक्तम्—

'योगोऽस्य शक्तयः स्वाक्याः' (मतङ्ग० १।१।४)

इति ॥ ९३ ॥

---

*अत्र योगिनीहृदयदीपिकास्थः (पृ० २३५) इन्द्रेशानदिशोरितो श्लोकों भविष्यति

अत्र च—

भैरवेशं वरानने ।

पूजयित्वा पवित्राद्यैस्त्रिरावरणसंयुतम् ॥९४॥

स्वध्यानगुणसंयुक्तं मुद्रालङ्कारभूषितम् ।

ब्रह्माङ्गावरणं भैरवावरणं सास्त्रलोकपालावरणं च—इति त्रीण्यावरणानि । ध्याने गुणः शुद्धस्फटिकत्वादिः । मुद्रा आयुधसंनिवेशाः, आभरणं कपालमालादि ॥ ९४ ॥

अत्र च—

मन्त्रसंधानकं पूर्वं नाडीसंधानमेव च ॥९५॥

परमीकरणं कुर्याद् व्यापकेन परेण तु ।

नैवेद्यान् विविधाकारान् दत्त्वा मुद्रां प्रदर्शयेत् ॥९६॥

प्रणिपातं जपं कृत्वा निवेद्य विधिपूर्वकम् ।

पश्चाद्बलिः प्रदातव्यो मातॄणां भूतसंहते ॥९७॥

भूतेश्वराणां देवेशि क्षेत्रपालस्य सर्वतः ।

भूता ये च विविधाकारा दिव्यभौमान्तरिक्षगाः ।' (३।२०७)
इत्यादिना भाविना मन्त्रेण कलशादियागान्तेऽपि, एतेभ्यो भगवदनुचरेभ्यो बलिर्देयः ॥९७॥

एवं दत्तबलिराचार्यः—

ततः स्नायादथोद्धूल्य अथवाचम्य सुव्रते ॥९८॥

ततोऽग्निकुण्डं गत्वा तु पूर्ववच्छोधनं तथा ।

भैरवं पूजयेत्तत्र विधिदृष्टेन कर्मणा ॥९९॥

सत्कर्मान्तरायभूतबलिस्पर्शसंजात(ता)शुद्धिविकल्पानुसारेण स्नानादि कार्यम्, शोधनमग्नेः संस्करणम् ॥ ९९ ॥

ततश्च शिवीकृत्य पूजितस्य—

अग्नेः संतर्पणं कुर्यात् सहस्रेण शतेन वा ।

यथासंभवं तिलाद्यैः, परिवाराणां दशांशतः, इत्युक्तमेव ॥

ततश्चरुं च श्रपयेत्

पचेत् पाचयेद्वा ॥

तद्वा कथम् ?

स्थालीं संगृह्य निर्व्रणाम् ॥१००॥

शिवाम्भसा तु प्रक्षाल्य कवचेनावगुण्ठयेत् ।

चन्दनाद्यैर्विलिम्पेत् तां मृष्टधूपेन धूपयेत् ॥१०१॥

सूत्रेण वेष्टयेत् कण्ठे वर्मभूतेन सुव्रते ।

अथ स्थाल्याः—

दर्भेणास्त्रस्वरूपेण कल्पयेन्मण्डलं प्रिये ॥१०२॥

प्रोक्ष्य चैव शिवाम्भोभिः कवचेनावगुण्ठयेत् ।

आसनं तत्र विन्यस्येदनन्तादिशिवान्तकम् ॥१०३॥

तत्र च—

मूर्तिभूतां न्यसेत् स्थालीं तत्रस्थं भैरवं यजेत् ।

त्रिरावरणसंयुक्तं गन्धपुष्पैरनुक्रमात् ॥१०४॥

मानसेन प्रयोगेण भावपुष्पैर्वरानने ।

चरोः पुष्पादिसंकीर्णतया विरसता मा भूत्, इति पूजात्र नोक्ता ॥ १०४ ॥

अथ—

चुल्लीं संप्रोक्ष्य चास्त्रेण कुण्डवच्चार्चयेत्ततः ॥१०५॥

प्रोक्षणं कुण्डोक्तसंस्कारान्तरोपलक्षणाय ॥ १०५ ॥

तत्र स्थालीं समारोप्य पश्चादग्निं न्यसेदधः ।

पूर्वसंस्कृतोद्धृतम् ॥

अथ स्थाल्याम्—

क्षीरं प्रोक्ष्य शिवाम्भोभिस्तण्डुलांश्च समासतः ॥१०६॥

मन्त्रेणाष्टशतेनैव प्रक्षिप्य पाचयेच्छनैः ।

मूलमन्त्रेण देवेशि एकचित्तः समाहितः ॥१०७॥

शनैरिति, यथा स्थाली न भज्यते ॥१०७॥

तत्र च—

चालनोद्घाटनादीनि अस्त्रमन्त्रेण कारयेत् ।

कारयेदिति पूर्वदीक्षितशिष्येण ॥

अथात्र चरौ—

तप्ताभिघारं सुस्विन्ने अङ्गैश्चैव प्रकल्पयेत् ॥ १०८॥

त्रिभिस्त्रिभिर्घृतेनैव स्रुवेण जुहुयात् प्रिये ।

तप्तश्चासावग्निव्याप्त्याभिघारश्च आज्यामृतसेचनेन उद्दीपनात्मा, धात्वार्थानुसारात् । एष च दीप्तस्वाहान्तमन्त्रैः स्थाल्यां होमोऽस्विन्नतादोषनाशनाय ॥ १०८ ॥

अथ—

भूमौ मण्डलकं कृत्वा प्रणवेनावतारयेत् ॥१०९॥

स्थालीमाज्योपलिप्तां तु शीताघारं च होमयेत् ।

भैरवेण षडङ्गेन वषड्जातियुतेन च ॥११०॥

शीतेति सोमव्याप्त्या अस्विन्नतादोषनाशनाय, अत्रान्तरे स्वा इति चरौ हा इत्यग्नौ उच्चार्य जुहुयादिति गुरवः । एवमग्नीषोममयश्चरुः संस्कारतः संपन्नः । यथोक्तं श्रुतौ—

'यो ह वैतदग्नीषोमीयमाज्यं जुहोति तस्यैतदमृतीभवति ।'

इति । [1]श्रीमृगेन्द्रोत्तरेऽपि—

'अग्नीषोमात्मकावेतावाघारौ विहितौ चरौ ।

अमृतत्वाप्तये तत् स्यादग्नीषोमात्मकं यतः ।"

इति ॥ ११० ॥

ततः—

मण्डलं कुण्डसामीप्ये कृत्वा दर्भासनं न्यसेत् ।

स्था(ल्यां लीं) तस्योपरि न्यस्य संपातं मन्त्रसंहिताम् ॥१११॥

जपन्नेकैकयाहुत्या पातयेद् भैरवेण तु ।

निष्कलतदङ्गवक्त्रोच्चारपूर्वं स्वा इत्यग्नौ हा इति चरौ उच्चार्य जुहुयादिति संपातहोमक्रमः ॥ १११ ॥

प्रसङ्गादग्नीषोमताभिव्यक्तये सर्वत्र संपातहोममाह —

अष्टोत्कृष्टशतेनैव परामृतमनुस्मरन् ॥११२॥

रजस्यादौ ततो देवि कर्तर्यां करणौ तथा ।

---

१. मृगेन्द्रे क्रियापादे (७।४२) द्रष्टव्यम् ॥

खटिकातिलाज्यसंपातं मूलमन्त्रेण कारयेत् ॥११३॥

मूलमन्त्रं तत्करणे चिदानन्दात्मकपरामृतानुस्मरणेन तत्समर्थाचरणेन प्रयुञ्जीतेत्यर्थः ॥

अथ—

त्रिभागं कल्पयित्वा तं चरुं स्थाल्यां तु संस्थितम् ।
शिवाग्निसाधकेभ्यश्च शिवायाग्रं निवेदयेत् ॥११४॥

शिवाग्निसाधकार्थं त्रयो भागा यस्य तादृशं तमिति अलौकिकं चरुं कल्पयित्वा अग्रं शिवभागात् स्थालिकलशाद्यर्थं भागीकृतात् प्रथमं भागं शिवाय मण्डलस्थाय दद्यात् ॥ ११४ ॥

अग्न्यादिभागादिविनियोगमाह—

द्वितीयं होमयेदग्नौ साधकेभ्यस्तृतोयकम् ।

साधकाः शिवाराधकाः ॥

शिवाय विनिवेदने विधिमाह—

चरुं पात्रे तु संगृह्य पूजयेद् भैरवेण तु ॥११५॥
पुष्पधूपादिभिर्नीत्वा धाम्नैतं विनिवेदयेत् ।

अनन्तरम्—

हृदाद्यावरणस्थानां दशमांशं निवेदयेत् ॥११६॥
कलशेऽप्येवमेवं तु

मण्डलवत् कलशे सपरिवारे विधिः ॥ ११६ ॥

अथ—

अग्नौ होम्यश्चरुः स्रुचा ।

तत्र—

भैरवस्य शतं होम्यमङ्गानां तु दशांशकम् ॥११७॥
साधकेभ्यस्तु यच्छेषं पिधाय स्थापयेत् प्रिये ।

शेषम् इत्यवशिष्टभागरूपम् । स्थापयेदिति साधकानां शिष्याणामद्याप्यसंस्कृतानां संस्कृतचरुभोजनेऽनधिकारात् ॥ ११७ ॥

अथाधिवासार्थं होममाह—

विनायके शतं होम्यं भूपरिग्रहणे तथा ॥११८॥

भुवः पूर्वावतारितमोक्षलक्ष्याधिष्ठितायाः परिग्रहे स्वीकारनिमित्तम्, तेन 'ओं भुवे स्वाहा, ओं श्रिये स्वाहा' इति प्रयोगः। शतं शतं होम्यम् ॥ ११८ ॥

किं च—

अधिवासे तथैवेह अष्टोत्तरशतं हुतिः।

प्राङ्निर्णीताधिवासनिमित्तम्। हुतिरिति भैरवस्य स्यादित्यर्थः ॥

अथ—

प्रायश्चित्तनिमित्तं तु अनुलोभविलोमके ॥११९॥
न्यूनातिरिक्ते देवेशि अष्टोत्तरशतं हुतिः।

अनुलोमस्य विधिक्रमस्य विलोमोऽन्यथात्वम्, तत्र न्यूनाधिके च यत् प्रायश्चित्तं प्रायस्तपसि चित्तं निश्चयस्तदर्थम्, मूलेन 'प्रायश्चित्ताय जुहोमि स्वाहा' इत्यन्तेन होमः ॥ ११९ ॥

शिष्यं संस्कर्तुं पीठबन्धं करोति—

भैरवं पूजयित्वाथ प्राथ्यानुज्ञां वरानने ॥१२०॥
शिशोः कर्म प्रकर्तव्यं यथा भवति तच्छृणु।

शिशोरिति शक्तिपाताङ्कुरितश्रीशिवभावस्य। कर्म इति अधिवासरूपम् ॥ १२० ॥

तदाह—

द्वारे मण्डलकं कृत्वा दर्भं तस्योपरि न्यसेत् ॥१२१॥
प्रणवेनासनं कल्प्यं शिष्यं तस्मिन्निवेशयेत्।
समपादं स्तब्धकायं सौम्याननकृताञ्जलिम् ॥१२२॥

द्वारे द्वारसमीपे, स्तब्धकायम् उत्थितम्, सौम्यदिगभिमुखं प्रसन्नवदनं च ॥ १२२ ॥

गुरुः पूर्वमुखोऽस्त्रेण प्रोक्षयेत्तं शिवाम्भसा।
भस्मना ताडयेन्मूर्ध्नि अस्त्रमन्त्रेण चालभेत् ॥१२३॥

भस्मना ताडनं यतेः, आलम्भनं स्पर्शश्च ॥ १२३ ॥

नाभ्यूर्ध्वं त्रींस्तथा वारान्नभ्यधस्त्रीन् प्रकल्पयेत् ।

एतत्संस्कारत्रयं पाशशैथिल्याय अधस्त्रीन् वारान मलत्रयोत्पुंसनार्थम्, ऊर्ध्वं तु शक्तित्रयोत्तेजनाय ॥

अथैवं शिथिलपाशत्वादेव विहितदेहादिशुद्धौ शिशौ—

शिवं न्यासाङ्गसहितं पूजयेद् भैरवेण तु ॥१२४॥

किं च—

वस्त्रं संप्रोक्ष्य चास्त्रेण कवचेनावगुण्ठयेत् ।

पूजयेद् भैरवेणैव

तेनैवास्य—

मुखं प्रच्छादयेत्तथा ॥१२५॥

करणानां बहिष्प्रसरनिवारणायान्तर्विन्यस्तभैरवप्रकाशप्रत्यङ्मुखीकरणाय च बुद्धीन्द्रियाश्रयस्य मुखस्य प्रच्छादनम् ॥ १२४ ॥

बुद्धीन्द्रियकर्मेन्द्रियाणां संयमनाय यत्प्रधानपाण्यवष्टम्भपूर्वं शिष्यं प्रवेशयेदित्याह—

हस्ताभ्यां तं गृहीत्वाथ विशेज्जवनिकान्तरम् ।

ततोऽपि—

देवस्याभिमुखं कृत्वा

तस्य च—

पुष्पं पाणौ प्रदापयेत् ॥१२६॥

एकमेव पुष्पं मूलाभिमन्त्रितं पुष्पपातस्य सम्यङ् निर्णयाय दत्त्वा ॥

ततश्च—

प्रक्षेपयेत्ततो धाम्ना

क्षिप पुष्पमिति तं प्रयुञ्जीत, तत्पातावसरे च मूलमुच्चारयेद्गुरुरित्यर्थः ॥

अथास्य—

मुखमुद्घाट्य दर्शयेत् ।

विद्यामन्त्रगणैः सार्धं कारणं ससदाशिवम् ॥१२७॥

कारणम् इति निष्कलनाथम्, सह सदाशिवेन सकलभट्टारकेण वर्तमानम् ॥ १२७ ॥

अथासौ—

अज्ञानपटनिर्मुक्तः प्रबुद्धः पशुरीक्षते ।
दण्डवद्धरणीं गत्वा प्रणिपत्य पुनः पुनः ॥१२८॥

अज्ञानेत्यनेन पटापासने व्याप्तिरुक्ता । प्रागवस्थो यः पशुः स इदानीमेव प्रबुद्धः, अत एव जन्मसहस्रापूर्वभगवत्स्वरूपावलोकनाद्विस्मयाविष्टः पुनः पुनर्भगवन्तमीक्षते। दण्डबद्गमनेन देहादिप्रमातृतापह्स्तनात् श्रीशिवसमावेशानुसरणे योग्यतास्य दर्शिता ॥१२८॥

अत एवासौ—

कृतकृत्यः प्रहृष्टात्मा

तं च—

प्रहृष्टनयनं शिशुम् ।
उत्थाप्य हस्तात् संगृह्य दक्षिणां मूर्तिमानयेत् ॥१२९॥

चिदानन्दात्मकस्वरूपस्पर्शात् प्रहृष्टनयनम् । उत्थाप्य इति चिरतरं देहादिभूमिमग्नं तत उन्मज्ज्य युक्त्येत्यर्थः । दक्षिणाम् अनुकूलां शिवात्मिकामेव, न तु पाशवीं देहमयीम् ॥१२९॥

श्रीमदघोरभट्टारकसंमुखं च—

तत्र मण्डलकं कृत्वा पुष्पेण प्रणवासनम् ।
तस्योपरि शिशुं न्यस्य ऊर्ध्वकायमुदङ्मुखम् ॥१३०॥
गुरुः पूर्वाननः स्थित्वा प्रोक्षणादीनि कारयेत् ।

आदिशब्दात्ताडनालम्भने प्राग्वत् । कारयेदिति, कुर्वतो मन्त्रांस्तद्वीर्यानुप्रवेशेन प्रयुञ्जीत ।

अथात्रासने—

उपवेश्य ततः कृत्वा सकलीकरणे विधिम् ॥१३१॥
विशेषफलसिद्ध्यर्थं मुमुक्षोः साधकस्य वा ।

सामान्येन कृतसंस्कारस्य दृष्टभगवत्स्वरूपस्यापि—

'शिवपूजाग्निकार्यादौ सकलीकृतविग्रहः ।
नान्यथा प्राक्स्वरूपेण ।' [३।१४६)

इति वक्ष्यमाणत्वात् पुनर्यथायोगं भोगाय मोक्षाय वा शिवार्चाद्यर्हत्वविशेषफलसिद्धयर्थं सकलीकरणेऽस्य विधिं कृत्वा 'कलाध्वानं न्यसेत्पश्चात्' इति व्यवहितेन संबन्धः ॥१३१॥

सकलीकरणं क्रमेणादिशति—

गन्धदिग्धौ करौ कृत्वा अस्त्रेण परिशोधयेत् ॥१३२॥
कवचेनावगुण्ठ्यैतौ प्लावयेदमृतेन तु ।

तयोरेव च—

अनन्तमासनं कल्प्यं भैरवाङ्गानि विन्यसेत् ॥१३३॥

भैरवश्चाङ्गानि चेति द्वन्द्वः ॥१३३॥

देहन्यासमाह—

व्योम्न्यात्मानं योजयित्वा शिशोः शोष्या तनुः प्रिये ।
आग्नेयीं धारणां ध्यात्वा निर्दह्यास्त्रेण तं शिशुम् ॥१३४॥
धूमज्वालाविनिर्मुक्तं दग्धकायं विभावयेत् ।
भस्मीभूतं ततः शान्तं प्लावयेदमृतेन तु ॥१३५॥
व्योमवच्चिन्तयेद्देहं चैतन्यं कनकाग्निवत् ।
शक्तिन्यासं न्यसेत् पूर्वं कमलं प्रणवेन तु ॥१३६॥
तस्योपरि तदात्मान ध्यायेज्ज्योतिर्मयं शुभम् ।
मूर्तिमन्त्रं समुच्चार्य मूर्तिभूतं प्रकल्पयेत् ॥१३७॥

तत्सर्वं भावनया कार्यम् ॥१३७॥

कथमित्याह—

पूर्वोद्धृतेन मन्त्रेण

जातावेकवचनम् । तेन—

'संहारेण यभिन्नेन' (२।३६)

इत्यादिः सर्वः पूर्वोक्तः क्रम आश्रयितव्यः । एवमुत्तरत्र ॥

प्राग्वदेव शिवावेशावष्टम्भरसेन—

प्लावयेदमृतेन तु ।

अथ—

मन्त्रन्यासो यथापूर्वमष्टात्रिंशत्कलावधि ॥१३८॥

अथात्रैवान्तर्बहिश्च शुद्धतत्त्वात्मकदेहसर्गाय सृष्टिक्रमेण—

कलाध्वानं न्यसेत् पश्चाच्छान्त्यतीताद्यनुक्रमात् ।

स्फटिकाभा तथा कृष्णा रक्ता शुक्ला च पीतका ॥

शान्त्यतीतादिका ज्ञेयास्तत्त्वभूतास्तु ताः कलाः ।

तत्त्वभूता इति खादिपृथिव्यन्तास्तत्त्वरूपतां प्राप्ताः, अत एवासां यथोचितमेव ध्यानं युक्तमित्येष शुद्धतत्त्वसृष्ट्यर्थं कलापञ्चकन्यासोऽत्राधिवासे तावदुक्तः । पुत्रकादीनां तु भाविपटलेऽन्यथैव संहारक्रमेण दीक्षार्थमसौ भविष्यति, इति न त्वत्राप्राकरणिकमेतदिति भ्रमितव्यम् ॥१३९॥

उक्तसकलमन्त्रन्यासोपरि—

धाम्नावाह्य तथाङ्गानि न्यस्यान्तःकरणं भवेत् ॥१४०॥

आत्मान्तःकरणे यद्वत् तद्वत् पूजां समारभेत् ।

धाम प्रोच्चार्य संदध्यात् सबाह्याभ्यन्तरं पुनः ॥१४१॥

संधानं नाडीमन्त्रात्मकम् सबाह्याभ्यन्तरम् इति देहान्तःकरणाश्रय भैरवविषयम् स्थण्डिलाभ्यन्तरभेदेनेति त्वसत् ॥१४१॥

अथ—

शिवहस्ते विभुं ध्यात्वा मन्त्रग्रामं सुजाज्वलम् ।

धामोच्चार्य च संधाय शिष्यमूर्ध्नि करं न्यसेत् ॥१४२॥

अधोमुखेन हृत्पृष्ठे शिवहस्तेन चालभेत् ।

विभुं व्यापकम्, सुजाज्वलत्वं पाशदाहाय । संधायेति पूर्ववन्नाडीमन्त्रक्रमेण, ब्रह्मरन्ध्रहृदययोर्भगवदधिष्ठानेऽपि पाशावृतत्वमस्तीति मूलभूमौ तत्र पाशदाहेन पारमेश्वरस्वभावोद्दीपनार्थमङ्गुलिपञ्चकाभिव्यक्तचिदादिशक्तिपञ्चकव्याप्तिना शिवहस्तेन स्पर्शः ॥

उत्थाप्य दत्त्वा पुष्पं तु अञ्जलौ भैरवेण तु ॥१४३॥

प्रवेश्याभ्यर्चयेच्छंभुं

उत्थाप्येति, उत्पूर्वस्य तिष्ठतेरीहार्थत्वाद्भगवत्पूजोद्योगं ग्राहयित्वेत्यर्थः। प्रवेशो 'मण्डलेऽत्र शिवं पूजय' इत्याज्ञया भक्तिश्रद्धोन्मुखस्य तत्परत्वापादनम् यथा व्याकरणे प्रवेशित इति। अर्चयेदिति, अर्चतेर्णिच् ॥१४३॥

शिष्योऽपि तथाचार्येण शिक्षितमन्त्रः पुष्पम्—

शिवमुच्चार्य निक्षिपेत्।

अथ—

निर्गत्य वन्दयेद्देवं दण्डवत्

मण्डल इति योज्यम् ॥

तथा—

त्रिः प्रदक्षिणम् ॥१४४॥

शिवकुम्भाग्निमध्यस्थं स्थण्डिलस्थं च वन्दयेत्।

त्रिरिति त्रिविधेऽपि कालाध्वनि दण्डवत्, दक्षिणः स्वस्वरूपप्रथापरो मे भवेति वाञ्छया स्वदक्षिणमेव भगवन्तं कुर्वन् परिभ्राम्यन् स्तुवीत ॥१४४॥

एवं च—

शिवपूजाग्निकार्यादौ सकलीकृतविग्रहः ॥१४५॥

नान्यथा प्राक्स्वरूपेण पूजनार्हो भवेत्तु सः।

भवेदिति वाक्यद्वये योज्यम्। आदिशब्दाज्जपध्यानादौ ॥१४५॥

किं च—

नीत्वा कुण्डसमीपं तं शिष्यहस्तावियोगतः ॥१४६॥

आत्मसव्येऽथ दिग्भागे मण्डलं प्रणवेन तु।

प्रणवेनासनं दत्त्वा तस्योपरि शिशुं न्यसेत ॥१४७॥

विन्यास्यमन्त्रतेजसां ज्ञानक्रियाशक्तिस्फारमयेन स्वहस्तेनास्य निमग्ने ज्ञानक्रियाशक्ती हस्ताकर्षणयुक्त्या कर्षन्निति हस्तावियोगार्थः। सव्ये दक्षिणे, शिशुमित्यद्यापि अतरुणीभूतशिवस्वरूपम् ॥१४७॥

उपवेश्य करे दर्भं भैरवेण समर्पयेत्।

दर्भस्य—

मूलं शिष्यस्य हस्तस्थं साग्रमाचार्यजङ्घयोः ॥१४८॥

हस्तयोः प्रसारितयोः सव्येतरशाखारूपयोर्मध्ये तिष्ठति, इति हस्तस्थम्, जङ्घयोरिति जङ्घोपजङ्घयोरूरुजानुसंधावित्यर्थः ॥१४८॥

दर्भस्य व्याप्तिमाह—

पिङ्गला मध्यमा नाडी शिष्यदेहाद्विनिर्गता ।
सैवात्र दर्भभूता तु गुरुनाड्यां लयं गता ॥१४९॥

अथ—

नाडीसंधानहेत्वर्थं भैरवेणाहुतित्रयम् ।
तया नाड्या प्रवेष्टव्यं शिष्यस्य हृदये सकृत् ॥१५०॥
ग्रहणाकर्षणार्थं तु

भैरवो निष्कलः, 'शिष्यमध्यनाडी मन्मध्यनाड्यां संलीनास्तु स्वाहा' इत्यत्र प्रयोगः । ऐकात्म्यप्राप्तिरूपनाडीसंधानपूर्वमेव ग्रहणाकर्षणे युज्येते । यथोक्तं श्रीस्पन्दे—

'अयमेवात्मनो ग्रहः ।' (४।२)

इति ॥१५०॥

अत एवाह—

गृह्णन् मुञ्चन् पुनः पुनः ।
दीक्षाकाले यतश्चैवं तदर्थं नाडिसंहतिः ॥१५१॥

आचार्यः शिष्यात्मा भवतीति पूर्वपादान्तशेषः । समयिदीक्षायां शिष्यात्मनो हृदयाद् द्वादशान्तमाकर्षणम्, ततोऽपि स्वहृदये सामरस्यापत्तिरित्यादि, पुत्रकादिदीक्षायां तु पाशमात्र (सूत्र) वागीशीगर्भयोजनादिकमधिकम् ॥१५१॥

अथ सर्वाश्रयन्यस्तमन्त्रैः समं शिष्ये वह्नौ चाग्नीषोमात्मतामभिव्यङ्क्तुं संपातहोमं निरूपयति—

शिष्यस्याथ शिरोभूमौ भैरवेण विधाय तु ।
संपातं सर्वमन्त्रैस्तु ध्रुवेणाज्याहुतिं क्षिपेत् ॥१५२॥

जुहुयादिति शेषः ॥१५२॥

कथमित्याह—

मूलमन्त्रं समुच्चार्य स्वा इत्यग्नौ प्रपातयेत् ।
हेति शिष्यस्य शिरसि संपातः शिवचोदितः ॥१५३॥

स्पष्टार्थम् ॥१५३॥

संपातं व्याचष्टे—

शिष्यदेहे तु ये मन्त्राः सबाह्याभ्यन्तरं स्थिताः ।
कुण्डस्थाः पूजिता ये तु धामाद्यावरणान्तगाः ॥१५४॥
युगपत्तर्पणं तेषां संपातस्तेन कीर्तितः ।
एकैकस्यात्र मन्त्रस्य आहुतित्रितयेन तु ॥१५५॥

संपातो युगपत् सर्वत्राग्नीषोमात्मकस्वरूपोन्मीलनात्मा संस्कार इत्यर्थः ॥१५५॥

किं च—

उत्थाप्य च ततः शिष्यं तदर्थं मन्त्रतर्पणम् ।

कुर्यादित्यर्थः ॥

तत्र—

भैरवाय शतं हुत्वा हृदादौ दशकं हुतिः ॥१५६॥

दशांशेन स्यादित्यर्थः ॥१५६॥

अथ—

धाम्ना चोत्थाय होतव्यं पूर्णाहुत्यानुतर्पयेत् ।

उत्थायेत्यनेन पूर्णाहुतिप्रयोगं स्मारयति ॥

एवं सामान्येन समयिदीक्षाविषयमधिवासमुक्त्वा पुत्रकादौ तद्विशेषमाधातुं यः पाशसूत्रविधिर्भविष्यति, तत्र पाशानां बन्धनाय मन्त्रोद्दीपनं कर्तुमाह—

मन्त्राणां दीपनं कुर्याद् धामाद्यस्त्रावधि क्रमात् ॥१५७॥

कथमित्याह—

हुंकारद्वयमध्ये तु मूलमन्त्रं समुच्चरन् ।
प्रणवादिफडन्तेन आहुतीः प्रतिपादयेत् ॥१५८॥

एषैव—

हृदादोनां च सर्वेषां जातिरुक्तात्र दीपने ।

जायते तत्तत्कार्यानुगुण्यमनयेति जाति विशिष्टो मन्त्रप्रयोगः। हृच्छब्दो वक्त्रादीन्युपलक्षयति ॥

एतच्च—

पाशानां बन्धनार्थाय मन्त्राणां दीपनं स्मृतम् ॥१५९॥

ते च दीप्ताः सन्तः—

मन्त्राः करणभूतास्तु पशुकार्यस्य साधने ।

पशुकार्यं दीक्षा ॥

यस्यैतानि करणानि स महाप्रभावः—

आचार्यः करणं प्रोक्तः

कर्तेत्यर्थः ।

कथमस्य शरीरादिमतो मन्त्राः करणमित्याह—

शिवरूपो यतः स्मृतः ॥१६०॥

सत्यपि देहे निरुपाधिचित्प्रकाशशिवाहंभावमय इत्यर्थः । ईदृशस्यैवानुग्रहेऽधिकृतत्वाच्चेत्याहुः—'आचार्याधिकरणः शिवो दीक्षायां साक्षात्कर्ता मण्डलस्थस्तु प्रयोजकः' इति । ततस्तेषां सरस्वतीगर्भाधानसमये शिवः साक्षात्कर्ता, प्रयोजक आचार्यः, इत्यादि स्वोक्तेन व्याहन्यते। न च प्रयोज्यप्रयोजकभावः कश्चिदत्र पूर्वत्र वा ग्रन्थेऽस्तीत्यसदेवैतत्, तस्मात् सर्वमन्त्रोदयप्रणयहेतुश्चिद्घनशिवात्ममय एवाचार्योऽत्राधिकृतः । मन्त्राणामुद्दीपनमवश्यं कार्यमित्यर्थः ॥१६०॥

क्रूरकार्ये तु कर्तव्ये मन्त्रान् संदीप्य योजयेत् ।

क्रूरजात्यनुरूपेण वाचकान् योजयेत् सदा ॥१६१॥

क्रूरकार्यं पाशानां बन्धच्छेदादि, पूर्वोक्तेन क्रूरजातिक्रमेण योजनमेव मन्त्राणामुद्दीपनम् ॥

अत्र चावसरे—

भ्रुकुटीकरालवदनान् वाच्यरूपान् विचिन्तयेत् ।

ईदृशं वाच्यवाचकानां क्रूरत्वमन्यत्रापि साधकविषये क्रूरकार्ये मन्तव्यम् ॥

अत एवाप्यायनादौ—

सौम्यजातियुतान् सौम्ये सौम्यरूपान् विचिन्तयेत् ॥१६२॥

सौम्यजातिर्वषडादिका ॥१६२॥

यदर्थं मन्त्रोद्दीपनं तत्प्रतिजानीते—

पाशकर्म ततो वक्ष्ये

एतच्च भाविपुत्रकदीक्षाधिवासाय। तत इति मन्त्रोद्दीपनानन्तरम्, पाशकर्म पुत्रकादिदीक्षोपयोक्ष्यमाणस्य भाविपाशसूत्रस्य यदधिवासरूपं कर्म तद्वक्ष्ये इत्यर्थः ॥

तत्क्रमेणाह—

कन्याकर्तितसूत्रकम्।

त्रिगुणं त्रिगुणीकृत्य

कन्या अनुपजातविकारपरशक्त्यानुकृतरूपेति। ततो मूलभूमेः प्रवृत्ता-नामाणवमायीयकार्मरूपाणां सत्त्वादिगुणत्रयात्मकप्रपञ्चव्याप्तिभाजां पाशानां भाविबन्धच्छेदादिकं समूलमुन्मूलनार्थम्, इति कन्याकर्तितत्वे त्रिगुण-त्रिगुणत्वे चाशयः ॥

अथैतत्—

पाशबन्धनसूत्रकम् ॥१६३॥

शिवाम्भोऽस्त्रेण संप्रोक्ष्य कवचेनावगुण्ठयेत्।

पूजयित्वा विधानेन गन्धपुष्पादिधूपकैः ॥१६४॥

प्रसारयेद् गृहीत्वा तन्मूर्धाद्यङ्गुष्ठकावधि।

शिष्यस्य स्तब्धदेहस्य

'ओं पाशबन्धनसूत्राय नमः' इति पूजाविधानं सर्वाध्वव्याप्तिचिन्तनम्, 'शिष्यस्य इति पुत्रकादेर्न तु समयिनः। स्तब्धदेहता पाशानां बन्धाद्देहेन्द्रिया-दीनां निष्क्रियत्वानुव्याप्त्या। तत्सूत्रं पुमान् दक्षिणेन स्त्री वामेन करेण मूर्ध्नि धारयेदित्यसत्। दीक्ष्यहस्तयोर्दर्भनाडीधारणे व्यापृतत्वमतः शिखाया-मेव पाशसूत्रं लम्बयेत्। एकैव क्रियाशक्तिः पारमेश्वरीत्थं स्वरूपगोपनेन पाशरूपतया स्थिता, इत्येकत्वमिह पाशसूत्रस्य। श्री पूर्वादौ तु शक्तित्रयमेव त्रितत्त्वेन स्थितम्, इत्याशयेन त्रीणि सूत्राणीति प्रक्रियामात्रभेदः ॥१६४॥

तच्चास्य सूत्रम्—

नाडीभूतं विचिन्तयेत् ॥१६५॥

सा च—

सुषुम्ना मध्यमा नाडी सर्वनाडीसमन्विता ।

ओंकारादि स्वनाम्ना तु नमस्कारावसानकम् ॥ १६६॥

शिष्यदेहस्थितां नाडीं सूत्रे संगृह्य योजयेत् ।

भावनयेति शेषः । सूत्रभूतायां नाड्यां सर्वनाडीभिः समन्विता भावनया संगता योजिता च ॥१६६॥

ताम्—

गन्धपुष्पादिभिः पूज्य कवचेनावगुण्ठयेत् ॥१६७॥

अत्रैव संनिधानार्थं होममाह—

संनिधानाहुतीस्तिस्रः स्वनामपदजातिकाः ।

दद्यादिति शेषः । 'ओं सुषुम्नायै स्वाहा' इत्यत्र प्रयोगः ॥१६७॥

अथ—

शिवाम्भोऽस्त्रेण संप्रोक्ष्य शिष्यस्य हृदयं पुनः ॥१६८॥

ताडयेदस्त्रपुष्पेण

एवं च—

हृदि चित्संहृता भवेत् ।

सर्वव्यापिकापि हृदयैकनिष्ठीकृता भवतीत्यर्थः ॥

तदनु योगक्रमेण भावनयापि वा—

हुंकारोच्चारयोगेन रेचकेन विशेद्धृदि ॥१६९॥

नाडीरन्ध्रेण गत्वा तु चैतन्यं भावयेच्छिशोः ।

कदम्बगोलकाकारं स्फुरत्तारकसंनिभम् ॥१७०॥

हृत्स्थं छित्वास्त्रखड्गेन हुंफट्कारान्तजातिना ।

निष्कलास्त्रमेव खड्गः तेन शिशोः पुर्यष्टकं रश्मिमात्रावियोगि च्छित्त्वा ॥१७०॥

धाम्ना चाङ्कुशरूपेण कर्षेच्छक्त्यवधि क्रमात् ॥ १७१॥

अङ्कुशेति पाश्चात्यकुटिलालकात्मना ख्यातेन। शक्त्यवधि द्वादशान्तं तच्च नासिक्यमिह ॥१७१॥

ततः—

द्वादशान्तं तु संगृह्य संपुट्य हृदयेन तु।
संहारमुद्रया योज्यं सूत्रे नाडीप्रकल्पिते ॥१७२॥
व्यापकं भावयित्वा तु कवचेनावगुण्ठयेत्।

प्रणवनिष्कलोच्चारपूर्वं 'देवदत्तचैतन्यं पाशसूत्रे योजयामि नमः' इति प्रयोगात् सूत्रदेहे योजितस्यास्य व्यापकत्वभावना ॥१७२॥

अथास्मै पूजां कृत्वा—

भैरवेणाहुतीस्तिस्रः संनिधानस्य हेतवे ॥१७३॥

दद्यादिति शेषः ॥१७३॥

पाशसूत्रविधेः प्रयोजनमाह—

द्वितीयः सूत्रदेहस्तु पाशा यत्र स्थितास्त्विमे।
बन्ध्याश्छेद्यास्तथा दाह्याः सूत्रस्थाने

सूत्रस्थाने समस्तपाशाश्रयस्य समावृतिहेतोः प्राणदेहस्य परोक्षत्वेन साक्षाद्बन्धाद्ययोगे तत्प्रतिकृतिरूपं भाविशोध्यदेहासूत्रणात् सूत्रदेहं कल्पयित्वा तत्स्थान् पाशान् बध्नीयात् छिन्द्यात् दहेच्चेत्यर्थः। इमे इत्यनन्तरमेव वक्ष्यमाणाः ॥

'.........येनेदं तद्धि भोगतः।'

इत्याम्नातत्वादारब्धकार्ये दीक्षोत्तरकाले भगवदचर्चादिहेतौ तु न दाहादि युक्तमित्याह—

न विग्रहे ॥१७४॥

पाशानां संख्यासंज्ञास्वरूपाणि क्रमेण कथयति—

पाशास्तु त्रिविधा भाव्या मायीयाणवकर्मजाः।
चैतन्यरोधकास्त्वेते कार्यकारणरूपिणः ॥१७५॥

मायोत्थत्वं मायायां भवत्वं मलान्तरेऽप्यस्तीति रूढ्यैव भिन्नवेद्यप्रथा-रूपं मलं मायीयम् उच्यते । अत एवान्यत्र—

'अथात्ममलमायाख्या........'

इत्याख्याशब्दः । अणूनामयम् आणवः अपूर्णम्मन्यतात्मा लोलिकारूपः । कर्म यजनब्रह्महननादिरूपम्, ततो जातम्, अत्र वासनाधिरूढं धर्माधर्मात्मकम् । एषां च चैतन्यप्रतिरोधकत्वं गुणभावापादनरूपमेव पाशत्वम् ॥१७५॥

एषां कार्यकारणरूपतां स्फुटयति—

मलः कर्म निमित्तं तु नैमित्तिकमतः परम् ।

मलः कर्म चेत्येतद्द्वयं निमित्तं मलस्य कर्महेतुत्वात् कर्मणश्च मायीये कारणत्वात्, अतः परं मायीयं नैमित्तिकं मलकर्मणोः कार्यमेवेत्यर्थः । यद्यपि कार्मं भिन्नवेद्यप्रथारूपे मायीये सति भवति, तथापि न तद्धेतुकम्, पूर्णस्फाराणां ज्ञानिनां तत्सद्भावेऽपि तस्यादर्शनात्, इत्यपूर्णम्मन्यानामेवार्ज्यमानं तद्भवतीति यथोक्तमेव ज्यायः ॥

ततश्च—

आधाररूपं नैमित्तं शरीरभुवनादिकम् ॥१७६॥

आधारता भोगाश्रयता, आदिशब्दात् भावाः ॥१७६॥

अत्र च नैमित्तिके मायीये मले—

निमित्तमभिलाषाख्यं

लोलिकारूपमाणवं मलमित्यर्थः ॥

किं केवलेनेत्याह—

विचित्रैर्हेतुरूपकैः ॥

धर्माधर्मात्मकैः सहकारिभिर्युक्तमित्यर्थः ॥

प्रकृतमनुसरति—

तांश्चावलोकयेत् सूत्रे बन्ध्यबन्धनहेतुतः ॥१७७॥

तानिति पाशान् वक्ष्यमाणव्याप्यव्यापकभावयुक्त्यावलोकयेत्, किमर्थं बन्ध्यानामर्थात्तेषामेव बन्धनहेतुतो बन्धनायेत्यर्थः ॥१७७॥

अथैषां शिष्यदेहस्थानां ताडनग्रहणपूर्वकं सूत्रे क्रमेण योजनमाह—

पाशानां ताडनं कार्यं हुंफट्कारान्तजातिना ।
स्वनामप्रणवाद्येन शान्त्यतीताद्यनुक्रमात् ॥१७८॥

प्रणवं शान्त्यतीताबीजं धाम चोच्चार्य 'अमुकात्मस्थपाशव्यापिकायै शान्त्यतीतायै हुं फट्' इति मन्त्रमुच्चारयन् ॥१७८॥

पुष्पेण ताडयेन्मूर्ध्नि ग्राह्यं

ततः—

हूमादि योजयेत् ।

हुंफट्कारान्तयोगेनागृह्य संहारमुद्रया ॥१७९॥

धाम्ना तु योजयेत् सूत्रे नमस्कारान्तयोगिना ।

पूर्वोक्तेनैव प्रणवपूर्वमूलमन्त्रसहितेन मन्त्रेण संहारमुद्रया वक्ष्यमाणया पाशत्रयमागृह्योक्तां जातिमपास्य नमस्कारान्तजातिनानेनैव मन्त्रेण पाशसूत्रे योजयेत् ॥१७९॥

अमुमेव क्रमं शान्त्यादिकलास्वपि स्वमन्त्र नामयोजनयुक्त्यातिदिशति—

एवं शान्त्यादिकान् पाशान् स्थानात् संगृह्य योजयेत्
॥१८०॥

स्थानमत्र क्रमेण वक्त्रं हृद्गुह्यं पादौ ॥१८०॥

एतांश्च—

भावयेस्त्रिविधान् पाशान् पञ्चतत्त्वाध्वव्यापकान् ।

कलादीक्षायां समनन्तरं

'तत्त्वभूतास्तु ताः कलाः ।' (स्व० ३।१४०)

इति वक्ष्यमाणत्वात् पञ्च यानि तत्त्वानि कलारूपाणि तैरात्मभूतैरध्वनोऽशेषस्य व्यापकानित्यर्थः ॥

अथ कथं पाशानां कलाव्याप्तिः, कथं च मायोर्ध्वस्थशान्ताशान्त्यतीतापदे पाशानां सत्ता ? इत्याशङ्क्याह—

त्रयाणां व्यापिका शक्तिः क्रियाख्या पारमेश्वरी ॥१८१॥

शान्त्यतीतादिभेदेन पञ्चसंज्ञाप्रतिष्ठिता ।

येयं परमेश्वरस्य नित्यावियोगिनी शक्तिः, सा क्रियाख्या गृहीतक्रियाशक्तिभूमिका सती इदन्तावैचित्र्योट्टङ्कनात् शान्त्यतीतादिपञ्चधात्वं प्राप्ता त्रयाणां मलानां व्यापिका । तदुक्तम्—

'सेयं क्रियात्मिका शक्तिः शिवस्य पशुवर्तिनी ।
बन्धयित्री' (स्प० ४।१८)

इति । अत एव यावदिदन्ताभासस्य स्थितिस्तावत्तदौचित्येन पाशाः स्थिताः, इति शान्त्यतीतापदेऽपि तच्छोधनं युक्तम् । व्यापके च शुद्धे व्याप्यस्य तत्प्राणस्य सम्यक् शुद्धिर्भवति, इति मलानामात्मभूतकलाव्याप्त्या तद्व्यपदेशैः शोधनम्, तच्च नित्यावियोगिपारमेश्वरस्वातन्त्र्यशक्तिरूपतोन्मज्जनमेव । यथोक्तम्—

'स्वमार्गस्था ज्ञाता सिद्ध्युपपादिका ।' (स्प० ४।१८)

इति । निर्णीतैतच्छक्तिवीर्यसारैरेव मन्त्रैर्निमग्नपारमार्थिकतद्रूपतया प्राप्तभेदानामिवासां संशोधनम्, इति सर्वमुपपन्नम् ॥१८१॥

एवं च—

आधेयग्रह आधारं गृहीतं भावयेत् पशोः ॥१८२॥

आधेयाः कलाः, आधारा मलाः ॥१८२॥

अथ पारमेश्वरशक्तिव्याप्त्या तत्सारानाह—

गन्धपुष्पादिभिः पूज्य सूत्रे पाशांस्तु तर्पयेत् ।
शान्त्यतीताक्रमेणैव

तच्च तर्पणम्—

आहुतीनां त्रयं त्रयम् ॥१८३॥
संनिधानाय पाशानामतः पाशांस्तु दीपयेत् ॥

मन्त्रशक्त्या भाव्यक्रमसमस्तभोगसिद्ध्यौचित्येन युगपत् परिपक्वान् विदधीत ॥१८३॥

कथमित्याह—

स्वनामजातिफट्कारधामभिश्च त्रयं त्रयम् ॥१८४॥

आहुतीनां दत्त्वेति शेषः । जातिरत्र हुंकारः । मन्त्रपाठस्य क्रमः प्राग्वत् ॥१८४॥

एतच्च शिष्यचैतन्यात्—

विश्लेषकरणार्थं तु पाशानां दीपनं भवेत् ।

यत एवम्—

दीप्ताः पाशास्ततो बन्ध्यास्ताडनग्रहणादिना ॥१८५॥

आदिशब्दाद् ग्रन्थिदानमपुनःप्ररोहार्थम्। उद्दीपितवीर्याणामेव पाशानां बन्धनं शिष्यचैतन्यावरणे स्वातन्त्र्यापसारणम् ॥१८५॥

ताडनमाह—

सूत्रस्थांस्ताडयेत् पुष्पैः स्वदेहस्थानिव क्रमात् ।

यथा स्वदेहे क्रमादिति प्रोक्तमन्त्रतद्व्याप्त्यादिक्रमेण ताडितांस्तथा ताडयेत् ॥

बन्धने युक्तिमाह—

धाम्ना च संपुटीकृत्य स्वनाम्ना च सकृत्सकृत् ॥१८६॥

बन्धने तु प्रयोगोऽयं

एवं प्रणवधामशान्त्यतीताबीजेभ्योऽनन्तरं 'शान्त्यतीतां देवदत्तात्मस्थपाशव्यापिकां बध्नामि' इत्युच्चार्य धाम नमःशब्दान्तमुच्चारयन् पाशसूत्रस्य मूर्ध्नि ग्रन्थिं दद्यात् । एवमन्यत् ॥१८६॥

तदाह—

सूत्रे ग्रन्थीन् प्रदापयेत् ।

ग्रन्थीनिति, व्याप्त्या पञ्च ॥

किं च —

बन्धने परिमाणं च कर्मणो विषयस्य च ॥१८७॥

न केवलं ग्रन्थीन् यावद्बन्धनसमये कर्मणः शुभाद्यात्मनो विषयस्य भुवनादेर्मायीयमलात्मनः, चशब्दादाणवस्य मलस्य परिमाणं नियतामध्वव्याप्तिं च प्रकल्पयेत् । तथा निवृत्तावेकं पार्थिवं तत्त्वम्, अष्टोत्तरशतं च कालाग्न्यादिभुवनानामिति विषयस्य परिमाणं भविष्यति। कर्मणो निवृत्तिप्रतिष्ठाविद्यान्तं यावद्व्याप्तेः, मलस्य तु शान्ताशान्त्यतीतान्तमपि संस्कारात्मना सूक्ष्मेण रूपेण सत्तास्त्येवैतत्सर्वमनुसंदधीत ॥१८७॥

एवं च पाशसंयोगाज्जीवः —

षट्त्रिंशत्तत्त्वमध्यस्थो भुङ्क्ते भोगं

शुद्धम् ॥

अन्यच्च पाशविच्छेदात्तु नेत्याह—

न चान्यथा ।

च एवार्थे ॥

प्रकृतमाह—

पाशान् संस्थाप्य पात्रे तु संपातं जुहुयात् सकृत् ॥१८८॥

पाशानिति पाशसूत्रं संस्थाप्य इति शिष्यदेहाद्विमुच्येत्यर्थः । संपातहोमः 'संपातं सर्वमन्त्रैश्च' (३।१४२) इत्यादौ निर्णीतः ॥१८८॥

अथैतान् पाशान्—

पात्रसंपुटमध्यस्थान् स्थण्डिले विनिवेदयेत् ।

पात्रमध्यस्थवेद्यवेदकान्तरावस्थिता एते, इत्याशयात् कवचावगुण्ठनव्याप्त्या च 'स्थण्डिल इति तत्रार्चिते भगवति विनिवेदयेदिति, एतस्य पशोस्त्वयैव मामिकां तनुमाविश्य बद्धाः, विज्ञप्तिं कुर्यादित्यर्थः ॥

तथैव च—

नीत्वा समर्पयेत् कुम्भे

तत्स्थं भगवन्तं विज्ञापयेद् यथा—

पाशान् संरक्ष हे विभो ॥१८९॥

संरक्षणं च भाविपुत्रकादिदीक्षोच्छेद्यानामेषां सांप्रतं स्वकार्यशक्तिबन्धनात्माधिवाससंस्कारः ॥१८९॥

ततः—

दर्भं विमोचयेच्छिष्यं

नाडीसंधानार्थं प्राक्परिकल्पितम् ॥

अथ चास्मै—

पुष्पं पाणौ प्रदापयेत् ।

तेन चासौ श्रीभगवन्तं समन्त्रकमेव—

स्थण्डिले शिवकुम्भे च शिवाग्नौ च प्रपूजयेत् ॥१९०॥

चकाराद् गुरुमूर्तावपि ॥१९०॥

ततः प्रदक्षिणं कृत्वा दण्डवन्निपतेद्भुवि ।

अथ चास्मै—

उत्थाप्य पञ्चगव्यादीन् दद्याद्वै भैरवेण तु ॥१९१॥

आदिशब्दाच्चरुं दन्तकाष्ठम्, भैरवेणेति सकलेन ॥१९१॥

अत्र विधिमाह—

गोमयेन शुचौ देशे कार्यं मण्डलकत्रयम् ।

एकस्मिन् मण्डले विष्टः पञ्चगव्यं शिशुः पिबेत् ॥११२ ॥

उपविश्य द्वितीये तु चरुकं प्राशयेद् बुधः ।

आचम्य दन्तकाष्ठं तु तृतीये मण्डले स्थितः ॥११३ ॥

भक्षयित्वा च देवेशि ततश्चैव विनिक्षिपेत् ।

पञ्चगव्यं संस्कृतस्थापितचरुभागभोजनयोग्यतायै, चरुकं तु इतः प्रभृति शिवमयभोग्यभोक्तृत्वावसायाय, दन्तकाष्ठं परां शुद्धिमभिव्यङ्क्तुम् । आचम्येति पूर्वत्रापि योज्यम् ॥१९३॥

तच्च पतितम्—

पूर्वं पश्चात्तथैशोर्ध्वं चोत्तरस्यां च शोभनम् ॥११४ ॥

अन्यस्यामशुभं विद्धि तस्य होमः शतं भवेत् ।

अस्त्रमन्त्रेण विघ्नशमनायेत्यर्थात् । एतच्च बाहुल्येन साधकविषयम् ॥१९४॥

अथैतदन्तस्यास्य कर्मणः सम्यक् संपत्त्यर्थम्—

आचार्यो जुहुयात् पश्चात् प्रायश्चित्तं शिवेन तु ॥११५ ॥

विधेर्न्यूनातिरिक्तस्य चित्तविक्षेपकर्मणि ।

चित्तविक्षेपकर्मणि इति विधेर्न्युनातिरिक्तत्वं तस्य प्रायश्चित्तं जुहुयादिति संगतिः ।

तच्च—

'अग्निकार्यं यथापूर्वं ·····।' (स्व० ४।३१)

इति भाविनीत्या अग्निकार्यान्ते, न त्वधुनैवेति, पश्चादित्यस्यार्थः ॥१९५॥

अत्र च—

अष्टोत्तरशतं हुत्वा प्रायश्चित्ताद् विशुध्यति ॥११६ ॥

अथ मूलविश्रान्तिमेवानुसंधातुम्—

पश्चात् संतर्पयेद्धोमसहस्रेण शतेन वा ।

यावदस्य विश्रान्तिर्घटत इत्यर्थः ॥

अङ्गवक्त्रवाचिनः—

मन्त्रांश्च दशभागेन

अनन्तरमेषामेव—

बह्नौ नैवेद्यदापनम् ॥१९७॥

किं च—

विशेषपूजनं चार्घं मुद्राबन्धं वरानने ।

स्तोत्रं वाद्यं ततः कृत्वा चरुं प्राश्यविसर्जयेत् ॥११८॥

परमेशमित्यर्थात् ॥१९८॥

निरोधार्घेण चार्घं तु दत्त्वा चैव वरानने ।

रेचकेन तु संगृह्य भैरवं तमनुस्मरन् ॥१९९॥

मुष्टिना पूरितं नीत्वा पूजयित्वा वरानने ।

अग्निष्ठं वै

अग्निष्ठं तमिति पूर्वोक्तम्, पूरितमिति पूरकेण, मण्डलात् संगृह्य रेचकेनाग्नौ स्थितं कृत्वा तत्रापि तथैवार्चयित्वा ॥१९९॥

पूरकेण गृहीत्वा स्थापयेत् पुनः ॥२००॥

तत्रस्थं पूजयित्वा च कलशे तु विनिक्षिपेत् ।

कुसुमादिभिरभ्यर्च्य कुम्भ एव तु भैरवम् ॥२०१॥

यागगृहमनधिष्ठितं माभूदित्याशयात् ॥२०१॥

अथ स्थण्डिलात्—

प्रक्षिप्य चैव निर्माल्यं गोमयेन स्पृशेत् प्रिये ।

निष्क्रान्तं माल्यं न त्वत्र चण्डीशयोगतः ॥

तत्रैव च—

शिवाम्भसा तु संप्रोक्ष्य शिष्ये शय्यां प्रकल्पयेत् ॥२०२॥

गृहिणो दर्भशय्यां तु यतेर्वै भस्मना प्रिये ।

पूर्वाशिरा गृही कार्यो यतिर्वै दक्षिणाशिराः ॥२०३॥

दक्षिणवक्त्राभिमुखेन । शिष्टं स्पष्टम् ॥२०३॥

अथ शिखामन्त्रेण—

तत्र स्थितस्य शिष्यस्य शिखाबन्धं वरानने ।

तथा—

सिद्धार्थरोचनाद्यैश्च रक्षां कुर्यादसिं स्मरन् ॥२०४॥

यनेर्गृहिणश्च क्रमेण रेखायुक्त्या—

भस्मना रोचनाद्यैश्च अस्त्रप्राकारचिन्तनम् ।

एतदुपसंहरति—

कवचेनावगुण्ठ्यैव शिष्यं तु स्वापयेत् ततः ॥२०५॥

ततश्चैव तु निर्गत्य बलिकर्म समारभेत् ।

तदाह—

बलिस्तु कल्पितः पूर्वं सर्वभूतेष्वथादरात् ॥२०६॥

तं तु संगृह्य देवेशि पूर्वादीशान्तकं क्षिपेत् ।

कल्पितो भूतार्थं साधितः ॥२०६॥

अत्र च—

भूता ये विविधाकारा दिव्यभौमान्तरिक्षगाः ॥२०७॥

पातालतलसंस्थाश्च शिवयागे सुभाविताः ।

ध्रुवादिसर्वभूताश्च ऐन्द्रयाद्याशास्थिताश्च ये ॥२०८॥

स्वाहाकारसमायोगात् तृप्यन्तूच्चारयन् क्षिपेत् ।

प्रणवपूर्वं 'भूता ये' इत्यादि 'स्थिताश्च ये' इत्यन्तमुच्चार्य 'तृप्यन्तु स्वाहा' इति मन्त्रेण बलिं क्षिपेत् । अत्र मध्ये ध्रुवादीत्येतत् ध्रुवलोकपरामर्शाय । अथ च ध्रुवः प्रणवः, तदादि कृत्वायं मन्त्रः पठनीयः ॥२०८॥

बलिं च पूजापूर्वकं क्षिपेदित्याह—

नमस्कारेण संपूज्य गन्धैर्धूपैरनुक्रमात् ॥२०९॥

पूर्वादिशानपर्यन्तमधश्चोर्ध्वं समन्ततः ।

अधिवासे बलिकर्मोपसंहरन् द्रव्यान्तरमुपक्षिपति—

कोणस्थान् क्षेत्रपालांश्च पतिताच्छ्वपचानपि २१०

बलिं दत्त्वा तु सर्वेभ्य आचम्य च वरानने ।

सकलीकरणं कृत्वा क्रमेण प्राशयेच्चरुम् ॥२११॥

अनुग्रहावसरेऽत्र यावत्संभवं सर्वान् पूजयित्वैषामाशां पूरयेदित्यर्थः। चरुमिति, यमवशिष्टं भगवदग्रात् प्रार्थितं च। क्रमेण इति गुरुसाधकपरिपाट्या ॥ २११ ॥

यदाह—

सहायैः सहितो वीर एकचित्तः समाहितः।

प्राङ्मुख उदङ्मुखो वा मण्डलस्थः पृथक्पृथक् ॥२१२॥

वीर इति त्यक्तजात्यादिग्रहो निष्कम्पः, एकत्र शिवाभेदे चित्तं यस्य तादृक् समाहितः, बुभुक्षुर्दीक्षायां प्राङ्मुखो मुमुक्षुस्तु उदङ्मुखः, पृथक् पृथग् मण्डलस्थ इति स्वसहायानां साधकपुत्रकादीनां समव्याप्त्यभावात् संकरशङ्का माभूदित्यभिप्रायात्, समव्याप्तिविश्रान्तौ त्वेकमण्डलत्वेऽपि न काचिद्धानिः ॥ २१२ ॥

तत्र—

पञ्चगव्यं पिबेत् पूर्वं चरुकं दन्तधावनम्।

प्राश्यैवं सकलीकृत्य रक्षां पूर्ववदेव च ॥२१३॥

विधायेति शेषः ॥ २१३ ॥

यागभूमौ स्वपेत् पश्चाच्छिष्यैः सह वरानने।

भगवदधिष्ठिते यागगृहे गुर्वादीनां स्वापो दीक्ष्यविषयसमुचितस्वप्नदर्शनाय ॥

प्रकारान्तरमाह—

भैरवध्यानयोगेन समाधौ जाग्रदेव वा ॥२१४॥

गुरुर्भवेत् शिष्यार्थमिति शेषः। समाधौ इति समाधाननिमित्तमिति शिबम् ॥ २१४ ॥

सन्मानसाम्बरविबोधदिनेशभाभि-
रामोदवद्विकसितं हृदयाम्बुजन्म।
कृत्वा शिवार्चनविधौ विनिवेशयध्व-
मार्या भवभ्रमणदुःखमलं जहीत ॥

इति स्वच्छन्दतन्त्रे

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्यश्रीक्षेमराजकृतोद्द्योताख्यविवरणोपेते
अधिवासपटलस्तृतीयः ॥ ३ ॥

चतुर्थ पटलः

दीक्षाज्ञानक्रियाप्लुष्टदुष्टपाशवनावलिः ।
महाज्योतिर्जयत्येको ह्लादी भैरवहव्यभुक् ॥

अधिवासानन्तरभाविनीं दीक्षां प्रस्तावयितुं श्रीभैरव उवाच—

प्रत्यूषे विमले कृत्वा शौचाद्यान् पूर्ववत् क्रमात् ।
सरलोकरणं कृत्वा पूर्ववत् प्रविशेद्गृहम् ॥१॥

पटलसंगत्या प्रकृत आचार्यः, शौचाद्यानित्यादिशब्दात् स्नानादि, पूर्ववत् प्रविशेदिति द्वारदेवतार्चां कृत्वा

शिष्यश्च शुचिराचान्तः पुष्पहस्तः

प्रविशेत् ।

स च

गुरुं ततः ।

प्रणम्य शिरसा

तत्प्रणामादेव च

हृष्टो गुरोः स्वप्नान्निवेदयेत् ॥२॥

तांश्च—

शुभान् स्वप्नान् प्रवक्ष्यामि अशुभांश्च वरानने ।
स्वप्नेषु मदिरापानमाममांसस्य भक्षणम् ।
क्रिमिविष्ठानुलेपं च रुधिरेणाभिषेचनम् ।
भक्षणं दधिभक्तस्य श्वेतवस्त्रानुलेपनम् ॥४॥
श्वेतातपत्रं मूर्धस्थं श्वेतस्रग्दामभूषणम् ।
सिंहासनं रथं यानं वक्ष्जं राज्याभिषेचनम् ॥५॥
रत्नाङ्गाभरणादीनि ताम्बूलं फलमेव च ।
दर्शनं श्रीसरस्वत्योः शुभनार्यवगूहनम् ॥६॥

क्रिमिर्लाक्षा, एतत्सर्वं श्रेष्ठम् ॥ ६ ॥

किं च—

नरेन्द्रैर्ऋषिभिर्देवैः सिद्धविद्याधरैर्गणैः ।
आचार्यैः सह संवादं कृत्वा स्वप्ने प्रसिद्ध्यति ॥७॥

सम्यक् वादः संवादः ॥ ७ ॥

तथा च—

नदीसमुद्रतरणमाकाशगमनं तथा ।
भास्करोदयनं चैव प्रज्वलन्तं हुताशनम् ॥८॥
ग्रहनक्षत्रताराणां चन्द्रबिम्बस्य दर्शनम् ।
हर्म्यस्यारोहणं चैव प्रासादशिखरेऽपि वा ॥९॥
नराश्ववृषपोतेभतरुशैलाग्ररोहणम् ॥
विमानगमनं चैव सिद्धमन्त्रस्य दर्शनम् ॥१०॥
लाभः सिद्धचरोश्चैव देवीदीनां च दर्शनम् ।
गुटिकां दन्तकाष्ठं च खड्गपादुकरोचनाः ॥११॥
उपवीताञ्जनं चैव अमृतं पारतौषधीः ।
शक्तिं कमण्डलुं पद्ममक्षसूत्रं मनःशिलाम् ॥१२॥
प्रज्वलत्सिद्धद्रव्याणि गैरिकान्तानि यानि च ।
दृष्ट्वा सिद्ध्यति स्वप्नान्ते क्षितिलाभं व्रणं तथा ॥१३॥

सिद्धो जपादिक्रमेण मन्त्रो यस्य, व्रणमिति स्वदेहेऽस्त्रजम्, स्वप्नान्ते इति, न तु स्वप्नस्याद्यमध्ययोः । यथोक्तमन्यत्र—

'प्राङ्निमित्तं दिवा ग्राह्यं रात्रौ ग्राह्यं तु पश्चिमम् ।'

इति ॥ १३ ॥

किं च—

क्षतजार्णवसंग्रामतरणं विजयं रणे ।
ज्वलत्पितृवनं रम्यं वीरवीरेशिभिर्वृतम् ॥१४॥

.।रवेतालसिद्धैश्च महामांसस्य विक्रयम् ।
.हापशोः संविभागं लब्ध्वा देवेभ्य आदरात् ॥१५॥

आत्मना पूजयन् देवं जपन् ध्यायन् स्तुवन्नपि ।
सुहुतं चानलं दीप्तं पूजितं वा प्रपश्यति ॥१६॥

हंससारसचक्राह्वमयूरशवरोहणम् ।
मातृभिर्भैरवैश्चैव मातृरुद्रगणैः सह ॥१७॥
भैरवं भैरवीं दृष्ट्वा सिद्ध्यत्यत्र न संशयः ।

वीरवेतालसिद्धैश्चेति सहार्थे तृतीया । मातृरुद्रा देवविशेषाः, महापशुः पुरुषपशुः, सारसः सरस्येव य आस्ते हंसविशेषः । सिद्ध्यतीति तत्स्वप्नानुसारिणीमुत्तमादिरूपां सिद्धिं प्राप्नोतीत्यर्थः । यद्यपि—

'दृष्टः श्रुतोऽनुभूतश्च प्रार्थितः कल्पितस्तथा ।
भावितो दोषजश्चेति स्वप्नः सप्तविधः स्मृतः ॥'

इति निमित्तान्तरजोऽस्ति स्वप्नः, तथापीह भगवद्गुर्वधिष्ठिते यागधाम्नि मन्त्रादिमाहात्म्याद् भाविफलानुरूप एव दृश्यतेऽसावधिवासे ॥१७॥

एवम्—

शुभाः स्वप्ना मयाख्याता अशुभांश्च निबोध मे ॥१८॥

तानाह—

तैलभ्यङ्गस्तथा पानं

तैलस्यैव च ।

विशनं च रसातले ।

अन्धकूपे च पतनमथ पङ्के निमज्जनम् ॥१९॥

वृक्षवाहनयानेभ्यः पतनं हर्म्यपर्वतात् ।
कर्तनं कर्णनासाभ्यामथ वा हस्तपादयोः ॥२०॥
पतनं दन्तकेशानामृक्षवानरदर्शनम् ।
वेतालक्रूरसत्त्वानां तथैव कालपूरुषाः ॥२१॥

कृष्णोर्ध्वकेशा मलिनाः कृष्णमाल्याम्बरच्छदाः ।
रक्ताक्षी स्त्री च यं स्वप्ने पुरुषं त्ववगूहयेत् ॥२२॥
म्रियते नात्र संदेहो यदि शान्तिं न कारयेत् ।
गृहप्रासादभेदं च शय्यावस्त्रासनेषु च ॥२३॥
आत्मनोऽभिभवं संख्य आत्मद्रव्यापहारणम् ।
खरोष्ट्रश्वसृगालेषु कङ्कगृध्रबकेषु च ॥२४॥
महिषोलूककाकेषु रोहणं च प्रवर्तनम् ।
भक्षणं पक्वमांसस्य रक्तमाल्यानुलेपनम् ॥२५॥
कृष्णरक्तानि वस्त्राणि विकृतात्मा प्रपश्यति ।
हसनं वल्गनं स्वप्ने म्लानस्रग्दामधारणम् ॥२६॥
स्वमांसोत्कर्तनं बन्धं कृष्णसर्पेण भक्षणम् ।
उद्वाहं च तथा स्वप्ने दृष्ट्वा नैव प्रसिध्यति ॥२७॥

क्रूरसत्त्वं व्याघ्रादि, संख्ये संग्रामे, विकृतात्मा विघ्नव्याकुलचित्तो भीषणाकृतिर्वा, हसनोद्वाहादि आत्मनः, वल्गनं नृत्तम् ॥ २७ ॥

उपसंहरति—

अशुभा ह्येवमाख्याता विज्ञेया दैशिकोत्तमैः ।

विज्ञेया इति कालस्वरूपाधिकार्यनुसारेणैव एषां बलाबलचिन्ता कार्येत्यर्थः ॥

तत्र—

शुभास्तत्रानुमोद्यास्तु अशुभेषु तु होमयेत् ॥२८ ॥
अष्टोत्तरशतं धाम्ना

तथा सति दीक्षान्तरायोपशान्तेः ॥ २८ ॥

प्रायश्चित्ताद् विशुद्ध्यति ।

अत्र विधिमाह—

पूर्ववत् सकलीकृत्य विघ्नोच्चाटनरक्षणम् ॥२९॥

वेष्टनं पूर्ववत् कुर्याच्छिवाम्भ शिवहस्तकम् ।
लोकपालांस्तु संपूज्य शिवकुम्भं च स्थण्डिलम् ३०॥
अग्निकार्यं यथापूर्वं पूर्णाहुतिप्रपातनम् ।
प्रायश्चित्तं ततः पश्चाद् दुःस्वप्नार्थं यदुक्तवान् ॥३१॥

तत् कुर्यादिति शेषः । वेष्टनं कवचेन, शिवाम्भ इति प्रोक्षणा (दिकं? द्यर्थम्) शिवहस्तः कर्मणो दीप्त्यापत्त्या सम्यक् प्रायश्चित्तशान्त्यर्थम्, स्थण्डिलमिति तदाधेयं भैरवम् ॥ ३१ ॥

एतदुपसंहरन् प्रकृतं प्रस्तावयति—

एवं पूजादिकं कृत्वा विसृज्य स्थण्डिलाच्छिवम् ।
निर्माल्यापनयं कृत्वा भूमिं संशोध्य पूर्ववत् ॥३२॥
नित्यकर्म ततः कुर्यात् पूजाहोमजपादिकम् ।
नित्याह्निके समाप्ते तु नैमित्तिकमथाचरेत् ॥३३॥

नित्यकर्म स्वानुष्ठानविषयम् । तत्र प्रातश्चित्तिनो नाधिकार इति तच्छुद्ध्यन्ते तस्याभिधानम्ः नैमित्तिकं दीक्षाख्यान्निमित्तादागतम् ॥ ३३ ॥

तदुपक्रमते—

उपलिप्य शिवाम्भोभिर्ब्रह्मस्थानं प्रपूजयेत् ।
भावेन गन्धपुष्पाद्यैः

भावेन प्रणवेन ।

ततो मण्डलमालिखेत् ॥३४॥

तद्विधिरग्रे भविष्यति ॥ ३४ ॥

अथ—

करणीं खटिकां चैव भैरवेण प्रपूजयेत् ।
धाम्ना तु रजसां पातः

भैरवः सकलः, धाम्नाभिमन्त्रितानां रजसां पश्चात् पातो निर्मन्त्रक एव, अन्यथा भाविरजोदोषोक्त्यनुपपत्तिः ॥

स च रजसां पातः—

सिताद्यश्चागमोदितः ॥३५॥

सितं रजः पात्यमानमाद्यं यस्य, आगमे बृहत्तन्त्रे उदितः ॥ ३५ ॥
अथ —

निष्पन्ने मण्डले स्नात्वा नित्यकर्म समाचरेत् ।

अपरेऽह्नि, इत्यर्थः ॥

नित्यकर्मसमाप्तौ तु कुर्यान्नैमित्तिकं बुधः ॥३६॥

तन्नित्यकर्मानूद्य नैमित्तिकमादिशति—

स्नानादि पूर्ववन्मन्त्रैः सकलीकरणादिकम् ।
आत्मरक्षास्त्रप्राकारद्वारपालादिपूजनम् ॥३७॥
विघ्नोच्चाटनदिग्बन्धौ भूपातालखवासिनाम् ।
अस्त्रप्राकारमारोप्य कवचेनावगुण्ठनम् ॥
उदङ्मुखं तूपविष्टः करशुद्ध्यानि पूर्ववत् ।
शिवाम्भः शिवहस्तं च अर्घत्रयप्रकल्पनम् ॥३९॥

कृत्वेति शेषः । आत्मरक्षार्थोऽस्त्रप्राकारः । भूपातालखवासिनां विघ्नानामुच्चाटनमिति व्यवहितः संबन्धः, आगमप्रामाण्यात्, अस्त्रप्राकारमिति यागगृहविषयम्, उदङ्मुखमिति बुभुक्षुदीक्षाया अपि मुक्तिपर्यवसायित्वात्, दक्षिणास्यस्य चाशेषपाशदाहकत्वात्, दीक्षाप्रारम्भे च अत्राचार्यस्योदङ्मुखत्वमेवोक्तम्, करशुद्ध्यादीत्यादिशब्दात् देहशुद्ध्यादिकम् । शिवाम्भ इति प्रोक्षणाद्यर्थं शिवमन्त्रितमम्भोऽर्घपात्रात् पृथक्, तच्च प्राक्पटलयोरनुमन्तव्यम् पात्रत्रये विधिनिरोधपशुप्रयोजनमर्घत्रयम् ॥ ३९ ॥

ततः —

लोकपालांस्तु संपूज्य शिवकुम्भं प्रपूजयेत् ।

ततोऽपि—

मण्डलस्याग्रतो भूत्वा मण्डलं प्रोक्ष्य चासिना ॥४०॥
वर्मणा वेष्टयेत् पश्चात् प्रणवेनाभिमन्त्रयेत् ।
अष्टोत्तरशतं धाम्ना रजोदोषैर्विशुद्ध्यति ॥४१॥

मण्डलस्याग्रत इत्यनेन दीक्ष्यजनातिशयेन मण्डलस्य दिगन्तराभिमुखत्वमपि ध्वनति । प्रणवेन धाम्नेति प्रणवपूर्वेण निष्कलेनेत्यर्थः ॥ ४१ ॥

इत्थं च संस्कृतस्य मण्डलस्य —

चतुर्दिक्ष्वस्त्रं संपूज्य द्वारे गन्धादिभिः क्रमात् ।

प्राकारं भावयेदस्त्रं

द्वार इति जातावेकवचनम्, तेन वक्ष्यमाणनवनाभमण्डलस्य चतुर्दिक्षु यान्यष्टौ द्वाराणि तत्रत्यर्थः ॥

मण्डलं प्रविशेत् ततः ॥४२॥

पूजामत्रारभेत इत्यर्थः ॥ ४२ ॥

तत्र –

गुरून् संपूज्य विघ्नेशं पुष्पाद्यैः प्रणवेन तु ।

पूर्वं गणपतिं वायव्यकोणे संपूज्य गुरून् प्राच्यां दिशि प्रपूजयेत् । यथोक्तं तृतीयपटले—

'ब्रह्मस्थानस्य पूर्वेण गुरून् पूज्य विनायकम् । (स्व० ३।९२)
वायव्ये

इति ॥

ततः—

अनन्तमासनं प्राग्वच्छिवान्तं प्रणवेन तु ॥४३॥

मूर्त्यादि पूर्ववन्न्यस्येद्धृदाद्यावरणान्तगम् ।

पूर्वोक्तविधिना पूज्य नैवेद्यानि निवेदयेत् ॥४४॥

निरोधार्घेण चार्घं तु दत्त्वा चैव निरोधयेत् ।

जपध्यानादिकं कृत्वा अग्निष्ठं भैरवं यजेत् ॥४५॥

नाडीसंधानकं त्रिष्ठं कृत्वा संतर्पयेद्विभुम् ।

अग्नाविति शेषः ॥ ४५ ॥

तत्र तावन्नाडीसंधानमाह—

आत्मनो निष्कलोच्चारं कृत्वा कुम्भे निवेशयेत् ॥४६॥

कलशस्थस्य वामेन रेचयेत् पूरयेत् ततः ।

मण्डलस्थस्य सव्येन पुनर्वामेन रेचयेत् ॥४७॥

अग्निष्ठस्य तु तत्तेजो दक्षिणेन विशन् स्मरेत् ।

मन्त्रकलशाद्भिर्ग्रन्थेर्भेदक्रमेण ऊर्ध्वद्वादशान्तमाश्रयन् ततोऽपि हृदयमागत्य तत्र विश्रम्य प्रदक्षिणं भ्रमित्वा सोममार्गेण निःसृत्य कलशस्थस्य दक्षिणेन प्रविशेत्, तत्राप्यमुमेव क्रममास्थाय तद्वामेन निर्गत्य मण्डलस्थस्य दक्षिणेन प्रविश्य प्राग्वद्वामेन निर्गत्य वह्निस्थस्य दक्षिणेन प्रविशेत्, प्राग्वदेव च हृदये विश्राम्येत् । एवमधिकरणचतुष्टयैक्यापत्त्या वह्नावग्नीषोमसूर्यतेजःसामरस्येन स्थेयम्, नतु ततः स्वहृदयमागन्तव्यमग्निष्ठ एव भवति यागस्य प्रस्तुतत्वात् प्राधान्येनैववास्थितेर्युक्तत्वात् ॥ ४७ ॥

यदाह—

एबं संधानकं कृत्वा ततस्तर्पणमारभेत् ॥४८॥

एवमित्यग्निविश्रान्त्यन्तम् ॥ ४८ ॥

ततश्च—

दशभागविभागेन हुत्वा पूर्णाहुतिं क्षिपेत् ।

मूलहोमात् पूर्वोक्ताद्वक्त्राणां दशमांशेन हुत्वेत्यर्थः ।

अथ—

प्रायश्चित्तविशुद्ध्यर्थं कुर्यादष्टोत्तरं शतम् ॥४९॥
विधेः पूर्णातिरिक्तस्य धाम्ना पूर्णाहुतिं ततः ।

धाम्नेति काकाक्षिवत् ॥ ४९ ॥

किं च—

आचार्योऽथार्घहस्तस्तु मण्डलं प्रविशेत्ततः ॥५०॥
संपूज्य परमेशानं पुष्पाद्यैरर्घपश्चिमम् ।
मुद्रां बद्ध्वा प्रणम्यादौ जानुभ्यामवनिं गतः ॥५१॥
विज्ञापयेत पश्वर्थं प्रारब्धोऽयं मखोत्तमः ।
स्नानाधिवासनाद्यं यन्मण्डलेऽग्नौ च यत्कृतम ॥५२॥
विधानं पुष्कलं सम्यक् त्वत्प्रसादादिहास्तु तत् ।

परमेशानं विज्ञापयेत् पश्वर्थमिति संगतिः ॥ ५२ ॥

अनुष्ठितकर्मविषयां विज्ञप्तिं कृत्वा, अनुष्ठास्यमानविषयामप्याह—

इदानीं शिष्यदेहे तु सकलीकरणादिका ॥५३॥
योजन्यन्ताध्वशुद्धिस्तु त्वत्प्रसादात् प्रसिद्ध्यतु ।

ततः कर्मप्रारम्भनिष्पत्त्यन्तं केवलमन्तर्मुखक्रमेण यावन्निश्चित-प्रतिपत्त्यापि भगवदधिष्ठितिमात्मनः स्फुटयेदिति विज्ञप्तेराशयः ॥ ५३ ॥

अत एव—

एवमस्त्वित्यनुज्ञातः परमेशेन वीरराट् ॥५४॥
लब्धानुज्ञः प्रहृष्टात्मा निष्क्रामेन्मण्डलाद्बहिः ।

वीरराडिति परमेश्वराधिष्ठितः । एवं लब्धाशेषनिर्दलनात्मक-भैरवीभावोऽत एव तत्समावेशात् प्रहृष्टात्मा, बहिरिति जवनिकान्तरिते यागधाम्न्येव ॥ ५४ ॥

पश्वर्थाय कृतं यत्तु तद्गृहीत्वार्घपात्रकम् ॥५५॥
धाम्नस्तु दक्षिणे भागे कारयेन्मण्डलं गुरुः ।

दक्षिण इति दक्षिणास्यस्य पाशप्लोषकत्वात् ॥ ५५ ॥

अथात्र—

प्रणवासनं कुशैर्न्यस्य शुचिं शिष्यं निवेशयेत् ॥५६॥
शिवाम्भोऽस्त्रेण संताड्य भस्मना च कुशैः क्रमात् ।
मण्डले कल्पिते शिष्यं मूर्तिभूतं प्रकल्पयेत् ॥५७॥

शुचिं स्नातमस्त्रेणेति त्रिषु योज्यम् । कल्पित इति आसनत्वेन, अत्र च मूर्त्यादीनां पूर्वोक्तैव व्याप्तिः । एवमुत्तरत्रापि ॥ ५७ ॥

अथास्य—

उपविश्य करन्यासं निर्दाहाद्यस्त्रपूर्वकम् ।
सबाह्याभ्यन्तरं न्यासं मन्त्रसंधानमेव च ॥५८॥

गुरुः कुर्यात् ॥ ५८ ॥

ततः—

शिवहस्तः प्रदातव्यो ध्यात्वा देवं सुजाज्वलम् ।

गुरुणा ॥

एवं गुरुरस्य—

मूर्ध्नि संपातयेत्तेजः पाशाङ्कुरविनाशनम् ॥५९॥

पाशानामङ्कुराः संसारप्ररोहहेतव आद्या उद्भेदास्तेषां नाशनम् । यथोक्तमन्यत्र—

'ब्रह्मपञ्चकसंयुक्तः शिवेनाधिष्ठितः शिवः ।
पाशच्छेदकरः क्षेमी शिवहस्तः प्रकीर्तितः ॥
अनेनालब्धमात्रस्तु देही निर्मुक्तबन्धनः ।
प्रयाति शिवसायुज्यं निर्मलो निरुपप्लवः ॥

इति ॥ ५९ ॥

उत्थाप्य च ततो नीत्वा मण्डलं तु प्रवेशयेत् ।

इन्द्रियाणां बाह्यप्रसरप्रशमनेन भगवदेकाग्रतामाधातुं बद्धनेत्रस्य मण्डलदर्शनमुचितमित्या—

वस्त्रं संप्रोक्ष्य तोयेन कवचेनावगुण्ठयेत् ॥६०॥
पूजयेद्गन्धपुष्पाद्यैर्भैरवेणाभिमन्त्रयेत् ।
नेत्रे बद्धवा तु नेत्रेण

नेत्रेणाभिमन्त्रिते नेत्रमन्त्रोच्चारपूर्वं सर्वेन्द्रियप्रसरपुरःसरभूते नेत्रे बद्ध्वा ॥

शिष्यस्य—

पुष्पं पाणौ प्रदापयेत् ॥६१॥

स च—

अकामान्निक्षिपेत्पुष्पं देवस्याभिमुखं स्थितः ।

तदनन्तरं बुभुक्षोः—

पुष्पपातवशान्नाम कुर्याद्वै साधकस्य च ॥६२॥

वक्त्राङ्गादिपूर्वं शिवान्तं पुंसः, स्त्रियस्तु शक्त्यन्तम् ॥ ६२ ॥

यस्तु निष्कामस्तस्य—

मुमुक्षोर्गुरुरिच्छातः

यथारुचि कुर्याद्वा न वेत्यर्थः ॥
पूर्वोक्तस्य साधकदीक्षादीक्ष्यस्य—

नाम वै साधकस्य वा ।

वाशब्दो निश्चये कुर्यादेवेत्यर्थः ॥

अथ—

मुखमुद्घाटच तं शिष्यं शिवाय प्रणिपातयेत् ॥६३॥

शाक्तमार्गोद्घाटनव्याप्त्या मुखमस्य लाघवेनोद्घाटयेत्, यथासावुद्भूत-फुल्लन्यायेन[1] विकसतीति गुरवः ॥ ६३ ॥

किं च –

प्रदक्षिणमतः कृत्वा मण्डलेऽग्नौ प्रणम्य च ।
अग्निकुण्डसमीपे तु आचार्यः पशुना सह ॥६४॥

भवेदिति शेषः । प्रदक्षिणादिकर्तृत्वं द्वयोरपि । अत्र च पूर्वोक्ता कराकर्षणयुक्तिः स्मर्तव्या ॥ ६४ ॥

आत्मसव्येऽथ दिग्भागे मण्डलं प्रणवेन तु ।
पूर्ववन्नाडिसंधानं तदर्थं चाहुतित्रयम् ॥६५॥
संपाताभिहुतिं कृत्वा अणुतर्पणमेव च ।
पूर्णाहुतिं ततो दत्त्वा प्रायश्चित्तानि होमयेत् ॥६६॥
धाम्ना चाष्टशतं

'पिङ्गला मध्यमा नाडीशिष्यदेहाद्विनिर्गता ।' (स्व० ३।१४६)

इति प्रागुक्तस्थित्या शिष्यकरगुरुजङ्घासङ्घातदर्भयुक्त्या नाडीसंधानम्, अणवो मूलाद्या मन्त्राः ॥ ६६ ॥

एतत् कृत्वा—

पश्चात् पातयेदाहुतित्रयम् ।
जात्युद्धारे ध्रुवेणैव द्विजत्वापादने तथा ॥६७॥

ध्रुवं प्रणवमुच्चार्य 'अमुकस्य जात्युद्धारं करोमि स्वाहा' इति प्रयोगेण पशुदेहसंबद्धाया जातेरुद्धारे तिस्र आहुतीः पातयेत् । ततोऽपि 'द्विजत्वापादनं करोमि स्वाहा' इति प्रयोगेण भाविरुद्रांशापादनयोग्यतार्थाचिन्त्यशक्तिभिर्मन्त्रैः शुद्धविद्यापदजननयोग्यतात्मकद्विजत्वापादनायाहुतीस्तिस्रः पातयेत् । अतश्च यत्किंचिदूचुः—द्विजत्वापादनमेतन्न वर्तमानशरीरविषयम् । तत्र (द्रव्या ?) देहाश्रितायाः शुद्रादिजातेरेव स्थितत्वाद् द्विजत्वजातेश्च परस्या नित्याया जन्यत्वाभावादिति कर्मान्तरवशसंभाव्यमानद्विजदेहापेक्षयैवैतदष्टाचत्वारिंशत्संस्कारापादनेन द्विजस्यैव कार्यमिति तदेषां जातिग्रह-

---

१. अद्भुतफुल्लन्यायोऽस्माभिर्विज्ञान भैरवे (श्लो० ६१) विवृतः ।

ग्रस्ततयाननुन्मिषितविवेकत्वादविदितपरमेशशास्त्रार्थसतत्त्वमभिधानमुपेक्ष्यमेव। यतो भाविद्विजदेहविषयमेतदित्यत्रार्थे श्रुतिरस्ति। यथा च वर्तमानस्य पशुशरीरस्याचिन्त्यशक्तिमन्त्रप्रभावाद् दाहादिकं जात्युद्धारश्च क्रियते, तथा शुद्धतत्त्वमयदेहान्तरोत्पत्तिर्द्विजत्वापादनं च यद्य (न्तजात्या)न्त्यजा? देरपि क्रियते, तन्न काचिदनुपपत्तिः, श्रुतिस्तर्ह्यत्रार्थे यथाभिहितरूपा सेतिकर्तव्यता स्पष्टैवास्ति। श्रूयते हि एतद्यथाद्यापि योगिन्यो मन्त्रादिप्रभावेन देहजात्यादि आत्मनः परस्य च परिवर्तयन्तीति। माहेश्वरे च नये तदुक्तप्रक्रिययापि शिवपुंमायाभ्योऽन्यत्तत्त्वजात्यादि सर्वमेवानित्यम्। यत् तु भुवनाध्वनि अष्टचत्वारिंशत्संस्काराधानेन द्विजत्वापादनं क्रियते, तत्पुत्रकस्य वागीश्यां गर्भाधानादियुक्त्या तत्तत्त्वसंभाव्यमानभूतसर्गभोगशुद्धिमध्ये द्विजभोगशुद्ध्यर्थम्। इदं तु समयिनो वर्तमानदेहविषयम्, तस्य तत्त्वशुद्धेरचोदितत्वात्। अतश्चैतदेव यतो दीक्षितानाम्—

'एकैव सा स्मृता जातिर्भैरवीया शिवाव्यया।'
(स्व० ४।५४३)

इति वक्ष्यमाणस्थित्या न शूद्रादिजातीयत्वमस्ति, प्रत्युत प्राग्जात्युदीरणात् प्रायश्चित्तित्वं शास्त्रसमये स्थितानामुक्तम्, द्विजस्यापि चैतदलौकिकं द्विजत्वापादनं कार्यमेव। यत्तु—

'येनेदं तद्धि भोगतः।' (किरणा०)

इति देहस्थित्यां वर्तमानदेहे मन्त्रयोजनं (न) कार्यमित्याहुः, तदारब्धदेहकर्मशुद्ध्यर्थं न कार्यमिति यद्युच्यते तद्युक्तम्, शोषदाहाप्यायजात्युद्धाराद्यर्थं तु वर्तमानदेहेऽपि चोदितत्वात् कर्तव्यमेव। अन्यथा—

'मन्त्रशक्तिभिरुग्राभिः शोषनिर्दहनादिभिः।
शरीरं शोषितं यस्मात्तदर्थमभिषेचनम्॥'
(स्व० ४।४५०)

इत्यसंगतं स्यात्॥ ६७॥

अत्र द्विजत्वापादने कर्तव्यान्तरमाह—

बीजाहारे तथा देशभावशुद्धौ द्विजो भवेत्।

प्रणवपूर्वं 'बीजाहारदेशभावशुद्धिममुकस्य करोमि स्वाहा' इत्यत्र प्रयोगः। इह—

'ब्राह्मण्यं बीजशुद्ध्या स्यात् सा च स्त्रीषु व्यवस्थिता।
तासां तु चपलं चित्तं चण्डालेष्वपि धावति॥'

इति मुकुटसंहितोक्तन्यायान्न क्वचिद्बीजशुद्धिर्वास्तवी संभाव्यते, इति सा मन्त्रैरेव संपाद्या, आहारस्य श्रुतिस्मृत्युक्तप्रक्रियया अनिर्वाहादशुद्धिरस्ति, देशस्यापि म्लेच्छादिसंपर्कात्, भावस्यासत्यानार्जवादियोगादिति शुद्धिराधेयैव ॥

अत्रैवमस्य मन्त्रैः शुद्धविद्यायां जननेनापादितलोकोत्तरद्विजत्वस्य—

प्रणवेनाहुतीस्तिस्रो रुद्रांशापादने तथा ॥६८॥

प्रणवपूर्वं 'रुद्रांशो भव स्वाहा' इति प्रयोगाद् भाविभैरवीभावभूमिकाग्रहणाय रुद्रांशत्वापादनमस्य कार्यम्, येनाधिगतशास्त्रार्थो रुद्रध्यानैकनिष्ठः स्यात् ॥ ६८ ॥

तत्रेतिकर्तव्यतां दर्शयितुमाह—

अस्त्रेण प्रोक्षयेच्छिष्यं पुष्पयुक्तेन ताडयेत् ।
रेचकेन ततो गत्वा शिष्यदेहे विशेद्धृदि ॥६९॥

पुष्पेति अस्त्रजप्तेन पुष्पेणेत्यर्थः । रेचकेनेत्यूर्ध्वमार्गिकेण ॥ ६९ ॥

अथ तत्र—

ओंकारादि शिवं जप्त्वा अस्त्रमन्त्रं फडन्तगम् ।
विश्लेषकरणं कृत्वा चैतन्यस्य विधानतः ॥७०॥
छेदयेदस्त्रमन्त्रेण कवचेनावगुण्ठयेत् ।
अङ्कुशेन समाकृष्य द्वादशान्ते तु कारयेत् ॥७१॥
तत्रस्थः पुद्गलो ग्राह्यः संपुट्यैव ध्रुवेण तु ।
संहारमुद्रया सम्यक्

शिवं निष्कलम्, चैतन्यस्येति पुर्यष्टकरूपस्य, विधानत इति पूर्वोक्तरश्मिमात्रावियोगभावनया, अङ्कुशेनेति मूलमन्त्रस्य कुटिलकलाक्रमेण अङ्कुशमुद्राप्रदर्शनेन चेत्यर्थः । पुद्गलो जीवः, सम्यगिति स्वाभेदप्रतीतिदार्ढ्येन । यथोक्तं स्पन्दे—

'अयमेवात्मनो ग्रहः ।' (स्प० २।७) इति ॥

अथोर्ध्वकेन—

पूरकेण विशेद्धृदि ॥७२॥

स्वस्मिन् ॥ ७२ ॥

तत्र—

संस्कुभ्य सरसीकृत्य रेचयेत् पुद्गलं पुनः ।

त्यजन्तं देवताषट्कं ततश्चापि स्वकं पदम् ॥७३॥

समरसीकरणं वक्ष्यमाणस्वाभेदापादनम्, रेचनमूर्ध्वोद्वेष्टनक्रमेण, देवता ब्रह्मविष्णुरुद्रेश्वरसदाशिवशिवाख्या हृत्कण्ठतालुभ्रूमध्यललाटब्रह्मरन्ध्रगाः, तत्त्याग एव शिष्यस्य तदधिष्ठिताध्वनि विश्लेषयोग्यताधानहेतुः, स्वामिनी जिते स्वस्यापि जयात्, स्वकं पदं भ्रूमध्यम् । यद्वक्ष्यति—

'ऐश्वरं लभते पदम् ।' (स्व० ४।७९)

इति । तन्नये तु तत्पदप्रापकात् तदाराधनाद्योग्यतामस्यादधीत । यदुक्तं मृगेन्द्रायाम्—

'इति सामयिकं कर्म (क्रि० ७।७०)'

इत्युपक्रम्य

'यत्प्राप्य योग्यतामेति (क्रि० ७।७०) ॥'

इति ॥ ७३ ॥

तत्रस्थं पुद्गलं गृह्य संपुट्य च भवेन तु ।

संहारमुद्रयोद्धृत्य शिष्यस्य हृदि योजयेत् ॥७४॥

भैरवेणाभिमन्त्र्य

भवेन भैरवेणेति निष्कलेनाभिमन्त्रणं च सप्तवारानित्याहुः । तदेतावत्पर्यन्तो रुद्रांशापादनाय ग्रन्थो न तु द्विजत्वापादनायेति भ्रमितव्यम् ॥७४॥

द्विजत्वापादने तु पूर्वोक्ते वक्तव्यशेषमाह—

एवमुपवीतं शिशोर्ददेत् ।

एवमिति भैरवेणाभिमन्त्र्य मन्त्रशक्त्यैव इदानीं शुद्धविद्यापदोद्भवात्मकद्वितीयजन्मयोगाद् द्विजत्वं भवति । उपवीतमिति, उप आत्मसमीपे विशेषेण मन्त्रसामर्थ्यात्मना इतं संबद्धम्, वीतं च शुद्धमनन्तमन्त्रदैवतव्यापकशुद्धविद्यात्मकशक्तिसूत्रप्रतिकृतिरूपमेतदुपवीतम् ॥

दत्तोपवीतो हि असौ—

आधानाद्यावदन्त्येष्टि द्विजत्वे संस्कृतो भवेत् ॥७५॥

गर्भाधानादयो वक्ष्यमाणाश्चत्वारिंशच्छुद्धविद्योद्भवात्मकप्रोक्त-द्वितीयजन्मोपयोगाय, ते च मन्त्रशक्त्यैव सिद्ध्यन्ति ॥ ७५ ॥

एतच्चत्वारिंशता संस्कारैः—

पिण्डस्यापादनं जातेः

भवतीति शेषः ॥

कथमित्याह—

आहुतित्रितयेन तु ।

पूर्वं निर्णीतेनैव इत्यर्थः ॥

न केवलमियता संस्कारैः पिण्डस्य जात्यापादनं यावत्—

चैतन्यस्यापि संस्कारमाधानान्त्येष्टितः परम् ॥७६॥

सूक्ष्मविज्ञानतः कृत्वा द्विजत्वे संस्कृतो भवेत् ।

आधानेनादिभाविना सहितः पर्यन्तवर्ती अन्त्येष्ट्यात्मा चत्वारिंशः संस्कारः, ततः परं वक्ष्यमाणं दयाक्षान्त्याद्यात्मकात्मगुणसंस्काराष्टकं सूक्ष्मविज्ञानत इति भावनया। एवं द्विजत्वापादनार्थं यथोक्तं निर्वर्त्योक्तसतत्त्वं रुद्रांशापादनं कर्तव्यम् ॥ ७६ ॥

तदन्तेऽपि—

शतहोमं सहस्रं वा हुत्वा पूर्णाहुतिं ततः ॥७७॥

दद्यादिति शेषः। शतादिहोमो मूलमन्त्रस्य तदङ्गानां तु दशांश इति स्थितमेव ॥ ७७ ॥

तदिदमुपसंहरति—

समयी संस्कृतो ह्येवं

एवमिति जात्युद्धारद्विजत्वरुद्रांशापत्तिभिः, समयी समयः पारमेश-शास्त्रमर्यादावर्तनमस्यास्तीति कृत्वा।

यदाह—

वाचनेऽस्यार्हता भवेत् ।

श्रवणेऽध्ययने होमे पूजनादौ तथैव च ॥७८॥

वाचनं बुद्ध्याद्यारोहायावर्तनम्, श्रवणमर्थावबोधः, अध्ययनं वेद-वत्सततपाठ आगमग्रन्थस्य, आदिशब्देन जपध्यानादयः ॥ ७८ ॥

इत्थमयं समयी—

चर्याध्यानविशुद्धात्मा लभते पदमैश्वरम् ।

चर्याध्यानाभ्यां समयपालनयोगाभ्यासाभ्यामेव विशुद्ध आत्मा यस्य । दीक्षया हि अस्याध्वशुद्धियोजनेन विना ईश्वरयोगयोग्यतैवाहितेति तद्योगादेवास्य पाशशुद्धावीश्वरपदाप्तिः । अतश्च यत्कश्चिदीश्वरतत्त्वयोजितस्यास्य पुत्रकादिदीक्षायामधरपदशोधनं न युक्तम् इति ईश्वरपदम्—

'शुद्धभावस्थितस्यास्य कालरुद्रं निधापयेत् ।'

इति कैरणवाक्यानुसारेण कालाग्निधाम वा [मैव] इत्यवोचत्, तदसत्, समयिनो योजनिकादेरचोदितत्वात् कैरणस्य वाक्यस्य चास्य पुत्रकाश्रयभुवनदीक्षाविषयत्वात् । किरणायां हि समयिदीक्षान्ते

'ततो दीक्षां समाचरेत् ।'

इत्युपक्रम्य पुत्रकविषयभुवनदीक्षा एतद्वाक्यप्रमुखं निर्वाहितेत्यलम् । ऐश्वरपदलाभोऽपरा मुक्तिः ॥

अथोक्तसमयिदीक्षानन्तरनिर्वर्त्यां प्रथमत एव वा कर्तव्यां पुत्रकादिदीक्षां निर्णेतुं प्रस्तौति —

अथ दीक्षाध्वशुद्ध्यर्थं भुक्तिमुक्तिफलार्थिनाम् ॥७९॥
विधानमुच्यते सूक्ष्मं पाशविच्छित्तिकारकम् ।

भुक्त्यर्थिनः साधकाः, मुक्त्यर्थिनः पुत्रकाचार्याः, तेषां या दीक्षा तस्यामध्वशुद्ध्यर्थं सूक्ष्ममिति भाविव्याप्त्या समूलपाशोन्मूलने परतत्त्वयोजनिकादिरूपं विधानमुच्यते । समयिनस्तु अधिष्ठातृकारणविश्लेषमात्रपूर्वमीश्वरतत्त्वाराधनयोगयोग्यता, इति तं प्रति न सूक्ष्मविधानं नापि परा मुक्तिर्नापि मन्त्राराधनक्रमेण भुक्तिरिति भाविपुत्रकादिपदप्राप्तियोग्यताजननमात्रं समयिदीक्षालक्षणम् । यथोक्तम्—

'समयी राजपुत्रवत् ।'

इति ॥ ७९ ॥

अथ पुत्रकसाधकदीक्षयोर्विषयविभागं सपीठिकाबन्धं करोति—

गुरुः संपृच्छते शिष्यं द्विविधं फलकाङ्क्षणम् ॥८०॥

द्विविधं बुभुक्षुं मुमुक्षुं वा, फलमिति मोक्षो भोगो वा ॥ ८० ॥

अतश्चेदमस्मै ब्रूयात्—

फलमाकाङ्क्षसे यादृक्तादृक् साधनमारभे ।

साधनं दीक्षाविधिः ॥

यतः—

वासनाभेदतः प्राप्तिः साध्यमन्त्रप्रचोदिता ॥८१॥

साध्य आराध्यो यो मन्त्रः स चिन्तामणिकल्पो वासनानुसारं फलति। अत एव श्रीस्पन्दे—

'तदाक्रम्य बलं मन्त्राः' (स्प० २।१०)

इत्युपक्रम्य

'सहाराधकचित्तेन' (स्प० २।१०)

इत्यन्तम् ॥ ८१ ॥

तथा च—

मन्त्रमुद्राध्वद्रव्याणां होमः साधारणः स्मृतः ।

भक्तौ मुक्तौ च ॥

स तु—

वासनाभेदतो भिन्नः शिष्याणां च गुरोस्तथा ॥८२॥

यदा शिष्यः स्वप्रत्ययी तदा गुरुः तद्वासनानुसारं मुक्तये भुक्तये वा जुहुयात्। यदा तु गुरुप्रत्ययी तदासौ स्ववासनानुसारं मुक्तय एव तस्य बुभुक्षाभावादित्यर्थलभ्योऽयमत्राशयः ॥ ८२ ॥

अथ वासनाभेदतः शिष्यभेदं प्रतिपादयति—

साधको द्विविधस्तत्र शिवधर्म्येकतः स्थितः ।
शिवमन्त्रविशुद्धाध्वा साध्यमन्त्रनियोजितः ॥८३॥
ज्ञानवांश्चाभिषिक्तश्च मन्त्राराधनतत्परः ।
त्रिविधायास्तु सिद्धे वैं सोऽत्रार्हः शिवसाधकः ॥८४॥

शिवधर्मः शिवशास्त्रोक्तसमाचारो नित्यावियोगेन विद्यत यस्य, अत एव शिवपदेन साध्यमन्त्रेणैव विशुद्धो न तु लोकधर्मिण इव अंशेन स्थापितोऽध्वा यस्य, यस्मिन्नेव च साध्यमन्त्रयोजित इत्याचार्येणाराधकत्वेन नियुक्तः। ज्ञानवानिति अधिगतमन्त्रतन्त्ररहस्यः ॥ ८४ ॥

अपरमाह—

द्वितीयो लोकमार्गस्थ इष्टापूर्तविधौ रतः ।

कर्मकृत् फलमाकाङ्क्षन् शुभैकस्थोऽशुभोज्झितः ॥८५॥

लोकमार्गः श्रुतिस्मृत्याचारः, इष्टं तीर्थस्नानान्नदानादि, पूर्तं कूपतडाकमठादि, फलमाकाङ्क्षन् कर्म शुभमेव करोति, न तु मन्त्राराधनम्—

'लोकधर्मिण्यसौ दीक्षा मन्त्राराधनवर्जिता ।'
(स्व० ४।१४४)

इति वक्ष्यमाणत्वात् शुभकर्मणैव तु फलस्य साधनात् साधकोऽयम्, दीक्षया त्वस्याशुभमात्रमेव शमनीयमित्याह, अशुभोज्झित इति ॥ ८५ ॥

अत एव—

तस्य कार्यं सदा मन्त्रैरशुभांशविनाशनम् ।

सदेति देहारम्भककर्मवर्जं यद्यदकरोत् करिष्यति वा तत्र मध्ये योऽशुभांशः स सर्वोऽस्य शोध्यः ॥

'...प्रारब्धेकं न शोधयेत् ।' (स्व० ४।१४१)

इति वाक्यस्य प्रायशः सर्वविषयत्वादसंकीर्णाचारेण शिवधर्मिणा भाव्यमित्याह—

गृहस्थो वा यतिर्वासावाश्रमैकतमस्थितः ॥८६॥

श्मशानादिकवृत्तेनैव वा सिद्धिं साधयेत्, गृहस्थवृत्तेन तादृशैरेव द्रव्यैर्न तु शबलतया, असाविति शिवधर्मी न त्वन्यः, तस्य मन्त्राराधनेऽनधिकारात् । न तु आश्रमानवक्लृप्तिपरमेतत्, इहानुपयोगात् ॥ ८६ ॥

साधकं निर्णीय मोक्षैकनिष्ठं पुत्रकं निर्णेतुमाह—

मुमुक्षुर्द्विविधः प्रोक्तो निर्बीजो बीजवान् पुनः ।

उभयोर्विषयविभागमाह

बालबालिशवृद्धस्त्रीभोगभुग्व्याधितात्मनाम् ॥८७॥

एषां निर्बीजिका दीक्षा समयादिविवर्जिता ।

बालिशो मूर्खः, वृद्धोऽनुष्ठानासमर्थः, भोगभुग् उपनतभोगैकसक्तोऽप्यायातशक्तिपातो दीक्ष्य एव । अन्ये त्वालस्योपहतोऽयं न पात्रम्, अतो भोगभुक् अपथ्यपरश्चासौ व्याधित इति योजयन्ति, व्याधितो दुश्चिकित्स्यः, निर्बीजिकेत्यस्य व्याख्यानं समयादिविवर्जितेति । आदिशब्दात् पवित्रकादिविधिः । वक्ष्यति च—

'समयाचारपाशांश्च निर्बीजायां विशोधयेत् ।'
(स्व० ४।१४७)

इति ॥ ८७ ॥

विद्वद्द्वन्द्वसहाना तु सबीजा कीर्तिता प्रिये ॥८८॥

विदुषां शास्त्रविवेककुशलानां द्वन्द्वसहानां व्रतचर्यादिक्लेशक्षमाणां समयपालनेऽपि शक्तत्वात् ॥ ८८ ॥

दीक्षानुग्राहिका तेषां समयाचारसंयुता ।

पूर्वाविवेक्यशक्तविषया, इयं तु विपरीतविषयेति तात्पर्यम् ॥
अतश्च—

विशेषसमयाचारा मन्त्राख्ये ये प्रकीर्तिताः ॥८९॥
तेऽत्र पाल्याः प्रयत्नेन मोक्षसिद्धिमभीप्सता ।

मन्त्राख्ये मन्त्रपीठे, अस्मिन् ये—
'न निन्देद्भैरवं देवं न च शास्त्रं तदुद्भवम् ।' (स्व० ५।४४)

इत्यादयो वक्ष्यमाणा विशेषसमयाचारा उक्ताः, तेऽत्रेति सबीजदीक्षायां प्रयत्नेन पाल्याः, अन्यथा प्रायश्चित्तित्वमिति भविष्यति । मन्त्राख्ये इति विद्यापीठादेरप्युपलक्षणपरम् ॥ ८९ ॥

येयमेव निर्णीता दीक्षा—

सबीजा सा तु विज्ञेया पुत्रकाचार्ययोः स्थिता ॥९०॥

वागीश्या गर्भोद्भूतेः संसारप्रशमनेनानुकम्पितः पुत्रः पुत्रकः, साधकदीक्षायां यद्यपि समयपालनमाम्नातम् तथापि न तद्दीक्षा सबीजोच्यते, मुमुक्षुर्द्विविधः, इति परिभाषणात् ॥ ९० ॥

एवमस्मिंश्चतुर्विधे दीक्षाकर्मणि प्रथमम्—

गृहस्थो वाश्रमी वाथ यतिः संकल्प्य दीक्षयेत् ।

वाक्यार्थस्यात्र कर्मता पश्य मृगो धावतीतिवत्, तेन गृहस्थोऽयमाश्रमीति ऐहिकभोगस्पृहयालुः, यतिरित्येतद्विपरीतो वेत्येतत् प्रथमं संकल्प्य एतदुचितेनैव असंकीर्णेन विधिना दीक्षां कुर्यात् ॥

तत्र पुत्रकदीक्षायां प्रक्रमते—

पाशसूत्रकमादाय शिष्यदेहेऽवलम्बयेत् ॥९१॥

अधिवासावसरे अधिवास्यकुम्भाग्रे यत्संरक्ष्य स्थापितमवलम्बनं शिखाग्रात् पादान्तं प्राग्वत् ॥ ६१ ॥

अथ—

अध्वानं संधयेदग्नौ धाम्ना चैव विचक्षणः ।

वक्ष्यमाणषडध्वव्याप्तिज्ञो गुरुः प्राधान्यात् शिवाग्नावेव अशेषपाशप्लोषिणि, अध्वानमितीह प्रस्तुतं कलाध्वानम्, तत्त्वादिदीक्षायां तु तत्त्वादिरूपं संदधीत ॥

न चाग्नावेव यावत्—

कुम्भमण्डलवह्निस्थश्चाध्वात्मस्थः शिशोश्च यः ॥६२॥

सूत्रस्थश्चापि चैकत्र अध्वसंधिः प्रकीर्तितः ।

आत्मस्थ इति गुरोः ॥ ६२ ॥

एकत्रेत्युक्तमधिकरणं विभजन्नध्वशुद्धिं निरूपयितुमाह—

षड्विधस्याध्वमार्गस्य साधारणगतस्य तु ॥६३॥

कुण्डे संकल्प्य संशोध्यमध्वसंधौ तु होमयेत् ।

वर्णमन्त्रपदकलातत्त्वभुवनभेदात् षड्विधस्याध्वनस्तत्तत्पदप्राप्तिहेतुतया मार्गरूपस्य कुम्भादिषु षट्सु अधिकरणेषु साधारणगतस्याभेदेन स्थितस्य तथा ज्ञातस्य च मध्यात् संशोध्यमित्यन्तर्भूताध्वपञ्चकमेकतमं प्राधान्येन शोधयितुमिष्टम्, कुण्डे इति तत्स्थे शिवाग्नौ संकल्प्य अध्वसंधिनिमित्तं होमं कुर्यात् ॥ ६३ ॥

कथमित्याह—

मूलमन्त्राष्टशतिकमध्वसंधानहेतुतः ॥६४॥

प्रणवमूलमन्त्रोच्चारपूर्वमध्वसंधिर्भवतु स्वाहा इति प्रयोगेनाध्वव्याप्तिज्ञो गुरुरष्टोत्तरं शतं जुहुयादिति यावत् ॥ ६४ ॥

अध्वावलोकनं पश्चाद् व्याप्यव्यापकभेदतः ।

अवलोकनं भावनं कुर्यादिति शेषः ॥

व्याप्तिं स्फुटयति—

भुवनव्याप्तिता तत्त्वेष्वनन्तादिशिवान्तके ॥६५॥

अनन्तादिशिवान्तके यानि भुवनानि तद्व्यापकत्वं तत्त्वेषु ॥ ६५ ॥

तानि च तत्त्वानि —

व्यापकानि च षट्त्रिंशत्

ये त्वन्ये त्रयोऽध्वानः—

मन्त्रवर्णपदात्मकाः ।

वर्णाः पञ्चाशत्, पदानि नवात्मसंबन्धीन्येकाशीतिः ॥

ते च—

तत्त्वान्तर्भाविनः सर्वे

तत्त्वानि अन्तर्भावयन्तीति कृत्वा ।

कथम्—

वाच्यवाचकयोगतः ॥९६॥

तत्त्वानि वाच्यानि मन्त्रादयो वाचकाः। यथा च अयं वाच्यवाचकभावस्तथाग्रे भविष्यति ॥ ९६ ॥

कलादीक्षायाः प्रस्तुतत्वात् तदन्तर्भावं तावत् पञ्चानामध्वनामाह—

कलान्तर्भाविनस्ते वै निवृत्त्याद्याश्च ताः स्मृताः ।

अस्य सर्वस्य अध्वग्रन्थस्यायं पिण्डार्थः—परमेश्वरश्चिदानन्दघनः स्वतन्त्रभट्टारक एकादशपटलनिरूपयिष्यमाणस्थित्या उन्मनाख्यया स्वस्वातन्त्र्यशक्त्या शून्यादिक्षित्यन्तमनन्तं वाच्यवाचकरूपं स्वभित्तौ स्वानधिकमप्यधिकमिव युगपदवभासयति । तत्र वाचकं ग्राहकभागावस्थितं परसूक्ष्मस्थूलभेदेन वर्णमन्त्रपदात्मकं त्रिधा, वाच्यमपि ग्राह्यभागाभिनिविष्टं कलातत्त्वभुवनात्मकम्, तथैव वर्णा ह्यभेदविमर्शसाराः किंचित्स्थौल्येन भेदाभेदविमर्शनात्मकमन्त्ररूपतामाश्रित्य ततोऽपि स्थौल्येन भेदविमर्शावगमकपदरूपतया भान्ति। एवं वाच्यरूपा पारमेश्वरी कलाख्या शक्तिरुत्तरोत्तरवैशिष्टये न तत्त्वभुवनात्मतां गृह्णाति, वस्तुतश्चेयमक्रमैव पारमेश्वरी शक्तिः स्फुरति, तत्रापि च स्वस्वातन्त्र्याद् दर्पणनगरवत् क्रममप्यादर्शयति, क्रमेऽपि च पूर्वं पूर्वमुत्तरत्र व्यापकतया स्थितं मृदिव घटादौ उत्तरमुत्तरं तु पूर्वत्र शक्त्यात्मना स्थितं वृक्ष इव स्वबीज इति सर्वं सर्वात्मकमेव । अत एव पञ्चतत्वदीक्षायामनाश्रिततत्त्वपर्यन्ता भूतव्याप्तिर्भविष्यति । एवं चैकैकोऽपि प्रमाता भावो वा वस्तुतः षडध्वस्फाररूपपारमेशशक्तिमयादिहान्तपरामर्शसाराहन्ताविश्रान्तिसतत्त्वः परभैरवरूप एव, तथात्वापरिज्ञानात् तु तन्माया-

शक्तिकृतादपूर्णंमन्यः शब्दराशिकलाविलुप्तविभवत्वात् वर्णादिभिः कलादिभिश्च तात्त्विकस्वरूपेणास्फुरद्भिः प्रत्ययोद्भवक्रमेण देहादौ ग्राहिताहंभावो विषयमात्रासु ग्राहितभोक्तृताभिमानश्च खेचर्यादिचक्रचतुष्टयस्य भोग्यतां प्राप्तो बद्धः पशुः संपन्न इत्यस्य पशुभावशमनाय पारमेश्वरी अनुग्राहिका शक्तिः शिवाभिन्नाचार्यहृदये पारमार्थिकेन स्वरूपेण स्फुरन्ती शिष्यस्य सर्वमध्वानं संकोचकत्वप्रशमनेन असंकुचितस्वशक्तिसारतया स्फारयन्ती शोधयति दीक्षाज्ञानादियोगेन, अत एवमाचार्यस्फारसारा मन्त्रादयः] शोधकाः, पश्वात्माभिनिविष्टाः शोध्या, इति शोध्यशोधकभावेऽपि न काचित् क्षतिः। यतश्चैकैकस्याप्यध्वनः सर्वमयत्वमस्ति, अत एव तत्तदध्वप्राधान्येन दीक्षायामन्याध्वपञ्चकमन्तर्भावशोधनमुक्तव्याप्तिसतत्त्वं कार्यम्। उक्तं च श्रीस्पन्दे—

'सेयं क्रियात्मिका शक्तिः शिवस्य पशुवर्तिनी।
बन्धयित्री स्वमार्गस्था ज्ञाता सिद्ध्युपपादिका॥'
(३।१८)

इत्यलम्, केवलम्—

'यावन्न वेत्ति वै व्याप्तिं कुण्डस्यैवात्मनोऽपि वा॥
साध्यस्यैव पशोश्चैव पाशानां च षडध्वनः।
बालवत् क्रीडते तावत् कार्यं तस्य कथं भवेत्॥'
(१६।५४-५५)

इति मृत्युजित्युक्तत्वात् तत्र तत्र व्याप्तिप्रदर्शनायायमस्माकं भर इति न नो वाचालता कल्प्या सचेतोभिः॥

अथ प्रसङ्गात् कलावाचकान् मन्त्रानाह—

हृदाद्या वाचकास्तासां बीजमन्त्राः प्रकीर्तिताः॥९७॥

बीजमन्त्रा इति निष्कलाः, हृदाद्या इति हृच्छिरःशिखाकवचनेत्रमन्त्राः क्रमेण निवृत्त्यादीनां वाचकाः॥ ९७॥

एवं चास्मिन् कलादीक्षाविधौ—

एकैकस्याः कलायाश्च पृथग् व्याप्तिं विभावयेत्।

सा चादूर एव व्यक्तीभविष्यति॥

ताश्च—

पृथिव्यादिकला ज्ञेया ब्रह्माद्याः कारणाश्च ते॥९८॥

निवृत्त्याद्याः पृथिव्यादिशक्तिरूपा ज्ञेयाः, पृथिव्यादीनामेवानाश्रितपर्यन्तं सूक्ष्मतयावस्थानात्। एतच्च पञ्चतत्त्वदीक्षाविधौ स्फुटीभविष्यति।

एता एवमधिष्ठातृरूपतया ब्रह्मविष्णुरुद्रेश्वरसदाशिवशिवाः, अतश्च अधिष्ठातृदेवताशुद्धयाप्येताः शुद्धा भवन्तीत्यपि सूचितम् ॥ ९८ ॥

उपसंहरति—

एवं व्याप्तिं भावयित्वा

प्रतिकलं समनन्तरवक्ष्यमाणव्याप्तिमेवमिति निर्णीतपरसूक्ष्मस्थूलक्रमेणाध्वनो भावयित्वा ॥

अध्वोपस्थापनं भवेत् ।

उपस्थापनमेकतमस्य प्रधानतया शुद्धयर्थं संमुखीकरणम् । अत्र च धामादीत्यादिना (स्व० ४।१०१) मन्त्रं वक्ष्यति ॥

एवमुपस्थितस्य संनिधानाय—

त्रिराहुतिं ध्रुवेणैव

दद्यादिति शेषः ॥

किं च—

अध्वशुद्धिरतो भवेत् ॥९९॥

कथमित्याह—

अग्नौ तु पूजिते देवे अध्वन्यासे कृते सति ।
तदेव पादादारभ्य पृथिव्यादिक्रमान्न्यसेत् ॥१००॥

तदेवेति निवृत्यादिरूपम्, पादादिति संहारक्रमेण, तत्र गुल्फान्तं निवृत्तिः, नाभ्यन्तं प्रतिष्ठा, ताल्वन्तं विद्या, मूर्धान्तं शान्तिः, ब्रह्मरन्ध्रान्तं शान्त्यतीता, इति भविष्यति । इत्थं च वर्तमानप्राणदेहप्रतिकृतिरूपे सूत्रकदेहानुसारिगुल्फनाभ्याद्यवधिमति अध्वन्यासतच्छुद्ध्यादिकं कृतं देहेऽपि संपन्नमेवेति न तत्र समयदीक्षायामिव पृथग् जात्युद्धारद्विजत्वापत्त्यादि क्रियते, पृथगचोदनात् । भाविस्थित्या तु निष्कृतिहोमान्तर्भाविन भाविदेहाश्रयतयापि चैतन्यस्य तत्कृतं तत्स्थीकरणादियुक्त्या वर्तमानदेहाश्रयस्यापि संपद्यते । एवं समयदीक्षान्तर्भाविपुत्रकदीक्षापक्षे च वर्तमानदेहविषयो दीक्षासंस्कारः पुनरुपयुक्तः ॥ १०० ॥

पूर्वोक्ते उपस्थापने मन्त्रमाह

धामादिः प्रणवादिश्च निवृत्त्यै च नमः पुनः ।
उपस्थापनमन्त्रोऽयं व्याप्तिं ध्यात्वाध्वसंस्थिताम् ॥१०१॥

प्रयोक्तव्य इति शेषः। अत्र च प्रणवधामभ्यामनन्तरं हृन्मन्त्रः पूर्वोक्तः पठनीयः,

'हृदाद्या वाचकास्तासां बीजमन्त्रा' (४।६७)

इत्युक्तत्वात् । एवमुत्तरत्रापि ज्ञेयम् ।। १०१ ।।

यदुक्तमेकैकस्याः कलायाः पृथग्व्याप्तिरिति, तत् स्पष्टयति—

निवृत्त्यभ्यन्तरे पृथ्वी शतकोटिप्रविस्तरा ।

तस्यां च भुवनानां च शतमष्टोत्तरावधि ।।१०२।।

अष्टाविंशतिः पदानि वर्ण एकोऽत्र संस्थितः ।

मन्त्रौ द्वावेव विज्ञेयौ

शतकोटीति योजनशतकोटिविस्तारेत्यर्थः । शतमष्टोत्तरावधीति । तत्र कालाग्निः कूष्माण्डो हाटक इति ब्रह्माण्डान्तरधोभागगतास्त्रयः । मध्ये भूलोकाधिपतिः शिवः, तदुपरि सत्यलोकान्तमधिष्ठाता ब्रह्मा, तदुपरि विष्णुरुद्रौ स्वलोकयोरित्यन्तः सप्त, बहिरस्य दशसु दिक्षु स्थितं रुद्रशतं तदुपरि सर्वेषां स्वामी वीरभद्रः, इत्येतदष्टोत्तरं शतम्, पदानि त्वष्टाविंशतिः,

सदाशिवः

प्रकृतिः	ओं	ह	र	ऊ	ओं	र	ऊ	ह	ओं	ईश्वरः
	य	ऊ	क्ष	य	ह	क्ष	य	र	क्ष	
	व	ल	म	व	ल	म	व	ल	म	
पुरुषः	ऊ	ह	र	ऊ	ह	र	ऊ	ह	र	शुद्धविद्या
	ओं	य	क्ष	य	ओं	क्ष	य	क्ष	ओं	
	व	ल	म	व	ल	म	व	ल	म	
नियतिः	ऊ	ह	र	ऊ	ह	र	ऊ	ह	र	माया
	य	ब	क्ष	य	ल	क्ष	य	म	क्ष	
	ओं	ल	म	व	ओं	म	व	ल	ओं	

कालः

भाविनवनाभमण्डलारम्भिभागैकाशीतिनिविष्टवक्ष्यमाणविभागनवात्मवर्णान्ये-काशीतिस्तत्तद्विश्रान्तिप्रदत्वात्पदानि, तेभ्यः प्रकृतितत्त्वाधिष्ठतेश-दिग्गतभागनवकगतं प्रातिलोम्येनेशोत्तरादिक्रमेण मध्यपदं यावद् ओंका-राद्यकारान्तं पदनवकम्, तथैव पुरुषतत्त्वाश्रितकुबेरदिग्गतमकारादियकारान्तं नवकम्, एवं नियतिस्थानस्थवायुदिग्गतमूकारान्तमिति सप्तविंशतिः पदानि ; कालतत्त्वास्पदवरुणदिग्गतैशकोणस्थ ऊकारश्चेत्यष्टाविंशतिः पदानि। अत्रैव स्पष्टीकरणार्थमयं प्रस्तारः प्रदर्श्यते ———(पूर्वपृष्ठे द्रष्टव्यः)

वर्ण एक इति मातृकासंबन्धी प्रातिलोम्येन क्षः। यद्यप्ययं पूर्वं वक्त्रभङ्ग्या शान्त्यतीतापरमार्थं ईशानवक्त्रवाचकत्वेन निरूपित इह तु पृथिवीवाचकत्वेन, तथापि आदिक्षान्तस्य शब्दराशेरशेषविश्वशरीरपरभैरव-परामर्शात्मकत्वेन एकैकोऽप्यंशः—

'प्रदेशोऽपि ब्रह्मणः सार्वरूप्यमनतिक्रान्तश्चाविकल्प्यश्च।'

इति स्थित्या विश्वरूपत्वाद्विश्वाभिधायको:,वाच्योऽपि चांशः—

'एकैकत्र च तत्त्वेऽपि षट्त्रिंशत्तत्त्वरूपता।'

इति नीत्या विश्वात्मकत्वात् सर्ववर्णवाच्यः। ततश्च भगवता शक्ति-नियन्त्रणाय एवमत्यण्वपि वा तत्तदागमे सिद्धवाचकभावे विचित्रदीक्षादि-क्रमोपयोगिनि निरूप्यमाणेऽपि न काचिदनुपपत्तिः। मन्त्राविति निष्कल-सद्योजातौ ॥

एवमस्यां निवृत्तिकलायाम्—

अध्वषट्कं विभावयेत् ॥१०३॥

अथेमां निवृत्तिमन्तर्भावितापराध्वव्याप्तिं पूर्वोक्तक्रमेण—

पुष्पगन्धादिना पूज्य

अस्याश्च प्राङ्मन्त्रेण—

संनिधावाहुतित्रयम्।

संनिधानाय आहुतित्रयं दद्यादिति शेषः।

कलाद्यध्वान्तर्मलत्रयं शोध्यमिति वक्तुमाह—

मायीया भुवनाकारा मलाः कर्म च संस्थिताः ॥१०४॥

पाशा इति शेषः॥ १०४॥

तत्र—

शरीरभुवनाकारा मायीयाः परिकीर्तिताः।

भोगहेतुश्च कर्म स्यादभिलाषो मलोऽत्र तु ॥१०५॥

भुवनैर्भावभूतादि लक्ष्यते, तेन यत्किंचिद्वेद्यतया भाति स मायीयो मलः, भोगेन तदाक्षिप्तं जन्मापि लक्षितम्। उक्तं च प्रत्यभिज्ञायाम्—

'भिन्नवेद्यप्रथात्रैव मायाख्यम्,

इति । तथा—

जन्मभोगदम् कर्तर्यबोधे कार्मं तु ।' (ई० प्र० ३।२।५)

इति । अभिलाष इति अपूर्णमन्यतात्मा लोलिकारूपः, न तु किंचिन्मे स्यादितीदृक्, रागतत्त्वस्यैवमात्मत्वात् । अत्र त्विति, एतस्मिन्नाणवे भित्तिभूते सति अन्यन्मलद्वयमित्यर्थः ।। १०५ ।।

अत एव शान्त्यतीतायामपि सूक्ष्मभुवनावस्थितेः प्रतिपादयिष्यमाणत्वात् तावतांशेन मलसंस्कारस्य सत्त्वात् शोध्यतां प्रतिपादयिष्यन्नुपसंहरति—

एवं पाशत्रयं भाव्यं दीक्षायामध्वसंस्थितम् ।

अथैतद्भावयित्वा—

तद्विशुद्ध्यै च दीक्षा च क्रियते सा यथाविधि ।।१०६।।

विविधं तेषां पाशानां विशेषेण संस्कारपर्यन्तताप्रशमनरूपेण शुद्ध्यर्थं चकाराद्योजनिकाग्रन्थनिर्वर्त्यशिवत्वाभिव्यक्त्यर्थं च दानक्षपणात्मा दीक्षा क्रियते ।। १०६ ।।

तद्विधिं प्रस्तौति—

आदौ शक्तिं न्यसेद् देवि कलातत्त्वसमन्विताम् ।

शक्तिमाधाररूपां पारमेशीं क्रियाख्यां कलादीक्षाप्रस्तावात् प्रथमं निवृत्तिकलात्मना तत्त्वेनान्तर्भावितापराध्वपञ्चकेन सम्बद्धाम् ।। १०७ ।।

तथा—

हृदा संकल्प्य वागीशीं व्यापिकां सर्वयोनिषु ।।१०७।।

न्यसेत् । हृदेति काकाक्षिवत् पूर्वत्रापि योज्यम् । उक्तं च—

'हृदाद्या वाचकास्तासां (४।६७) इति ।

'वागेव विश्वा भुवनानि जज्ञे ।'

इति स्थित्या यथास्याश्चतुर्दशविधभूतसर्गजन्मभूमिव्यापकत्वं तथा निर्णातमेव ।। १०७ ।।

निवृत्त्यनुसारेण योनीर्निरूपयति—

शतरुद्राद्यनन्तान्तं योनयो विविधाः स्थिताः ।

विविधाश्चतुर्दशविधभूतसर्गजनिकाः ॥

तासु च –

समकालमृतुत्वेन वागीशीं संनिधापयेत् ॥१०८॥

आयातशक्तिपातं प्रति शुद्धसृष्टयौन्मुख्यसंपाद्ययुगपदनेकदेहसर्गयोग्यतात्मकार्तवयुक्त्या सा तावत्संनिहिता, आचार्यस्तु तन्मूलबलावष्टम्भात्मना प्रयोजकव्यापारेण तां संनिधिमुद्राबन्धनपूर्वमग्निकुण्डेऽवस्थापयेत् ॥ १०८ ॥

अथ ताम्—

ध्रुवेण पूजयेत् पुष्पैर्गन्धधूपैरनुक्रमात् ।

अत्र च प्रणवं हृद्‌बीजं चोच्चार्य, 'पृथिवीतत्त्वस्थानन्तादिवीरभद्रान्तमानाभुवनगतचतुर्दशविधभूतसर्गविचित्रशरीरहेतवे निवृत्तिव्यापिकायै वागोश्यै नमः' इति मन्त्रः संनिधापनपूजनयोः ॥

अथ –

ओंकारेणाहुतीस्तिस्रो वागीशीसंनिधापने ॥१०९॥

दद्यादिति शेषः ॥ १०९ ॥

दत्त्वा च—

शिष्यंसंप्रोक्ष्य चास्त्रेण ताडयेदस्त्रमुच्चरन् ।

प्रोक्षणं हृदयदेशानुसारे पाशसूत्रे शिवाम्भसा, ताडनं तु भस्मना तैरेव वा ॥

ततोऽपि –

रेचकेनात्मनो गत्वा छिन्द्यात्तस्यासिना हृदः ॥११०॥

'शशिमार्गेण शिष्याणां सूर्यस्थः प्रविशेद्धृदि ।'

इति श्रीलक्ष्मीकौलार्णवोक्तनीत्या स्वदक्षिणेन निर्गत्य शिष्यस्य वामेन प्रविश्य पुर्यष्टकरूपं शिष्यात्मानमस्त्रमन्त्रेण भावनया सूत्रस्थं छिन्द्यात् ॥ ११० ॥

छिन्नं च—

धाम्नाकृष्य तदात्मानं द्वादशान्ते निधापयेत् ।

आकर्षणयुक्तिः पूर्वमेवोक्ता । एतच्च—

'रश्मिमात्रावियोगेन कार्यम्,

इत्युक्तम् ॥

अथ—

ध्रुवेण तत्स्थं संपुट्य चैतन्यं मुद्रयात्मनि ॥१११॥

पूरयेद् भैरवेणैव

तत्स्थं द्वादशान्तस्थम् मुद्रयेति दीप्तशिवहस्तकृतया संहाराख्यया, आत्मनीति स्वहृदये, भैरवेण निष्कलेन ॥१११॥

तेनैव च—

कुम्भयेद् रेचयेत् ततः ।

नासाक्रमेणैव ॥

तत एव च—

द्वादशान्तात्तु संगृह्य योजयेद् भवमुद्रया ॥११२॥

योजनं वागीशीगर्भे, भवमुद्रा लिङ्गमुद्रा ॥११२॥

योजने इतिकर्तव्यतामाह—

आत्मानमीश्वरं ध्यात्वा मायां वागीश्वरीमपि ।
संयोज्य तस्यां चैतन्यं शरीराण्यध्वनि सृजेत् ॥११३॥

ईश्वरः क्रियाशक्तिप्राधान्यात् स्रष्टा, प्राङ्निर्णीता तु वागीश्वरी संप्रत्यशुद्धाध्वप्रमातृत्वान्माया, शुद्धाध्वप्रसवे तु एषैव महामायात्मा भविष्यति, मायारूपायाश्चास्याः शुद्धविद्यास्पर्शो नास्ति, अन्यथा क्रमिककर्मभोगानां युगपच्छुद्धचर्थमनन्तदेहसृष्टेरयोगात्, चैतन्यमिति दीक्ष्यस्येति अर्थात्, अध्वनीति प्रकृते निवृत्तिकलाप्रधाने ॥११३॥

किमर्थं सृजेदित्याह—

प्राक्कर्मवासनाशेषफलभोगत्वहेतवे ।

पूर्वकर्मवासनाहेतुकानि यान्यशेषाणि जन्मायुर्भोगात्मकानि फलानि, तेषां भोग्यत्वं भोगसिद्धिर्यथा स्यात् ॥

एतानि च शरीराणि —

युगपद्भिन्नभोगानि देशकालशरीरतः ॥११४॥

मन्त्रशक्त्या विपच्यन्ते

शरीरमत्र स्वभावः। भिन्नो भोगो येषु, देशादित्रयान्तानि शरीराणि मन्त्रशक्त्या युगपद्विपच्यन्ते फलदानोन्मुखानि संपद्यन्ते ॥११४॥

न केवलं शरीराणि युगपद्भिन्नभोगानि विपच्यन्ते यावत्—

पुद्गलाश्च तथाविधाः।
भिन्नदेहा विसृज्यन्ते गर्भे वागीशियोनिषु ॥११५॥

पुद्गला इत्यनेनैकस्यापि दीक्ष्यस्य नानाशरीरतया बहुत्वं वदन् भेदवादस्य वास्तवतां ध्वनति। यस्मादेकस्यापि दीक्ष्यात्मनो नानाभोगाश्रयविचित्रदेहशुद्धौ भोग्यवैचित्र्येण नानात्वभावः। तथाविधा इति भिन्नभोगाः, योनिष्विति चतुर्दशविधभूतसर्गापेक्षं बहुत्वम्, विसृष्टिः नियतभोगार्थं संयोजनम् ॥११५॥

तदित्थं शिष्यचैतन्यम्—

धाम्ना च योजयित्वा च जुहुयादाहुतित्रयम्।

निष्कलोच्चारपूर्वनिवृत्तिव्याप्तानन्तादिवीरभद्रान्तनानाभुवनगतचतुर्दशविधभूतसर्गसंपत्त्यर्थं देवदत्तस्य वागीशीगर्भयोजनं करोमि नम इति मन्त्रः। होमे तु स्वाहान्तः। एवमुत्तरत्राप्यूहमन्त्राः स्वयमभ्यूह्याः॥

एवं संयोजने सति—

युगपत् सर्वगर्भेषु देहा विविधरूपकाः ॥११६॥
भैरवेच्छासुसंपन्नाः शतरुद्राद्यनन्तगाः।

भवन्तीति शेषः। भैरवशब्देनात्र भैरवसमावेशशाली आचार्य उक्तः ॥११६॥

अथ—

गर्भेषु गर्भनिष्पत्ति भैरवेणाहुतित्रयम् ॥११७॥
हुत्वा तु जननं कार्यं पुनस्तेनाहुतित्रयात्।

कर्मनामानुसारी अत्रोहमन्त्रः, गर्भाणां निष्पत्तिर्यत्र आहुतित्रये तद्गर्भेषु गर्भनिमित्तं हुत्वा, जननं गर्भनिःसरणम्, तेनेति निष्कलेनैव ॥११७॥

शिष्यदेहे—१. पाशसूत्रावलम्बनम्, २. षडधिकरणगताध्वसंधानम्, ३. तद्धोमः, ४. अध्वव्याप्त्यवलोकनम्, ५. अध्वोपस्थापनम्, ६. तत्पूजा, ७. होमः, ८. तदन्तःपाशत्रयचिन्तनम्, ९. कलाशक्तिसमन्विताधारशक्ति-

न्यासः, १०. वागीश्याः संनिधापनम्, ११-१२, तत्पूजाहोमौ, १३-१४. शिष्यसंप्रोक्षणताडने, १५. तच्चैतन्याकर्षणम्, १६. द्वादशान्ते स्थापनम्, १७. ततो ग्रहणम् १८. स्वहृदि योजनम्, १९. स्वद्वादशान्तप्रापणम, २०. वागीशीगर्भे योजनम्, २१, नानागर्भनिष्पत्तिहोम इत्येकविंशत्यवान्तरसंस्कारैरुपस्कृतं होमेन जन्माख्यं संस्कारमभिधाय, अधिकाराख्यं संस्कारं वक्तुमाह—

सर्वयोनिषु देहास्ते युगपद्वृद्धिमागता ॥११८॥

भाव्या इति शेषः ॥११९॥

प्रवृद्धदेहानामेव भोगेऽधिकाराद्भोगमाह—

भोगनिष्पत्तये कर्म व्यापारसहकारणम् ।

भाव्यमिति शेषः। पशोरतीतमनागतं च यत् क्रमिकानन्तभोगसंपादकं ।भाव्यते शुभादि वासनात्मकं कर्म तत्सर्वं

अनेकभविकं कर्म दग्धं बीजमिवाणुभिः ।
भविष्यदपि संरुद्धं येनेदं तद्धि भोगतः ॥'

इति श्रीकिरणोक्तनीत्या मन्त्रयुक्त्या युगपद्भोगनिष्पत्त्यर्थमनुसंधेयम् कीदृक् ? व्यापारैः वाङ्मनःकायचेष्टाभिः, सहकारणं सहेतुकमित्यर्थः ॥

अवश्यं चैतदन्यथा—

तदभावान्न भोगः स्यात्

कर्मैव हि मायीयभोगहेतुः ॥

भोगार्थमेव तत्साधनाहरणाय सर्वे प्रवर्तन्त इत्याह—

तदर्थं मार्जनं स्मृतम् ॥११९॥

यस्मात् शुभाद्यनुष्ठानाद् भोगसाधने

अर्जिते सति भोक्तव्यो भोगो दुःखसुखात्मकः ।

एवं भोगं निर्णीय, निवृत्तेऽपि तस्मिन् तत्संस्कारान्तर्मायीयभावरूपमिव लयं वक्तुमाह—

लयः परमया प्रीत्या सुखदुःखादिकेऽप्यलम् ॥१२०॥

दीक्ष्यस्य गुरुणा भाव्य इति शेषः। तदुक्तं श्रीमृगेन्द्रे—
'कंचित्कालं लयः (८।९०) इति ॥१२०॥

एवमधिकारभोगलयाख्यं संस्कारत्रयं भावनया परिकल्प्य—

तिसृभिस्तिसृभिर्होमं धाम्नैव त्रिषु कारयेत् ।

ऊहमन्त्रान्तेनेत्यर्थात् तिसृभिरित्याहुतिभिः ॥

एवं जन्माधिकारभोगलयान् प्रतिपाद्य, निष्कृत्याख्यं पञ्चमं संस्कारं प्रतिपादयितुमाह—

आहुतीनां शतं होम्यं धाम्ना निष्कृतये पुनः ॥१२१॥

निष्कृतेरदूर एव स्वरूपं निर्वक्ष्यति ॥१२१॥

नन्वस्यां किमिति विशेषेण होमः ? इत्यत्र हेतुमाह—

यत्कर्मभोग्यरूपं तु जात्यायुर्भोगलक्षणम् ।

निष्कृत्यन्ते विशुद्धेत् तद् भूलोकसमवस्थितम् ॥१२२॥

कर्मणा शुभाशुभात्मना भोग्यं रूपं यस्य जात्यायुर्भोगात्मनः फलस्य तद् निष्कृतावेव शुद्धयति, अतो युक्तोऽस्यां शतहोमः, भुवो लोका वीरभद्रान्तानि भुवनानि, तत्र समवस्थितं भोग्यतां प्राप्तम्, एतच्चेह निवृत्तिशुद्धिप्रसादादेवमुक्तम्, तच्च प्रतिष्ठादिव्याप्तत्वान्तर्गतभुवनभोगोपलक्षणपरम् । अतत्त्यत्स्तु भूलोके इति पठित्वा भूर्लोकैकदेशे कन्याद्वीपेऽजितमिति व्याकृतवान् ॥१२०॥

भोगो दुःखसुखात्मक इत्युक्त्या भोग इदानीमेव निर्णीतः, आयुः सृष्टिसंहारपटले निर्णेष्यते, इत्यवशिष्टां जातिं जन्मप्रकारभेदैरादिशति—

संसारा दशचत्वारः

देवमानुषतिर्यग्भेदभिन्नश्चतुर्दशधा भूतसर्ग एव संसारा नानाजातय इत्यर्थः ॥

भुवनदीक्षायाम्—

'अन्त्यजान् शुद्रविट्क्षत्रब्राह्मणांश्च विशोधयेत् ।'

(स्व० १०।३८४)

इति सर्वजातिशोधनं वक्ष्यति । इह तु

'एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना
गतागतं कामकामा लभन्ते ॥' (९।२१)

इति गीतोक्तनीत्या षट्कर्माधिकारित्वेन बन्धकर्मत्वान्मनुष्यजातिशुद्धौ ब्राह्मण्यजातिरेव निष्कृतिहोमेनैवावश्यं शोध्या, संक्षिप्तत्वादस्य विधेरिति वक्तुमाह—

संस्कारा अष्टभिः सह ।

चत्वारिंशद् द्विजत्वाय वक्ष्यन्ते भुवनाध्वनि ॥१२३॥

योनिर्बीजं तथा भाव आहारो देश एव च ।

एतेषां शोधनं देवि

आधानादयोऽन्त्येष्टयन्ताश्चत्वारिंशत्, दयादयः स्पृहान्ताश्च अष्टाविति येऽष्टचत्वारिंशत् संस्कारा अग्रे स्फुटीभविष्यन्ति, ते तु भुवनदीक्षायां पृथक् शोध्याः, आहाराद्याश्च कलादिदीक्षासु तु निष्कृतिहोमान्तर्भावयुक्त्या, इति भाविवाक्यसंगत्यात्र पिण्डार्थः । इदं च द्विजजात्यापादनं कर्महेतुकभाविशरीरविषयम्, पूर्वं तु समयिनो वर्तमानदेह एव शुद्धविद्याजातियोग्यत्वरूपमन्यदेवेति निर्णीतम् । अत एव पूर्वं समयिनो रुद्रांशापादनमीश्वरतत्त्वप्राप्तियोग्यतात्मकमुक्तम्, इदं तु शक्तिगर्भानुप्रवेशवशभविष्यद्रुद्रत्वापत्तियोग्यताभावनात्मकम्, न तु रुद्रत्वापत्त्यात्मकम् निवृत्तिपाशानामद्याप्यशुद्धत्वात् । उक्तं च श्रीमृगेन्द्रे—

'रुद्राणी शक्तिरुच्यते

तद्गर्भयोग्यतापत्तिरुद्रांशत्वं न रुद्रता ॥'

(क्रि० ८।६५)

इति ॥१२३॥

तदेतदीदृशं रुद्रांशापादनं जात्यायुर्भोगशुद्धया सह निष्कृतिहोममध्य एव संपाद्यमित्याह—

रुद्रांशापादनं तथा ॥१२४॥

अत्रावलोकनं कृत्वा निष्कृत्यामेव शुद्ध्यति ।

न केवलं जन्मायुर्भोगानां निष्कृतौ शुद्धिराधातव्या, यावद्रुद्रांशापत्तिरूपापि शुद्धिर्व्याकृतस्वरूपा तत्रैवाधातव्येत्यर्थः । अत्रेति निष्कृतौ, अवलोकनमिति भावानाम् ॥१२४॥

निष्कृतिस्वरूपं व्याचष्टे—

विषया भुवनाकारा ये केचिद्भोग्यरूपिणः ॥१२५॥

भुक्तकर्मफलाशेषा निष्कृतिस्तेन सा स्मृता ।

भुवनं स्त्र्यादिभावोपलक्षणपरम्, तेष्विति श्लोकमध्येऽध्याहार्यम्, भुक्तं कर्मफलमशेषं समग्रं यया हेतुना दीक्ष्येण सा तथा, पूर्वनिपातव्यत्यय

ऐशः । निःशेषेण कृतिः समस्तकर्मफलभोगसमाप्तिर्यस्यामिति व्युत्पत्त्या निष्कृतिः, स्मृतेति दीक्षायामेव शोध्यत्वेनेति शेषः ॥१२५॥

अथ—

विश्लेषो निष्कृतेर्भोगात्

भोगाद्विश्लेषः पुनर्भोगैरसंबन्धो भोक्तुर्भोक्तृत्वाभावात्, संस्कारोऽपि निष्कृतेः कार्यः ॥

भोगाभावे स हि स्मृतः ॥१२६॥

नहि भोगसमाप्तिरूपां निष्कृतिं विना संस्कर्तुं शक्यः ॥१२६॥

भोक्तृताभावरूपं विश्लेषं भोक्तृतानुवादपूर्वं वक्तुमाह—

भोक्तृत्वं विषयासक्तिर्मलकार्यं प्रकीर्तितम् ।
भोक्तृत्वाभावस्तत्रैव शरीरेण तु यत्कृतम् ॥१२७॥
विश्लेषः क्रियते तस्य पशोर्मन्त्रैः शिवाज्ञया ।

शरीरेण यत् कृतं शरीरैर्यदर्जितं किंचित् तत्रैव या विषयत्वेनासक्तिः किंचिन्मे स्यादित्यभिष्वङ्गस्तदेतन्मलकार्यम्, अपूर्णम्मन्यतात्मकाणवमलोत्थापितं भोक्तृत्वम्, तस्येदृशस्यभोक्तृत्वस्य पशो शिवाभिन्नगुर्वाज्ञया मन्त्रैर्विश्लेषः क्रियते, स च यथोक्तस्य भोक्तृत्वस्याभाव उच्यत इति संगतिः ॥१२७॥

अत्र च—

धाम्ना चाहुतयस्तिस्रो विश्लेषकरणाय च ॥१२८॥

अमुकाय निवृत्तिपाशविश्लेषं करोमि स्वाहेत्यत्र मन्त्रः। एवमुत्तरत्रापि स्वयमूहः कर्मणामौचित्येन कार्यः ॥१२८॥

अथ —

आहुतित्रितयं धाम्ना पाशच्छेदेऽपि दापयेत् ।

यत्पाशच्छेदनिमित्तमाहुतिस्तत्पाशानाह—

पाशा देहे तु मायीयाः कलाद्या भूतकावधि ॥१२९॥
शरीरकरणाकाराः पुरुषार्थप्रसिद्धये ।

देहे देहनिमित्तं कलाद्या महाभूतान्ता मायीयाः पाशाः, ते च

शरीरेन्द्रियाणि तदुपलक्षितांश्च भुवनभावादीन् आकारयन्ति संपादयन्ति पुरुषार्थस्य भोगस्य प्रसिद्ध्यर्थम् । उक्तं च—

'कलादिक्षितिपर्यन्तमेतत् संसारमंडलम्' । (स्व० ११।२९५)

इति। तुशब्दः—

'भोक्तृत्वं विषयासक्तिर्मलकार्यं' (स्व० ४।१२७)

इति । तथा तत्रैव—

'शरीरेण तु यत्कृतम् ।' (स्व० ४।१२७)

इति पूर्वोक्ताणवकार्मपाशवैलक्षण्यं द्योतयति ॥१२९॥

एवं च निष्कृतिविश्लेषरूपात्—

भोगाभावाद्विपद्यन्ते शरीराणि सहस्रधा ॥१३०॥

शरीराणीति स्थूलसूक्ष्मादिरूपाणि, सहस्रधेति नानाविचित्रभेदभूतसर्गरूपाणि, विपद्यन्ते अपुनर्भावेन नश्यन्तीत्यर्थः ॥१३०॥

यस्य च दीक्ष्यस्यैतानि विपद्यन्ते—

पाशच्छेदे विधिस्तस्य मन्त्रैश्च विधिचोदितैः

प्रदर्शिताणवादिपाशव्याप्तिकपाशसूत्रगतनिवृत्तिभागात्मनः पाशस्य च्छेदे विद्यात्मकशास्त्रवाक्यचोदितैर्मन्त्रैर्विधिः कार्यः । स च विधिः—

'शिवशक्तिरमोघेयं कर्तरी परिकीर्तिता ।'

इति श्रीहंसपारमेशोक्तव्याप्त्या कर्तर्यास्त्रजप्तया शिवं सास्त्रं हुंफडन्तं प्लुतयुक्त्योच्चारयन् पाशान् छिन्धादित्येवंरूपः । यथोक्तं श्रीमृगेन्द्रे—

'ततः शिवेन सास्त्रेण हुंफडन्तेन सस्वरम् ।
चिन्द्यात् स तावतः पाशान् कर्तर्या चास्त्रजप्तया ॥'

(क्रि० ८।११३-११४)

इति ॥

उपसंहरति—

एवं पाशत्रयस्यापि विश्लेषो दीक्षयोच्यते ॥१३१॥

एवमिति जन्माधिकारभोगलयनिष्कृत्याख्ययथाप्रतिपादितसंस्कारपञ्चकपूर्वमित्यर्थः । अत्र चोक्तेनैव हुंफडन्तेन मन्त्रेण पूर्णाहुत्या समं छिन्नस्य

पाशस्य होमः कार्यः,—इति संहितान्तरोक्तोऽर्थोऽनुमन्तव्यः । तथोक्तं श्रीमृगेन्द्र एव—

'ततस्तां स्रुवमापूर्य जुहुयादाज्यसंयुतान् ।
तेनैव मन्त्रयोगेन' (क्रि० ८।११४-११५)

इति ॥१३१॥

एवं विश्लेषान्ते संस्कारषट्के कृते—

शरीराशेषभङ्गेन एकचैतन्यभावना ।

गुरुणा शिष्यस्य कार्येत्यर्थः ॥

अत्र चावसरे—

पूर्णाहुतिं शिवेनैव वौषड्जातियुतेन च ॥१३२॥

दद्यादित्यनुषङ्गः ॥१३२॥

अथ पाशाभावात्—

शुद्धतत्त्वाग्रसंस्थं तच्चैतन्यं कनकप्रभम् ।

तदेकीकृतं चैतन्यं शुद्धस्य निवृत्त्याख्यस्य तत्त्वस्याग्रे उपरि सम्यगनावृततया स्थितं दीप्तं भावयित्वा

उद्धारायाहुतीस्तिस्रः पुनर्धाम्ना तु दापयेत् ॥१३३॥

'निवृत्तिव्याप्तात् पृथिवीतत्त्वाद् देवदत्तमुद्धरामि' इति चात्र प्रयोगः ॥१३३॥

अथ—

तस्मात् तत्त्वाद् गृहीत्वा तु चैतन्यं मलसंयुतम् ।
मुद्रया प्राग्विधानेन आत्मस्थं पूरयेद्धृदि ॥१३४॥

निवृत्तिशुद्ध्या निर्मलमपि कलान्तराणामशोधितत्वात् मलसंयुतम् मुद्रयेति संहाराख्येति, प्राग्विधानं प्रणवसंपुटहंसबीजत्वादिरूपम् ॥१३४॥

ततः—

कुम्भित्वा रेच्य संगृह्य द्वादशान्ताद् ध्रुवेण तु ।
शिष्यदेहे दिवेश्यैतन्नाडीरन्ध्रेण पूर्ववत् ॥१३५॥

अथास्मै—

तत्स्थीकरणहेत्वर्थं धाम्ना चैवाहुतित्रयम् ।

देयमिति शेषः। 'शोधितचैतन्यं देवदत्तस्य हृत्स्थं करोमि स्वाहा' इत्यन्तोऽत्रायं प्रयोगः॥

एवं पाशच्छेदस्तद्धोमः, पूर्णाहोमः, चैतन्यस्यैक्यभावनम्, तदुद्धारहोमः पूरकेण हृत्स्थीकरणम्, कुम्भनम्, द्वादशान्तरेचनम्, ततो ग्रहणम्, शिष्यदेहे निवेशनम्, तदर्थो होम इत्येकादशभिरवान्तरसंस्कारैरुपस्कृतं विश्लेषं निर्वर्त्य तदवशिष्टनिवृत्त्यर्थमाह—

कलाशुद्ध्यवसाने तु ब्रह्माणं कारणाधिपम् ॥१३६॥
स्वनामप्रणवाह्वानपूजं संतर्प्य चार्पयेत्।

ओं ब्रह्मन्नागच्छेति स्वनामप्रणवपूर्वमाह्वानं 'तुभ्यं नम' इति च पूजा यस्येति बहुव्रीहि तत्सन्तर्पणं वह्नौ 'स्वाहा' इति प्रयोगात्, ततोऽपि चार्पणं पुर्यष्टकार्पणाय ॥१३६॥

तदाह—

शब्दस्पर्शौ त्यजेत् तस्मिन्

कथम्—

ध्रुवाद्यौ नामसंयुतौ ॥१३७॥

स्वाहाकारप्रयोगेन तौ ब्रह्मणि निवेदयेत्।

तिसृभिस्तिसृभिर्होमात्

ओं ब्रह्मणे शब्दमर्पयामि स्वाहेति त्रिर्हुत्वा स्पर्शमर्पयामि स्वाहेति त्रिर्जुहुयात्, इति वीप्सातोऽवसेयम् ॥१३७॥

एवं चेदमस्मै—

पुर्यष्टांशं निवेदयेत् ॥१३८॥

पुर्याः सूक्ष्मदेहस्यारम्भकमष्टकं तन्मात्रमनोऽहंकृद्बुद्धिरूपम्, तदंशार्पणविभागेऽभिप्रायं पर्यन्ते स्फुटयिष्यामः ॥१३८॥

किं च—

आमन्त्रणविभक्त्या तु श्रावणां तस्य कारयेत्।

तस्येति ब्रह्मणः, श्रावणा शिवाज्ञा। यथोक्तं श्रीपूर्वे—

'भुवनेश त्वया नास्य साधकस्य शिवाज्ञया।
प्रतिबन्धः प्रकर्तव्यो यातुः पदमनामयम्॥'

(मा० वि० ९।६५)

इति ॥

कृतश्रावणं च—

ब्रह्माणं पूजयित्वा तु होमं कृत्वा विसर्जयेत् ॥१३९॥

किं च—

ध्रुवेणाभ्यर्च्य वागीशीं संतर्प्य च विसर्जयेत् ।

विसर्जनं निजपरावागैकात्म्यविमर्शनम्, ध्रुवेण निष्कलेन ॥

तदित्थमध्वसंधानात् प्रभृति वागीश्या विसर्जनान्तम्—

हुत्वावलोकयेत्तत्र विशुद्धं पाशजालकम् ॥१४०॥

हुत्वेति, अध्वसंधानम्, अध्वोपस्थानम्, वागीशोगर्भयोजनम्, तद्गर्भ-
निष्पत्तिर्जननमधिकारः, भोगः, लयः, निष्कृतिः, विश्लेषः, पाशच्छेदहोमः,
पाशहोमः पूर्णाहोमः, उद्धारहोमः, तत्स्थीकरणम्, ब्रह्मतर्पणम्, पुर्यष्टकांशार्प-
णहोमः, पुनर्ब्रह्महोमः, वागीशीहोमः, इत्येकोनविंशतिहोमानुक्तान् कृत्वा,
तत्रेति विशुद्धायां निवृत्तिकलायाम्, एवमुत्तरत्रापि संस्कारसंकलना होम-
कलना च स्मर्तव्या ॥१४०॥

अत्र च पाशशुद्धभवलोकनावसरे—

प्राक् कर्मभाविकस्याथ अभावं भावयेत्तदा ।

मुमुक्षोर्निरपेक्षत्वात्

भाव्येव भाविकमर्थात् कर्म, प्राक्कर्म च भाविकं चेति समाहारः ।
निरपेक्षत्वात् साधकवत् फलोन्मुख्याभावात् । कैश्चित्तु प्राक्कर्मणा भवतीति
प्राक्कर्मभवस्तत्र भवति यत्फलमिति योजनया प्राक्कर्मभविकस्येति व्याख्या-
तम्, तदसत्, क्लिष्टं चेत्युपेक्ष्यम् ॥

फलदानोन्मुखस्य वर्तमानस्य का गतिरित्याह—

प्रारब्धेकं न शोधयेत् ॥१४१॥

तस्य भोगेनैवातिवाहनादित्यर्थः ॥१४१॥

मुमुक्षोः कर्मशुद्धिवृत्तान्तमुक्त्वा साधकस्य तमाह—

साधकस्य तु भूत्यर्थं

भूतिप्रयोजनं भाविमन्त्राराधनरूपं यत्तदपि न शोधयेदित्यर्थः ।

केवलम्—

प्राक्कर्मैकं तु शोधयेत् ।

भूत्यर्थाद्यत् प्राग्देहारम्भि शुभाशुभं तत एकमशुभमेवास्य शोधयेत्, एवं हि निर्विघ्नं भोगसिद्धिर्भवति ॥

यत्तु जन्मान्तरसंचितं शुभाशुभं यच्चास्मिन् जन्मनि करिष्यति, तत्सर्वमुक्तनीत्या मन्त्राराधनवर्जमस्य पुत्रकवच्छोध्यमेवेत्याह—

प्राक्कर्मागामि चैकस्थं भावयित्वा च दीक्षयेत् ॥१४२॥

साधकमिति शेषः । एकस्थमिति एकप्रघट्टकतया भावितम् ॥
इत्थं च—

शिवधर्मिण्यसौ दीक्षा

साधके इति शेषः ॥

लोकधर्मिण्यतोऽन्यथा ।

कीदृगित्याह—

प्राक्तनागामिकस्यापि अधर्मक्षयकारिणी ॥१४३॥

लोकधर्मिण्यसौ ज्ञेया मन्त्राराधनवर्जिता ।

'इष्टापूर्तविधौ रतः ।
कर्मकृत् फलमाकाङ्क्षन्' (स्व० ४।८५)

इति लोकधर्मी प्रागेव निर्णीतः । अधर्मक्षयकारिणीति सापेक्षः समासः । मन्त्राराधनेन पिण्डसिद्धिहेतुना मन्त्रत्वादिप्राप्तिहेतुना च सर्वेणैव विवर्जिता विशेषाचोदनात् । श्रीमृगेन्द्रायां च वर्तमानसिद्धिहेतोर्मन्त्राराधनस्य शिवधर्मिण्येव प्रतिपादितत्वात् । तथा च तत्रोक्तम् ।

'शिवधर्मिण्यणोर्मूलं शिवधर्मफलश्रियः ।
हितेतरा विना भङ्गं तनोराविलयाद्ध्रुवाम् ॥'
(क्रि० ८।६)

इति । अस्यायमर्थः—शिवधर्मिणी वा दीक्षा साणोः शिवधर्मफलश्रियो मूलं मन्त्रमन्त्रेशत्वादिप्राप्त्यात्मकपारमेशफलसंपदो हेतुरेका, इतरा तु शिवधर्मिण्येव भुवां भोगभूमीनामाविलयात् प्रलयकालं यावत् तनोः शरीरस्य भङ्गं विना हिता यथाभीष्टखड्गपातारलोचनाञ्जनपादुकादिसिद्धिसंपादिकेति । न चेतरेति लोकधर्मिणी व्याकर्तव्या—

'भोगभूमिषु सर्वासु दुष्कृतांशे हते सति ।
देहान्तराणिमाद्यर्थं शिष्टेष्टा लोकधर्मिणी ॥'
(क्रि० ८।७)

इति तत्रैव पृथक्त्वस्यानिर्णीतत्वात् । न च मन्त्राराधनं विना साधकत्वं न भवतीति भ्रमितव्यम्, इष्टापूर्तफलसाधनेनापि तस्य लाभादित्यलम् ॥१४४॥

एवं लोकधर्मिदीक्षावसात्—

प्रारब्धदेहभेदे तु भुङ्क्ते स ह्यणिमादिकान् ॥१४४॥

भोगान्—

दीक्षावशादस्य शुभकर्माणिमादिपर्यवसायीत्यर्थः ॥

अथ—

भुक्त्वा व्रजेदूर्ध्वं गुरुणा यत्र योजितः ।
सकले निष्कले वापि

'यो यत्राभिलषेद् भोगान् ।'

इत्युक्तनीत्या सकले तत्र तत्र भुवनेश्वरे सायुज्याद्यर्थं शुभकर्मभोगान्ते मुमुक्षुर्वा निष्कले शिवे योजितस्तदेव पदं गच्छेत् । यथोक्तं श्रीमृगेन्द्रायाम् —

'लोकधर्मिणमारोप्य मते भुवनभर्तरि ।
तद्धर्मापादनं कुर्याच्छिवे वा मुक्तिकाङ्क्षिणाम् ॥'
(क्रि० ८।१४८)

इति ॥

एतच्चोर्ध्वव्रजनं योजनं च यथाक्रमम्—

शिष्याचार्यवशाद् भवेत् ॥१४५॥

शिष्यस्य गुरोश्चाभिसंधिवशाज्जायत इत्यर्थः । उक्तं च तत्प्रागेव—

'फलमाकाङ्क्षसे यादृक् तादृग्यजनमारभे ।' (स्व० ४।८१)

इत्यादि ॥

एवं द्विधा भोगदीक्षां निर्णीय मोक्षदीक्षां सबीजां निर्बीजां सद्योनिर्वाणदां च क्रमेण निर्णेतुमाह—

निर्वाणेऽपि सबीजायां कर्माभावाद्विपद्यते ।

निर्वाणनिमित्तं या सबीजा पूर्वं निर्णीता दीक्षा तस्याः

विशेषसमयाचारा मन्त्राख्ये ये प्रकीर्तिताः।
तेऽत्र पाल्यां: प्रयत्नेन ·········।।' (स्व० ४।६०)

इति पूर्वोक्तं यत्कर्म, तस्याभावादननुष्ठानाद्विपद्यते, कंचित्कालं शिवमय्याः स्वसत्तातो भ्रंशित्वा क्रव्यादत्वमेतित्यर्थः ।।१४६।।

यत एवमतः—

समयाचारपाशं हि दीक्षितः पालयेत्तु यः ।।१४६।।
तं पाशं नैव शुध्येत

दीक्षितः समयाचारपाशं पालयेत् यस्मात्तस्मात्तमस्य निर्बीजदीक्षितस्येव न शोधयेत् ।।

दीक्षा चैषा—

सा सबीजा प्रकीर्तिता ।
समयाचारपाशं तु निर्बीजायां विशोधयेत् ।।१४७।।

तच्छुद्धिविधिरग्रे तु भविष्यति ।।१४७।।

अस्य च निर्बीजदीक्षादीक्षितस्य—

दीक्षामात्रेण मुक्तिः स्याद्भक्तिमात्राद्गुरोः सदा ।

गुरुभक्तिमात्रमेवास्य समय इत्यर्थः ।।१४८।।

अस्या भेदान्तरमाह—

सद्योनिर्वाणदा दीक्षा निर्बीजा सा द्वितीयिका ।।१४८।।
अतीतानागतारब्धपाशत्रयवियोजिका ।
दीक्षावसाने शुद्धिः स्याद्देहत्यागे परं पदम् ।।१४६।।

सद्य इति दीप्ततममन्त्रदीक्षावियोजितदेहकलावस्थितिसमनन्तरमेव, अत एवारब्धकार्यस्यापि पाशत्रयस्य वियोजिका, देहत्यागे देहत्यागसमये दीक्षाया यदवसानं निष्पत्तिस्तत्रेत्यर्थः । एवं चारिष्टलक्षणादिभिर्निश्चितासन्नमरणस्यैवेयं कार्येति तात्पर्यम् । यदुक्तं श्रीमन्दुह्वरे—

'दृष्ट्वा शिष्यं जराग्रस्तं व्याधिना परिपीडितम् ।
उत्क्रमय्य ततस्त्वेनं परतत्त्वे नियोजयेत् ।।' इति ।।१४६।।

प्रासङ्गिकं दीक्षाविवेकमुपसंहरति—

एवं भावानुसारेण शिष्याणां गुरुणा सदा ।

फलं तु विविधाकारं निष्पाद्येत सुदीक्षया ॥१५०॥

यस्मात्—

अचिन्त्या मन्त्रशक्तिर्वै परमेशमुखोद्भवा ।

परमेशस्य मुखं पराशक्तिस्तदुद्भवत्वादेवाचिन्त्या । शक्तिशब्देन वीर्यसारतां मन्त्राणामाह ॥१५१॥

सा च—

क्रिया काले प्रयोक्तव्या गुरुणा भक्तिपूर्विका ॥१५१॥

क्रिया दीक्षादिका, भक्तिर्मन्त्रस्वरूपामर्शनक्रमेण तद्वीर्यानुप्रवेशमयी सैव ॥

अचिन्त्येत्यादिनेदमाह—

विषाणामिव पाशानां मन्त्रैः कवलनं ध्रुवम् ।

करोति मन्त्रतत्त्वज्ञः शिवावेशी गुरुः क्षणात् ॥१५२॥

'पाशाश्च पौरुषाः शोध्या दीक्षायां नतु धीगताः ।
तेन तस्यां दोषवत्यामपि दीक्षा न निष्फला ॥
सुतीव्रशक्तिपाताश्च दोषबीजविनाकृताः ।
अपि भान्ति तुलादीक्षाघटशुद्धिवदीक्ष्यते ॥
पापस्य गुरुता नो चेद्घटशुद्धौ ब्रवीषि किम् ।
तन्मन्त्रशक्त्या दीक्षाणां चित्रत्वं नासमञ्जसम् ।
लिप्यक्षरे कृते यद्वताडनादि नृणां भवेत् ।
मन्त्रशक्त्या तथा सूत्रे पाशानां छेदनं स्फुटम् ॥'

इत्यास्तां तावदेतदग्रे वितत्य निर्णेष्यामः ॥१५२॥

अथ प्रासङ्गिकं प्रमेयं निर्णीय प्रकृतमनुबध्नन्नाह—

कलासंधानकं कुर्याच्छुद्धाशुद्धद्विरूपगम् ।

शुद्धनिवृत्तिकलासंधानकं कुर्याच्छुद्धमशुद्धप्रतिष्ठाकलायोगाच्चाशुद्धमत एव द्विरूपगम् ॥१५३॥

अत्र च—

शुद्धमुच्चारयेद्ध्रस्वमशुद्धं दीर्घमेव च ॥१५३॥

एकत्वं भावयित्वा तु लीनं शुद्धं विभावयेत् ।

इह भगवान् निष्कलभट्टारको निःशेषपाशशोधकोऽङ्गब्रह्ममन्त्रैकादशिका तु शोध्या, तथापि च शुद्धाशुद्धकलावाचित्वान्निष्कलनाथः शुद्धतयाशुद्धतयापि च व्यवह्रियते, तं च शुद्धनिवृत्तिवाचित्वाच्छुद्धम्, ह्रस्वमिति प्रशान्ताशेषप्रसरं परबिन्दुव्याप्तिसतत्त्वमुच्चारयेत्, अशुद्धप्रतिष्ठावाचकत्वाच्चाशुद्धम् दीर्घमिति प्रसरोन्मुखं नादव्याप्तिसतत्त्वम्, एकत्वं सामरस्यं भावयित्वोच्चारयेत् । अत्र च शुद्धं लीनमिति प्रतिष्ठां बोधयितुं तद्वाचिमूलमन्त्रेण सहैकीभूतं विभावयेत् ॥१५४॥

अथ प्रतिष्ठाकलाशुद्धिः

न चात्र ह्रस्वदीर्घमात्रमुच्चार्यमपि तु—

प्रणवादिनिवृत्तिस्तु प्रतिष्ठा तदनन्तरम् ॥१५४॥

नमस्कारस्तदन्ते तु कलासंधानकं स्मृतम् ।

प्रणवं ह्रस्वं निष्कलं निवृत्तिवाचिनं हृन्मन्त्रं चोच्चार्य तदन्ते निवृत्तये इति पदं ततोऽपि प्रणवं दीर्घं निष्कलं प्रतिष्ठावाचिनं च शिरोमन्त्रमुच्चार्य । 'प्रतिष्ठायै नम' इत्यत्र प्रयोगः । होमे तु स्वाहान्तः ॥१५५॥

इत्थं च—

आवाह्य स्थाप्य संपूज्याहुतीस्तिस्रः प्रपातयेत् ॥१५५॥

कलासंधानमेतद्धि

कलानां पृथ्व्यादिधारणाध्यानं कार्यमिति केचिद्वदन्ति ।

अथ—

व्याप्तिं तस्यावलोकयेत् ।

तस्याः प्रतिष्ठायाः ॥

तत्र—

गुल्फादारभ्य नाभ्यन्तं शिष्यदेहेऽध्वकल्पनम् ॥१५६॥

प्रतिष्ठाया भवेद्व्याप्तिश्चतुर्विंशतितत्त्विका ।

षट्पञ्चाशद्भुवनिका त्रयोविंशतिवर्णिका ॥१५७॥

ज्ञेयैकविंशतिपदा त्रिमन्त्रा च विधीयते ।

अबादीनि गुणतत्त्वेन सह प्रधानान्तानि चतुर्विंशतिस्तत्त्वानि यस्याम्, तथा गुह्यातिगुह्यपवित्रस्थाणुस्थूलदेवयोनियोगाख्यानि सप्ताष्टकरूपाणि

भुवनाध्वनि वक्ष्यमाणानि षट्पञ्चाशद्भुवनेश्वराधिष्ठितानि, तावन्त्येवान्तर्भूतभुवनान्तराणि प्रधानानि भुवनानि यस्याम्, हकारात् टकारान्तानि त्रयोविंशतिवर्णानि यस्याम् । एकविंशतीति पूर्वं कलातत्त्वास्पदवारुणदिग्गतपदनवकादीशकोणस्थ ऊकारो यावदुपयुक्तः, इति प्रातिलोम्येन तदन्तरस्थाद्यकारादारभ्य लकारान्तमष्टकम्, तथा मायातत्त्वाश्रयनैर्ऋतदिक्स्थकोष्ठनवकगतमूकारादिमकारान्तं नवकम्, विद्यातत्त्वाधिष्ठितदक्षदिग्गतकोष्ठनवकमध्याद्कारादिलकारान्तं चतुष्टयं चेत्येकविंशतिपदानि यस्याम् तत्रो वामदेवः, शिरः, शिखा च मन्त्रा यस्याम्, न तु हृदयं हृन्मन्त्रस्य निवृत्त्यन्तर्भावात् ॥१५८॥

इत्थं च षडध्वात्मानः—

मुख्या ह्येते स्मृताः पाशाः

मुख्यत्वमेषां सर्वाणुसाधारण्यात्, पदवर्णमन्त्रा अपि—

'शब्दराशिसमुत्थस्य (स्प० ४।१५)

इति युक्त्या वाचकरूपतामश्नुवानाः पाशा एव अत एव निरुपाधिचिदानन्दघनस्वरूपामर्शपरमार्थमूलमन्त्रातिरिक्तं सर्वमत्र शोध्यमेव । यदुक्तमस्मद्गुरुभिः श्रीतन्त्रालोके—

'यत्किंचित्परमाद्वैतसंवित्स्वातन्त्र्यसुन्दरात् ।
पराच्छिवादुक्तरूपादन्यत्तत्पाश उच्यते ॥ (८।२९२)

इति ॥

अत्रैव च—

सूक्ष्मानन्तर्विभावयेत् ॥१५८॥

तान् स्फुटयति—

अन्यत्तन्त्रप्रसिद्धं तु तन्मात्रेन्द्रियशोधनम् ।

अत्रान्तर्भाव्यमित्यर्थः । अन्यत्तन्त्रं लाकुलादि । यद्यपि च त्रयोविंशतितात्त्विकेत्युक्त्वा तन्मात्रादीन्यन्तर्भावितानि, तथापि तानि बाह्यभौवनसंनिवेशव्यापकान्यन्यान्येव, एतानि तु स्थूलसूक्ष्मशरीरसंनिविष्टान्यपराण्येव, इति न भ्रमितव्यम् ॥१५९॥

किं च—

षट्कोशान् विषयान् पञ्च तदन्तर्भा येत् सदा ॥१५९॥

असृङ्मासलोममज्जास्थिस्नाय्वाख्याः षट्कोशाः सूक्ष्मदेहोपरि कोशाकारतया स्थिताः। सदेति दीक्षाकाले। एवं च वर्तमानेऽपि देहशोधनं चोदितमेवेति तत्र कर्तव्यं यैरुक्तं ते भ्रान्ता एव ॥

अत एवोक्ताध्वव्याप्तिविमर्शरूपम्—

विशेषस्थापनं कृत्वा पूज्या गन्धादिभिस्ततः।

तथा—

भैरवेणाहुतीस्तिस्रः

दद्यादिति शेषः। भैरवेणेति काकाक्षिवत्, तेन प्रणवनिष्कलप्रतिष्ठाबीजान्युच्चार्य 'प्रतिष्ठायै नमः' इति मन्त्रेण पूजा, स्वाहान्तेन होमः। एवमुत्तरत्रापि ॥

अथ—

तस्या वागीशिकल्पना ॥१६०॥

सा हि विप्रुषि सर्वमन्तःकर्तुं क्षमा। अत्र चादौ शक्तिं न्यसेदित्यादि पर्वोक्तं स्मर्तव्यम् ॥

किं च—

स्वनामावाहनाद्यस्य अर्घहोमादि पूर्ववत्।
प्रोक्षणं ताडनं छेद आकर्षग्रहणे तथा ॥१६१॥
धाम्नापूर्य कुम्भयित्वा छित्त्वाथ ग्राहयेत् पुनः।
योजनं गर्भधारित्वं जननं पूर्ववत् क्रमात् ॥१६२॥

पूर्ववदित्यतिदेशेन निवृत्त्युक्तं सर्वं विधिक्रममनुस्मरेदिति शिक्षयति ॥१६२॥

अथ प्रसङ्गात् सर्वदीक्षासु वक्तव्यशेषं पूरयति—

ऐश्वरीं मूर्तिमास्थाय ताडनादीनि कारयेत्।

ताडनप्रोक्षणादीनि क्रियाशक्त्यावेशे कार्याणि, इति क्रियाशक्तिप्रधानेश्वराहंभावेनैव युक्तानि ॥

किं च—

अधिकारस्तथा भोगो लयो निष्कृतिरेव च ॥१६३॥

शिवरूपेण कर्तव्याः

अधिकारादिज्ञानं प्रभुत्वसंपाद्यम्, प्रभुश्च सदाशिवादौ विश्वत्र शिव एवेति शिवाहंभावेनैव तदुचितम्, निवृतौ निष्कृतिविश्लेषहोमौ मूलनैवोक्तौ ॥

इह तयोर्विशेषमाह—

निष्कृतिः शिरसा पुनः ।

विश्लेषश्च हृदा होम्यः

पुनःशब्दो विशेषाय सर्वत्रैव ।

पाशच्छेदस्तथासिना ॥१६४ ॥

तथाशब्दान्मूलेनापि । यथोक्तं प्राक्—

'आहुतित्रितयं धाम्ना पाशच्छेदेऽपि (स्व० ४।१२६)

इति पुर्यष्टकच्छेदनताडनादीन्यपि असिनैवेत्यपि तथाशब्दार्थः, आकर्षणग्रहणाद्यास्तु धाम्नैवेत्युक्तम् ॥१६४॥

किं च—

पूर्णाहुतिसमुद्धारं पूर्ववद्भैरवेण तु ।

निष्कलेनेत्यर्थः ॥

ज्ञानशक्तिप्रधानः श्रीसदाशिव इति—

सदाशिवतनौ स्थित्वा विश्लेषादीनि कारयेत् ॥१६५ ॥

विश्लेषादीना भेदोपशान्तिपरत्वात्तत्प्रधाना सदाशिवस्य व्याप्तिर्ग्राह्या आदिशब्दादेकचैतन्यभावितोद्धारादयः ॥१६५॥

एवं प्रसङ्गाद्विधिं पूरयित्वा प्रकृतमाह—

आत्मस्थं पूरकेणैव हृत्स्थं रेचकवृत्तितः ।

सर्वमेतत् पूर्वमेव निर्णीतम् ।

अथ प्रतिष्ठाधिपतिम्—

स्वनाम्नोच्चारयेद्विष्णुं ध्यात्वावाह्य तु स्थापयेत् ॥१६६ ॥

पूजयेत् पुष्पगन्धाद्यैः

अस्मै च –

तर्पणायाहुतित्रयम् ।

दद्यात् ॥

किं च—

रसं पुर्यष्टकांशं तु अर्पयेद्विष्णवे सदा ॥१६७॥

दीक्षास्विती शेषः ॥१६७॥

पूर्ववत् कृतश्रावणम्—

विसर्जयेत्ततो विष्णुं वागीशीं च विसर्जयेत् ।

अथ—

कलासंधिर्यथापूर्वं ह्रस्वदीर्घप्रयोगतः ॥१६८॥
अभावं भावयेत्तस्मिन् पाशजाले त्वनन्तके ।

अथ—

कलाद्वयविनिर्मुक्तः पशुरूर्ध्वगमोत्सुकः ॥१६९॥
तस्येदानीं तृतीयस्यां विद्यायां योज्य शोधयेत् ।

चैतन्यमित्यर्थात् ॥१६९॥

तां च विद्याम्—

स्थापयित्वाथ संपूज्य जुहुयादाहुतित्रयम् ॥१७०॥
एवं तु संमुखोकृत्य प्रागिवाध्वावलोकनम् ।

कार्यमित्यर्थः ॥१७०॥

तदेवाह—

पुंस्तत्त्वाद्यावन्मायान्तं विद्याया व्याप्तिरिष्यते ॥१७१॥

एवं च—

सप्त तत्वानि

पुरुषनियतिकालरागविद्याकलामायाख्यानि, पुरुषस्यैतत्तत्त्वषट्कमेतत्कञ्चुकरूपमन्तरङ्गं वेदनहेतुतया स्थितत्वाद्विद्याख्यया कलया व्याप्तम्,

प्रतितिष्ठते भोगहेतुतत्त्वजालं यत्रेति निरुक्त्या प्रतिष्ठा, निवर्तते तत्त्वसृष्टिर्यत इति निवृत्तिः, अशेषभेदोपशमाच्छान्ता, तामप्यतीता तत्संस्कारेणापि शून्या शान्त्यतीतेत्यनुसंधेयम् ॥

तथा—

भुवनसप्तविंशतिरेव च ।

यद्यपि पुमान्नियतिरित्यादिस्तत्त्वक्रमस्तथापि पुंसो लोलिकामयस्य सामान्याभिष्वङ्गात्मना रागेणाव्यभिचारः, किंचिद्वेदनात्मनो विद्याया नियमनात्मना नियत्या, कर्तृत्वोद्बलनात्मनश्च कलायाः कालेनेति तत्त्वपददीक्षयोः संपुटयोगस्य वक्ष्यमाणत्वात्तदनुसारेणैव भुवनेशस्थितिस्तत्र पुरुषरागतत्त्वयोर्विद्येशाष्टकं प्रधानमिति तदधिष्ठितान्यष्टौ भुवनानि, नियतिविद्ययोस्तु वामादिमनोन्मनान्तभुवनेशनवकाधिष्ठितानि नव, कालकलायोर्महादेवादित्रयाधिष्ठितं त्रयम्। एवम् २०। एतत्तत्त्वकारणभूतायां मायायामधोभागे गोपतिरूर्ध्वे विश्वे मध्ये त्रिकालक्षेमेशब्रह्माधिपतिशिवाश्चत्वारः, एतदधिष्ठाता चानन्तः, इति सप्तेति भुवनसप्तविंशतिः ॥

तथा—

पदविंशतिराख्याता

दक्षदिग्गतपदनवकाल्लकारान्तं चतुष्टयं पूर्वत्रान्तर्भूतमित्यवशिष्टं प्राग्वन्मादिक्षान्तं पञ्चकम्, तथेशतत्त्वाधिष्ठिताग्नेयकोष्ठनवकादूकारादिरेफान्तं नवकम्, सदाशिवतत्त्वाधिष्ठितपूर्वदिग्गतान्नवकादूकारादिक्षकारान्तं षट्कमिति पदविंशतिः ॥

किं च—

वर्णाः सप्त प्रकीर्तिताः ॥१७२॥

ञाद्याः घान्ता ॥१७२॥

तथा—

मन्त्रौ द्वौ

अघोरः कवचम् ॥

इत्यमत्र—

षड्विधाध्वानं ज्ञात्वा वागीशिकल्पनम् ।

अत्र पूर्वोक्तं स्मारयति—

प्रणवेन समावाह्य व्यापिनीं सर्वयोनिषु ॥१७३।
समक लमृतुत्वेन ध्यात्वा संपूज्य तर्पयेत् ।

किं च—

ततः शिवाम्भसा शिष्यं प्रोक्ष्य चास्त्रेण ताडयेत् ।
तेनैव चास्त्रभूतेन हुंफट्कारयुतेन तु ।
आत्मनो रेचकेनैव

गत्वेति शेषः ।

शिष्यदेहे विशेद्धृदि ॥१७५॥

अथास्य पुर्यष्तकरूपम्—

अस्त्रमन्त्रेण संछद्य विशेषा (श्लेष्या)स्त्रेण कर्षयेत् ।
द्वादशान्तात्तु संगृह्य आत्मस्थं पूर्ववत् कुरु ॥१७६॥
पूरकेणाथ संकुम्भ्य रेचयित्वा तु योजयेत् ।
पूर्ववद्व्यापकं न्यस्य चैतन्यं सर्वयोनिषु ॥१७७॥
योगाद्यं लयपर्यन्तं धाम्ना चैवात्र पूर्ववत् ।

कुर्यादित्यर्थः ॥१७७॥

विशेषस्त्वत्रायम्—

शिखया शतहोमात्तु विद्याया निष्कृतिर्भवेत् ॥१७८॥

अथास्य विश्लेषपाशच्छेदाभ्यामनन्तरं परेणात्मस्थतत्स्थत्वे कुर्यात् ॥१७८॥

अथ पुर्यष्टकांशार्पणाय—

प्रणवादि ततो रुद्रमावाह्य स्थाप्य पूजयेत् ।
ततोऽस्य विन्यसेद्देवि गन्धरूपे ध्रुवाहुती ॥१७९॥

एवम्—

पुर्यष्टकांशं विन्यस्य विसर्ज्य रुद्रदेवताम् ।

वागीशीं च विसर्ज्यैवं कलासंधिश्च पूर्ववत् ॥१८०॥

कार्यः ॥

कथम्—

ह्रस्वदीर्घविभागेन विद्यां शान्तौ नियोजयेत् ।

संधानार्थं तु मूलेन जुहुयादाहुतित्रयम् ॥१८१॥

संधेरनन्तरमध्वोपस्थापनाय—

स्वनाम्नावाहनं शान्तेर्विधिपूर्वं निवेदनम् ।

प्रमेयभावनां कृत्वा

तां च—

पूजयेत् कुसुमादिभिः ॥१८२॥

त्रिराहुतिं तु मूलेन

दद्यात् ॥१८२॥

अस्या अध्वान्तरव्याप्तिमाह—

विद्यातत्त्वात् सदाशिवम् ।

तत्त्वानां त्रितये व्याप्तिर्वर्णानां त्रय एव च ॥१८३॥

क-ख-ग इत्यत्र च ॥१८३॥

पदैकादशिका ज्ञेया

पूर्वदिग्गतान्नवकात् क्षान्तस्य षट्कस्य विद्यायामन्तर्भावाद्रेफप्रणवहकारात्मकं त्रयं मध्यमाच्च नवकादूकारादिहान्तमष्टकमिति पदैकादशिका ॥

पुराणि दश सप्त च ।

तत्र विद्यायां त्रिगुण्यादीनां विद्याराज्ञीनामेकमीश्वरतत्त्वे त्वैश्वरं भुवनमनन्तादिशिखण्ड्यन्तविद्येश्वरभुवनान्यष्टौ, धर्मादीनां भुवनानि चत्वारि, वामादिशक्तित्रयभुवनमेकम्, ज्ञानक्रियाभुवनमेकम् तस्मिन्नेव च भुवने विद्याद्वयादेः प्रभवद्वादशकपर्यन्तस्यैकोनषष्टेर्भुवनानामवान्तरो विभागः । वक्ष्यति च—

'एकोनषष्टिर्भुवनं ज्ञानशक्त्यादितिः क्रमात् ।'

(स्व० १०॥११८५)

इत्येवमीश्वरतत्त्वे पञ्चदश भुवनानि । यद्वक्ष्यति—
'दश पञ्च च शोध्यानि भुवनान्यैश्वरे पदे ।'
(स्व० १०।११७१)

इति । सदाशिवतत्त्वे सादाशिवमेकं भुवनं स्वमिव ब्रह्माङ्गसकलाद्यष्टकशिवरूद्रभेदावरणगतानन्तभुवनव्यापकमिति सप्तदश भुवनानि ॥

तथात्र—

मन्त्रौ द्वौ

तत्पुरुषास्त्ररूपौ ॥

तदत्र—

षड्विधोऽध्वैवं मुख्याः पाशा इमे स्मृताः ॥१८४॥

पूर्ववच्च—

सूक्ष्मपाशाननेकांश्च तदन्तर्भावयेत् सदा ।

अथ—

वागीशीं कल्पयेत्तत्र पूर्वेण विधिनाहुतिः ॥१८५॥
पूजनं मूलमन्त्रेण ततः प्रोक्षणताडनम् ।
छेदाकर्षग्रहं चैव योगधारित्वजन्म च ॥१८६॥
अधिकारस्तथा भोगो लयो वै पूर्ववद्भवेत् ।
सर्वे ते मूलमन्त्रेण आहुतित्रितयेन तु ॥१८७॥

योगो गर्भेषु चैतन्यस्य, धारित्वं युगपद्गर्भवर्धनम् । यदुक्तम्—
'सर्वयोनिषु गर्भास्ते युगपद्वृद्धिमागताः ।' (स्व० ४।११८)
इति । सर्वे इति गर्भाधानाद्याः संस्काराः ॥१८७॥

किं च—

निष्कृतौ शतहोमं तु कवचेन तु कारयेत् ।

तुशब्दः पूर्वस्माद्विशेषाय ॥

विश्लेषं पाशच्छेदं तु कुर्यादस्त्रेण दैशिकः ॥१८८॥
उद्धारकरणात्मस्थतत्स्थीकारान् भवेन तु ।

अथ—

स्वनाम्ना प्रणवाद्येन ईशमावाह्य पूजयेत् ॥१८६॥

संपूज्य हुत्वा संतर्प्य बुद्ध्यहंकृतिद्वयंशकम् ।

अत्र प्रयोगः—

स्वनाम्ना प्रणवाद्यं तु स्वाहान्ते बुद्धिमर्पयेत् ॥१६०॥

अहंकारं तथाप्येवं हुत्वेदं क्षमयेत्ततः ।

वागीशीं पूजयित्वा तु तर्पयित्वा विसर्जयेत् ॥१६१॥

यदत्रानुक्तं तत्पूर्वतो योज्यम् ॥१६१॥

अथ—

कलासंधानकं पूर्वं शान्त्यतीते तु योजयेत् ।

ह्रस्वदीर्घविभागेन

प्राग्वच्छान्ताशान्त्यतीते अनुसंदधीतेत्यर्थः ॥

तदर्थं च—

जुहुयादाहुतित्रयम् ॥१६२॥

अथ—

ध्रुवेण तत्त्वसंधानं कर्तव्यं विधिवेदिना ।

पूर्ववत् प्रणवधामशान्त्यतीताबीजोच्चारपूर्वं 'शान्त्यतीतायै नमः' इति प्रयोगः स्मर्तव्यः । तत्त्वमत्र प्रकृता शान्त्यतीता, विधिवेदिना व्याप्तिज्ञेन ॥

किं च—

कलोपस्थापनं पश्चाद्ध्रुवेण जुहुयात् प्रिये ॥१६३॥

त्रिराहुतिप्रयोगेण स्वनामपदमुच्चरन् ।

शान्त्यतीतां समावाह्य स्थापयेत् पूजयेत् पुनः ॥१६४॥

व्याप्तिमालोक्य चाध्वस्थां

तामेव स्पष्टयति—

शिवतत्त्वगताश्च ये ।

पदार्थास्तेऽनुसंधेया अत्रेत्यर्थः ।

तानाह—

बिन्दुर्नादस्तथा शक्तिः शिवतत्त्वे व्यवस्थिताः ॥१९५॥

शिवतत्त्वं समनाव्याप्त्यन्तमिहेति तच्छोध्यमेव । बिन्दुनादशक्तयोऽत्र गर्भीकृतवक्ष्यमाणषोडशभुवना मुख्यान्यावरणानि ॥१९५॥

किं च—

पदमेकं मन्त्र एको वर्णाः षोडश कीर्तिताः ।
भुवनानि तु सूक्ष्माणि शान्त्यतोते तु भावयेत् ॥१९६॥

पदं मध्यकोष्ठनवकमध्यगत ओंकारः, मन्त्र ईशानभट्टारको धामत्रयमयनेत्रमन्त्राभिन्नमूर्तिः, वर्णा विसर्गाद्या अकारान्ताः षोडश, भुवनानि भूमिकात्मकप्रमेयमात्ररूपत्वात् सूक्ष्माणि न तु संनिवेशवन्ति, तानि च षोडश । तद्यथा—बिन्द्वावरणे निवृत्त्यादिकलाचतुष्कपरिवृतं शान्त्यतीताभुवनमेकम्, ततोऽर्धचन्द्रनिरोधिकाभुवने द्वे निजनिजकलापञ्चकपरिष्कृते, नादावरणे पुनरिन्धिकादिशक्तोनां स्वशक्तिमदधिष्ठितानां पञ्च भुवनानि, नादान्ते सुषुम्णेशपरब्रह्माधिष्ठितमेकं भुवनम्, शक्त्यावरणे तु सूक्ष्मादिशक्तिचतुष्कपरिष्कृतं पराशक्तिभुवनमेकम्, ततोऽपि व्यापिनीभूमौ व्याप्यव्योमरूपानाथानन्तानाश्रितानां पञ्च भुवनानि, ततोऽपि समनायां महामायारूपायां तच्छक्तिमारूढः पञ्चविधकृत्यकारी शिव इति ।

नन्विह मन्त्राणां शोधकानामपि कथं शोध्यत्वमुक्तम्, तथात्वे वा कस्य तच्छोधकत्वं मूलमन्त्रस्यापि च मन्त्रत्वाच्छोध्यत्वप्रसङ्गः. निवृत्त्यादिवच्च शान्त्यतीतायामप्यङ्गमन्त्र किं नोक्तः । निवृत्तिशान्त्यतीतयोर्मूलेन निष्कृतिहोमः प्रतिष्ठाविद्याशान्तानां शिरःशिखाकवचैर्निवृत्तौ विश्लेषो मूलेनान्यत्र हृदयेनापरत्रास्त्रेणेति कोऽयं क्रमः । अत्रोच्यते—इह मन्त्राः शिवावेशशालिनो वीर्यविदो गुरोर्निजशक्तिसारतया स्फुरन्तः शोधकाः पशूनां तु गूहितस्ववीर्याः स्वस्वरूपावरणतया तिष्ठन्तः शोध्या एव, ते चाङ्गवक्त्रभेदादेकादश, मूलमन्त्रस्तु—

'स्वयमुच्चरते देवः' (स्व० ७।५९)

इति वक्ष्यमाणास्थित्या नादामर्शपरमार्थतया सर्वस्य स्फुरतीति नास्य शोध्यत्वम्. केवलमकारादिसमनान्तप्रमेयैकादशकमत्र सूक्ष्मरूपतया गर्भीकृतमन्त्रैकादशिकास्फारमित्यारुरुक्ष्वाशयेन विश्लेषणक्रमयुक्त्यांशांशिकाभिप्रायात् ।

'अक्षरेषु कुतो मोक्ष आकाशे कुसुमं कुतः ।' (स्व० ७।२३८)

इति मूलमन्त्रविषयमुक्तम् । तत्तद्वाच्यभागाभिप्रायेण च—

'समनान्तं वरारोहे पाशजालमनन्तकम्।' (स्व० ४।४३२)

इत्युक्तम् वस्तुतस्त्वशेषविश्वाभेदमयो नित्योदितानुच्चार्यमहाविमर्शरूप एवायं निष्कलनाथस्तदभिन्नमूर्त्तिः सकलोऽपि वेति नास्य कदाचिदपि शोध्यत्वं शङ्कितव्यम् । शान्त्यतीतायां च नामानुरूपत्वादेव न पृथगङ्गमन्त्रः संभवति । धामत्रयात्मनेत्रमन्त्रस्तु ईशानमन्त्रभिन्नमूर्तिरवश्यमनुप्रविष्टोऽन्यथा मन्त्रैकादशिका न शोधिता स्यात्,

'मन्त्रा एकादश ज्ञेयाः (स्व० ४।२००)

इति च भाविवाक्यमसंगतं स्यादत एवास्त्रमन्त्रस्ताडनादावेवोपयुङ्क्ते । नेत्रमन्त्रस्तु मूलमन्त्रादभिन्न इति न तौ कलान्तःशोध्यौ, इत्येकीयमतमसत् । यस्तु निष्कृत्यादिहोमेषु मन्त्रनियम उक्तस्तत्रेश्वराज्ञैव नियन्त्रिकेति सर्वमनवद्यम् ॥१९६॥

त एते सर्व एव पाशाः—

शोधनीया वरारोहे

वर उत्कृष्ट ऊर्ध्वद्वादशान्तविश्रान्तिरूप आरोह उल्लासो यस्याः शक्तेः ॥

तावच्चैते शोध्याः—

यावत्ते शिवरश्मयः ।

निरवशेषभेदोपशान्त्या शिवस्य रश्मिरूपा अभिन्नप्रभामात्रात्मानः संपद्यन्ते इत्यर्थः ॥

अत एव—

शिवस्योर्ध्वे शिवो ज्ञेयो यत्र युक्तो न जायते ॥१९७॥

उत्तीर्णशिवतत्त्वोपरि विश्वोत्तीर्णविश्वमयचिदानन्दघनस्वच्छन्दभट्टारको यत्र वक्ष्यमाणयोजनिकाक्रमेण युक्तो न जायते, मुच्यते इत्यर्थः ॥१९७॥

अत एवास्य यावान् कलापञ्चकान्तः प्रपञ्चितः, स सर्व एव—

षडध्वा चैकतो ज्ञेयः

एकस्मिन परमशिवात्मन्यभेदेनावस्थितस्तत्सामरस्यमापन्नो ज्ञातव्यो गुरुणा साकल्येन संकलिपतः ॥

किया‌नसावध्वा यो दीक्ष्यस्य शिवैकात्म्यं प्राप्त इति दर्शयितुमाह—

तस्य संख्यां पुनः शृणु ।

कलाश्च पञ्च विज्ञेयास्तत्त्वषट्त्रिंशदेव तु ॥१९८॥

सचतुर्विंशति ज्ञेयं भुवनानां शतद्वयम् ।

एकाशीतिपदान्यत्र वर्णार्धशतिका स्मृता ॥१९९॥

मन्त्रा एकादश ज्ञेया इत्येतच्चाध्वमण्डलम् ।

एतस्मिन् शुद्धिमापन्ने मुक्तिमाप्नोति दीक्षितः ॥२००॥

शुद्धिरस्य परमशिवाभिव्यक्तिरित्युक्तम् ॥२००॥

एवं प्रासङ्गिकमध्वशुद्धिग्रन्थमभिधाय प्रकृतमाह —

ध्रुवेणावाह्य वागीशीं विन्यसेत्

तदर्थम्—

पूर्ववद्धुतिः ।

संपूज्य कुसुमाद्यैस्तु तद्योनौ पूर्ववत् पशुम् ॥२०१॥

योजयेदिति शेषः ॥२०१॥

किं च—

ध्रुवेण सर्वं कर्तव्यं जननादिलयान्तकम् ।

निष्कृतौ शतहोमं तु मूलमन्त्रेण कल्पयेत् ॥२०२॥

विश्लेषपाशच्छेदाभ्यां प्राग्वत् कुर्याद् ध्रुवेण तु ।

छेदाभ्यामिति तादर्थ्ये । तेन विश्लेषाद्यर्थं प्राग्वत् कुर्यात्, हुत्यादिकर्मेत्यर्थः ॥२०२॥

किं च—

ग्रहेणात्मस्थतत्स्थत्वं प्रणवेन पशोः स्मृतम् ॥२०३॥

प्रणवो निष्कलनाथः ॥२०३॥

सदाशिवमथावाह्य मूलमन्त्रं समुच्चरन् ।

नमस्कारेण संस्थाप्य पुष्पैः संपूज्य तर्पयेत् ॥२०४॥

मनः पुर्यष्टकांशं तु विन्यसेत् कारणेश्वरे ।

कथमित्याह—

प्रणवादि समुच्चार्य मनःसंज्ञां नमस्तथा ॥२०५॥

विन्यस्य पूजयेत् पश्चात् संज्ञास्वाहान्तमेव च ।

प्रणवधामभ्यामनन्तरं 'मनो देवदत्तस्यार्पयामि नमः' इति मन्त्रप्रयोगः, होमे तु स्वाहेत्यन्तः । संज्ञास्वाहान्तमिति क्रियाविशेषणम् ॥२०५॥

अत्र च—

आहुतित्रितयं हुत्वा पुर्यष्टांशाद्विशुद्धचति ॥२०६॥

ततो विसर्जयेद् देवं कारणं च सदाशिवम् ।

पुष्पादिभिः समभ्यर्च्य वागीशीं तदनन्तरम् ॥२०७॥

ता तु संपूज्य संतर्प्य विज्ञाप्या भक्तिभाविता ।

क्षमस्व देवदेवेशि पशवर्थं खेदिता मया ॥२०८॥

इदानीं नोपरोद्धव्यं गच्छ देवि स्वविष्टपम् ।

सर्वदीक्षान्त इयं विज्ञप्तिः कार्येति विशेषद्योतनाय तुशब्दः, खेदनं भूयोभूयः परस्वरूपादगर्भाधानाद्यर्थमवतारणम्, नोपरोद्धव्यमिति अस्य दीक्षितस्येदानीं त्वया नोपरोधेन स्वरूपावरणं कार्यमिति यावत् । अत एव स्वविष्टपं दीक्षितस्य परमशिवात्मस्वात्मस्वरूपमधिकरणं गच्छ तन्मयतयास्य सदा स्फुरेत्यर्थः । अत एव श्रीस्पन्देऽभिहितम्—

'स्वमार्गस्था ज्ञाता सिद्ध्युपपादिका' (स्प० ४।१८)

इति । यदुक्तं ब्रह्मणि शब्दस्पर्शौ, विष्णौ रसः, रुद्रे रूपगन्धौ, ईश्वरे बुद्ध्यहंकारौ, सदाशिवे मनः पुर्यष्टकांशमर्पयेत् । तत्रायमभिप्रायः—इह ब्रह्मा परमया व्याप्त्या नादान्तोपरि ब्रह्मबिलाधिष्ठातृब्रह्मरूपः, विष्णुरपि तदुपरि प्रसरद्रूपशक्तिप्रधानशक्त्यात्मा, रुद्रोऽपि व्यापिनीपदावस्थितानाश्रितनाथरूपः ईश्वरोऽपि समनापदाधिरूढः सृष्टयधिकारी शिवः सदाशिवस्तु स्वच्छस्वच्छन्दचिदानन्दघनः परमशिवः, इत्येकादशपटलोक्तव्यवस्थया परस्य ब्रह्मणो नादान्तशक्त्योर्मध्यवर्तित्वात् सूक्ष्मतमाभ्यां शब्दस्पर्शाभ्यां योगः । एवं मूलभूमौ स्पर्शप्रधानापि प्रसरद्रूपतया रसमयी शक्तिरिति तन्मयस्य विष्णोः सूक्ष्मतमरससंबन्धः, ततोऽपि रुद्रस्य व्यापिन्यामनाश्रितपदे विश्वस्यासूत्रणादमात्रात्मनः प्राक्सृष्टोपसंहृतजगद्गतसुसूक्ष्मतमसंस्कारमात्रात्मना तनीयस्तमेन गन्धेन चास्ति संबन्धः । समनाधिष्ठातरि तु शिवे मननमात्रसारे विगल-

द्बुद्ध्यहंकारवासनासङ्गः, परमशिवेऽपि उन्मनाशक्तिसमाश्लिष्टे मननसंस्कारस्यापि गलनमित्यतिसुसूक्ष्मतमस्वप्रशान्तमनःसंस्कारसंबन्धोऽस्ति, इत्याशयेन निरवशेषसंस्कारपर्यन्तपुर्यष्टकप्रशान्त्यर्थमेव पुर्यष्टकांशार्पणम् । अन्ये तु—

'श्रुतित्वग्विप्लुतिर्ब्राह्मी ब्रह्मक्रव्यादयोनिदा ।
रासनी वैष्णवो रौद्री घ्राणलोचनहेतुका ॥
ऐश्वरी गर्वधीरूपा मानसी शिवदेवता ।'

(कि० ८।१४०।१४१)

इति निर्बीजदीक्षाविषयश्रीमृगेन्द्रवाक्यटीकायामुक्तेन्द्रियविप्लुत्यात्मसमयोल्लङ्घनसंभाव्यमानतत्तत्क्रव्यादत्वप्रशमनाय पाशशोधनपरेऽपि वाक्ये निर्बीजदीक्षायां पुर्यष्टकात् शब्दस्पर्शार्पणं ब्रह्मणि कार्यमित्यादि यद्भट्टनारायणकण्ठेनोक्तं तदेवात्र योजयांचक्रुः । तत्र सबीजनिर्बीजादिसर्वदीक्षासु पुर्यष्टकांशार्पणमाम्नातम्, अतो मृगेन्द्रायां समयपाशशोधनपरेऽपि वाक्ये निर्बीजदीक्षाविषयमेव पुर्यष्टकांशार्पणं तदभिप्रायवर्णनं च तेनाकारि, तद्युक्तमयुक्तं वेति सचेतसः प्रमाणमित्यलम् ॥२०८॥

अथ वागीशीम्—

विसर्ज्यैवं कला भाव्या शान्त्यतीता लयं गता ॥२०९॥
स्वशक्त्याधारपर्यन्ते सुसूक्ष्माभावसंस्थिते ।

स्वा स्वातन्त्र्यात्मा शक्तिराधारः समवायिनी यस्य, स एवाशेषस्य समनाप्रतिष्ठास्थानत्वात् पर्यन्तः, अत एव सुष्ठु सूक्ष्मस्याभावस्य समनात्मनो व्यापिन्यादिक्षित्यन्तनिःशेषभावाभावभित्तिभूतस्य महाशून्यस्य संस्थितं संस्थानं यत्र ॥२०९॥

अथ कायवाङ्मनःकर्मान्यथाभावे जाते सति—

आत्मतत्त्वविभागेन धाम्ना वै जुहुयाच्छतम् ॥२१०॥

आत्मशब्दो विद्याशिवावुपलक्षयति, तेनात्मविद्याशिवतत्त्वविभागेनेत्यत्रार्थः ॥२१०॥

तथा—

सशब्दोच्चारयोगेन आत्मतत्त्वे तु होमयेत् ।

प्रणवनिष्कलोच्चारपूर्वं दीक्ष्यस्यात्मतत्त्वव्याप्तमायान्ताध्वशुद्धौ विधिन्यूनातिरिक्तदोषशुद्धिरस्तु स्वाहेत्यत्र प्रयोगः ॥

एतच्चात्मतत्त्वम्—

मायातत्त्वावधि ज्ञेयं दैशिकेन महाध्वरे ॥२११॥

मायान्तं वेद्यं सर्वमिति तद्व्याप्त्यात्मतत्त्वं महाध्वरे दीक्षाप्रयोजनशिवयागे ॥२११॥

किमर्थमयं होमः, इत्याह—

विधिवैकल्यकर्मार्थं प्रायश्चित्तविशुद्धये ।

विधिः पूजाहोमादिः शास्त्रचोदितस्तस्य वैकल्यकर्म न्यूनातिरेकानुष्ठितिस्तदर्थमिति तन्निवृत्त्यर्थं या प्रायश्चित्तशुद्धिस्तस्यै ॥

अथ—

विद्यातत्त्वे तु होतव्यं शतमष्टोत्तरं प्रिये ॥२१२॥

तच्च

उपांशूच्चारयोगेन विद्यातत्त्वे तु होमयेत् ।

पूर्वोक्ताया विद्याया इयमन्यैव ।

मायान्ते विद्या करणरूपा भगवतः, इति वक्तुमाह—

सदाशिवान्तमध्वानं विद्यातत्वं विनिर्दिशेत् ॥२१३॥

ज्ञानक्रियात्मा शक्तिः शिवस्य कारणं तद्रूपश्च सदाशिवः, इति तदन्ता विद्यातत्त्वस्य व्याप्तिः ॥२१३॥

अत्र च—

मन्त्रोच्चारविलोमेन प्रायश्चित्तं तु यद्भवेत् ।

तद्विशुद्ध्यै स होमः स्याद्विद्यातत्वे तु यः कृतः ॥२१४॥

विलोमताऽन्यथाकरणम् । अत्र च प्रणवनिष्कलावुच्चार्य दीक्ष्यस्य विद्यातत्त्वव्याप्तसदाशिवान्ताध्वशुद्धौ मन्त्रोच्चारवैलोम्यशुद्धिरस्तु स्वाहेति प्रयोगः ॥२१४॥

अनन्तरम् —

मनोविज्ञानवैकल्यात् प्रायश्चित्तं तु यद्भवेत् ।

तच्छुद्ध्यर्थं शिवे तत्त्वे मूलमन्त्रेण होमयेत् ॥२१५॥

मानसेन प्रयोगेन

मनोविज्ञानं भावना, शिवतत्त्वमुक्ततत्त्वापेक्षयात्र प्रमातृरूपम् ॥२१५॥

एतच्च—

शक्त्यन्तेऽध्वनि संस्थितम् ।

शक्त्यन्तं समनान्तमुत्तीर्य शिवभट्टारकस्य तावद्व्याप्तिकत्वात् ॥

अथाशेषबन्धभित्तेर्मुण्डान्तोर्ध्ववाहिन्याः प्राणशक्तेरधोवाहात्मकबन्धकत्वोपशमाय तदनुकारिण्याः स्थूलदेहगतायाः शिखायाश्छेदमादिशति—

तत्त्वत्रयविशुद्ध्यन्ते शिखाच्छेदं तु कल्पयेत् ॥२१६॥

कथं च—

अध्वान्तस्थां परां शान्तामनौपम्यामनामयाम् ।
व्यापिनीं सर्वतत्त्वानां सर्वकारणकारणम् ॥२१७॥
ध्यात्वा शिशोः शिखाग्रे तु पुष्पाग्रे जलबिन्दुवत् ।

अध्वनोऽन्तेऽत एवाविद्यमानध्वान्ते पदे च स्थितां परां शान्तामिति शान्त्यतीतां सर्वोपाधिक्षैण्यादनामयामकलङ्कां षण्णामपि कारणानां कारणं शिशोः शिखाग्रे ध्यात्वेति संगतिः ॥२१७॥

किं च—

कर्तरीं शिखयामन्त्र्य शिखया च्छेदयेच्छिखाम् ॥२१८॥

शिखयेति नैष्कलेन शिखामन्त्रेण । इह विशेषानभिधानान्निर्बीजसबीजदीक्षाद्वयविषयशिखाच्छेदनं न तु निर्बीजायामेव ॥२१८॥

अथ—

शिखां समर्प्य चान्यस्य निर्गच्छेत् स सशिष्यकः ।

तत्र च—

स्नानं समाचरेच्छिष्यः

छिन्नशिखत्वात् ॥

तत्स्पर्शात्तु—

गुरोराचमनं भवेत् ॥२१९॥

स शिष्यसंपर्कित्वात् पराशयग्रहणाय वा—

स्नानमुद्धूलनं वाथ आचरेत् स्वेच्छया गुरुः ।

ततः—

प्रविश्य सकलीकृत्य

आत्मानम् ।

पूर्णया जुहुयाच्छिखाम् ॥२२०॥

उक्तव्याप्तिप्राणशक्त्यनुकारिणीम् । अत्र च पूर्वसंवादितः पाशहोममन्त्रः प्रयोक्तव्यः ॥२२०॥

इत्थं च—

हुत्वा निर्गम्य चाचम्याक्षाल्य स्रुक्स्रुवकर्तरीः ।

प्रविश्य सकलीकृत्य शिवहस्तानुपूजनम् ॥२२१॥

कुर्वीतेत्यर्थः ॥

ततस्तु मण्डले पश्चात् पूजयेत् परमेश्वरम् ।

पुष्पादिभिरशेषैस्तु ततो विज्ञापयेच्छिवम् ॥२२२॥

भगवंस्त्वत्प्रसादेन अध्वषट्कव्यवस्थितम् ।

पशुं संगृह्य संशोध्य शिखाच्छेदावसानकम् ॥२२३॥

त्वन्मुखोक्तविधानं तु लेशतो वर्तितं मया ।

ग्रहणं पाशसूत्रात् स्वदेहाच्च । संशोधनं मलेभ्यः । वर्तितं संपादितम् ॥२२३॥

किं च, शिष्यमिष्टं धाम लम्भयितं मया—

त्वच्छक्त्यैव तु गन्तव्यमाशु ध्रुवपदं शिवम् ॥२२४॥

एवकारो निरपेक्षः शक्तिपात एवात्र प्रभवतीति ध्वनति । एतच्च पञ्चमपटलान्ते निर्णेष्यामः । ध्रुवपदं सप्तमं परमशिवस्थानम् ॥२२४॥

तदर्थमेव—

इदानीं योजने कर्म

मयारभ्यते ।

ततोऽत्र—

तवाज्ञानुविधायिनः ।

आज्ञा मे दीयतां नाथ शिष्यं संयोजयाम्यहम् ॥२२५॥

तवाज्ञेति

'दीक्षणीयास्त्वया शिष्याः'

इत्यधिकारावसरे प्राप्ता ।

अथ—

लब्धानुज्ञातमात्मानं

आज्ञालाभयुक्त्यैव रुद्रशक्तिसमावेशात् —

प्रहृष्टो निर्गतः पुरात् ।

अर्घहस्तो व्रजेदग्निम्

पुरादिति मण्डलक्षेत्रात् ।

अथात्र—

शिष्यमाहूय प्रोक्षयेत् ॥२२६॥

प्रोक्षितस्य—

पूर्ववच्चासनस्थस्य सकलीकरणादिकम् ।

अन्तःकरणविन्यासं नाडीसंधानपूर्वकम् ॥

पूजनं तर्पणं चाग्नौ मन्त्राणां च शिवस्य च ।

कुर्यात् । तर्पणं मूलापेक्षया वक्त्राङ्गानाम् ॥

दशभागविभागेन

नचात्र द्रव्येयत्तानियम इत्याह—

यथा द्रव्यानुसारतः ॥२२८॥

यद्वक्ष्यति—

'तिस्रः पञ्च दशैका वा तिलैर्वाथ घृतेन वा ।' (स्व ४।४४८)

इति ॥२२८॥

अथ ये निष्कलस्वरूपनिमज्जनेन सकलतामुन्मज्ज्य भगवतोऽन्तरङ्ग-शक्तिरूपा वक्त्राङ्गमन्त्रा भेदप्रथोत्थापनेन चिदात्मना संशुद्धत्वापादनेऽधिकृता-स्तान्—

मन्त्रान् संशोधयेत् पश्चात् सकलीकरणे स्थितान् ।

सकृदाहुतियोगेन

मूलमन्त्रेणैवेतरमन्त्रशुद्धिरिति निर्णीतमतः प्रणवनिष्कलोच्चारपूर्वं हृदाद्येकैकं जात्यन्तमुच्चार्य 'भगवन् दीक्ष्यस्य निष्कलशुद्धधामप्रथापरो भव स्वाहा' इति प्रयोगेन निष्कलधामविश्रान्तिभावनयाहुतिं दद्यात् ।।

तत एतानिदं श्रावयेत्—

अधिकारो विवर्ज्यताम् ।।२२९।।

सकलीकरणत्वेन न कदाचित् पशोः पुनः ।

सकलीकारो भवद्भिः कार्य इति शेषः ।।२२९।।

एवं दीक्ष्यस्य मन्त्रैकादशिकाशुद्धिमितिकर्तव्यत्वेनोक्त्वा देवीमाह भगवान् -

योजनीयं प्रयोगं तु अधुना कथयामि ते ।।२३०।।

योजनायै हितं योजनीयम्, प्रकृष्टं योगमितिकर्तव्यतारूपं प्रयोगं चाधुना निःशेषपाशक्षपणे जाते सति, ते इत्यनुग्रहैकप्रवणतया भगवत्या एवैकस्याः परस्याः शक्तेर्योजनायां शक्तायाः कथयामि विमर्शपदं लम्भयामीत्यर्थः ।।२३०।।

अस्य चाभ्यस्तज्ञानयोगदुष्प्रापदैशिकप्रवरसाध्यत्वमिति दर्शयितुं महता पीठिकाबन्धग्रहणेन योजनोपयोगि प्रमेयत्रयोदशकं सद्गुरूणां हृदयंगमीकार्यं निर्णेतुमुदाक्षिपति परमेश्वरः—

ज्ञात्वा चारप्रमाणं तु प्राणसंचारमेव च ।
षड्विधाध्वविभागं तु प्राणैकत्र यथास्थितम् ।।२३१।।
हंसोच्चारं तु वर्णांश्च कारणत्यागमेव च ।
शून्यं समरसं ज्ञेयं त्यागं संयोगमुद्भवम् ।।२३२।।
भेदनं च पदार्थानां भावप्राप्तिवशात् पुनः ।
आत्मविद्याशिवव्याप्तिमेवं ज्ञात्वा तु योजयेत् ।।२३३।।

इह—

'तस्मिन् युक्तः परे तत्त्वे सर्वज्ञादिगुणान्वितः ।
शिव एको भवेद्देवि अविभागेन सर्वतः ।।'

(स्व० ४।४०२)

इति भाविनीत्या परभैरवैक्यापत्त्यात्मा योजना पुर्यष्टकाहन्ताप्रशान्त्यैव गुरोः कर्तव्या । पुर्यष्टके च प्राणाश्रयं शून्याश्रयं च स्वप्नसौषुप्तयो-

स्तथा निश्चयादिति प्राणशून्यपदयोः प्रशमनीयत्वे चारस्य प्राणवाहस्य देशकालाभ्यां प्रमाणमवश्यं ज्ञातव्यम्, तत्रापि चारोहावरोहरूपसंचरणं ज्ञातसंचारस्य तत्रस्थोल्लङ्घनीयसमस्ताध्वपरिज्ञानमुपयोगि, अध्वोल्लङ्घनमपि ऊर्ध्वनदनात्महंसोच्चारपरिज्ञानात्, तदुच्चारो द्विधा स्वाभाविकः प्रायत्निकश्चेति, प्रायत्निके तस्मिन् नैष्कलैरकारोकारादिभिर्वर्णैः कारणानां ब्रह्मादीनां त्यागोऽपि ज्ञेयः, चकारात्तदूचितकालत्याग इहानुद्दिष्टोऽपि वक्ष्यमाणो ज्ञातव्य एव, प्राणवच्च शून्यमपि प्रशमनीयत्वाज्ज्ञेयमेव, परभैरवैक्यात्मयोजनं च मन्त्रात्मनाड्यादिसामरस्यज्ञप्तिपूर्वकम्, सामरस्यज्ञानं साम्यज्ञप्तिपूर्वकमिति साम्यात्मविषुवत्स्वरूपमपि भविष्यति, अकाराद्युन्मनान्तं द्वादशविधं ज्ञेयमपि मन्त्रोच्चाराङ्गतया ज्ञेयमेव, त्यागाय चैतज्ज्ञेयमिति त्याग उक्तः, स च तत्तद्दशासंयोगपूर्वकः तत्तद्दशात्यागे चोर्ध्वोर्ध्वारोहात्मोद्भवोऽपि ज्ञातव्यः, यावच्चैषां ग्रन्थीनां भेदनं न वृत्तं न तावत्तत्त्यागेनोर्ध्वोद्भवो घटते, भेदनं च ज्ञानयोगाभ्याम् । यद्वक्ष्यति—

'भेदयेज्ज्ञानशूलेन (स्व० ४।३३५)

इति । तथा

'भेदयेन्मन्त्रशूलेन मुद्राभावयुतेन तु ।' (स्व० ४।३५७)

इत्यादि । तच्च भावस्य दृढारूढप्रतिपत्त्यात्मनस्तत्तच्छब्दाद्यनुभवात्मनश्च वक्ष्यमाणस्य प्राप्तिवशाद्भवति । एवमियज्ज्ञानपूर्वं प्राणे शून्ये च प्रशमितेऽपि, आत्मतत्त्वस्यैतावदुत्तीर्णा शुद्धात्मदशानुभवरूपा, विद्यातत्त्वस्य चोन्मनाविश्रान्त्यात्मा, शिवतत्त्वस्यापि च परतत्त्वसमावेशरूपा व्याप्तिरवश्यं ज्ञेयेति, इयत्प्रमेयपरिज्ञानमागमतोऽनुभवतश्च योजनायामुपयोगीत्याशयेनात्र वाक्ये ज्ञात्वेति द्विरुपात्तम् ॥२३३॥

यथोद्दिष्टं निर्णेतुमाह—

तद्विभागं प्रवक्ष्यामि यथा ज्ञायेत तत्त्वतः ।

विभागो विभजनमसाधारणेन रूपेण विवेचनलक्षणम् । प्रकारभेदकथनमपि यथासंभवम् ।

तं क्रमेणाह—

षट्त्रिंशदङ्गुलश्चारो हृत्पद्माद्यावशक्तितः ॥२३४॥

तुटिषोडशमानेन कालेन कलितः प्रिये ।

यावच्छब्दे तलोप ऐश्वरः । आद्येनार्धेन देशतो द्वितीयेन कालतश्चार-प्रमाणमुक्तम् । शक्तिरिह भाविनीत्या समनान्ताभिप्रेता । तुटिश्चषकषड्भाग-रूपस्य प्राणापानवाहस्य द्वात्रिंशत्तमोंऽशः ।

अथ प्राणसंचारमाह—

संचरन्तं विभागेन यथावत्तं शृणुष्व मे ॥२३५॥

तमिति प्राणं ताल्वादिस्थानानुसारिणा विभागेन यथावत् स्वानुभव-साक्षिकं सम्यक् चरन्तं शृणु कथितमन्तर्निभालय ॥२३५॥

हृत्पद्माद्यावदयनं भागमेकं त्यजेत्तु सः ।
नासिकाग्रे द्वितीयं तु शक्त्यन्ते तु तृतीयकम् ॥२३६॥
तत्रस्थो विनिवर्तेत यावत्तत्वं न विन्दति ।
विदिते तु परे तत्त्वे तत्रस्थोऽपि न बाध्यते ॥२३७॥

एतच्छास्त्रप्रक्रियया मन्त्रोदयस्थानाद्धृत्पद्मात् प्रभृति । अयनमिति कालाधिकारवक्ष्यमाणया 'प्राणे दिनोदय' इति स्थित्या प्राणादित्यस्य मध्याह्नगताश्रयं तालुस्थानमष्टादशाङ्गुलान्तमिह विवक्षितम् । तच्च मायाग्रन्थ्यात्मकं रुद्रस्थानं दुर्भेदमित्यशिक्षिततदनुप्रवेशस्य तु मध्यनाड्या नासिकाग्रं भ्रूमध्यमैश्वरं स्थानं प्राप्नोति, एवमप्यभिन्नभ्रूग्रन्थेस्तस्मिन् नासिकाग्रे । द्वितीयमिति षडङ्गुलं भागं त्यजेत्, तत्प्रवेशमनासाद्य पार्श्वनाडीद्वयेन यावच्छिक्षिततदनुप्रवेशस्य तु शक्त्यन्तं ब्रह्मबिलपर्यन्तमाश्रयति, तथाप्यस्वीकृतशाक्तबलस्य शक्त्यन्ते तस्मिंस्तृतीयं भागं द्वादशाङ्गुल त्यजेत्, तत्रान्तरज्ञस्य ब्रह्मरन्ध्रेणाधः प्रसरेत्, एतदेव तत्रस्थेत्यादिना श्लोकार्धेनोक्तमत एवासादितशाक्तबलः समग्रग्रन्थिसंचाराभिज्ञः परस्मिंस्तत्त्वे विदिते । तत्रेत्युक्तेषु ग्रन्थिस्थानेष्वपि स्थितो न बाध्यते, न देहादिप्रमातृतावैवश्यमेतीति यावत् । अतश्च परतत्त्वज्ञप्तिपर्यन्तः प्राणसंचारः शिक्षणीय इति पिण्डार्थः ॥२३७॥

अत्रैव संचारे पारिभाषिकीः संज्ञा उद्घाटयति—

शक्त्या चाधो यदा गच्छेदबुधस्तु तदा भवेत् ।

शक्तिपर्यन्तेऽपि पदे लब्धे तत्त्वेऽनारोहात् ।

यदा तु तदारोहाय —

हृद्गतः पुनरुत्तिष्ठेद्बुध्यमानः स उच्यते ॥२३८॥

ततश्च—

शक्तिं प्राप्य बुधो ज्ञेयः

ततोऽपि शाक्तबललाभात् तत्त्वारोहयुक्तिज्ञस्य—

व्यापिन्यंशे प्रबुद्धता ।

यदा तु ततोऽप्यूर्ध्वमारोहति, तदा समनापर्यन्तममेषमध्वानम्—

अतीतः सुप्रबुद्धस्तु

परतत्त्वानुलाभात् । अबुद्धरूपतैवेति केचित्, तदसत्, तस्येह प्राकरणिकत्वेऽपि सुप्रबुद्धेकरूपत्वात्, अन्यथा गुरुत्वायोगात् ।

अस्य च —

उन्मनस्त्वं तदा भवेत् ॥२३९॥

मनःसंस्कारस्यापि क्षयात् ॥२३९॥

किं च—

न कालो न कला चारो न तत्त्वं न च कारणम् ।
सुनिर्वाणं परं शुद्धं गुरुपारम्परागतम् ॥२४०॥
तद्विदित्वा विमुच्येत गत्वा भूयो न जायते ।

कालस्तुटयादिः परार्धान्तः, कला निवृत्त्यादिका, चारः प्राणवाहः, तत्त्वं पृथिव्यादि, कारणं ब्रह्मादि, सुनिर्वाणमिति पराद्वयमयत्वात्, अत एव परं शुद्धं शुद्धाशुद्धसदाशिवादिपदादपि प्रकर्षात्, गुरूणां परम्परैव पारम्परं परभैरवतच्छक्तिसदाशिवेशानन्तश्रीकण्ठादिरूपं तत आगतम् । विदित्वेति अनुभूय, विमुच्यते इति जीवन्नेव विमुक्तः स्यात्, गत्वेति देहान्ते तदैकात्म्यमेति ॥

अथाध्वषट्कविभागमाह—

अध्वषट्कं यथा प्राणे संस्थितं कथयामि ते ॥२४१॥
आपादान्मूर्धपर्यन्तं चितेः संवेदनं हि यत् ।
भुवनाध्वा स विज्ञेयस्तत्त्वाध्वा च तथैव हि ॥२४२॥

इह तस्य भावस्तननात्तत्त्वमिति व्युत्पत्त्या निरुक्त्या च विशेषनिष्ठः सामान्याभासः शरीरभुवनभावविरचनाहेतुतत्त्वम् । तदाभोगः शरीरभुवनादिर्यथा देहमृद्दारुपाषाणादौ काठिन्याभासः पृथिवीतत्त्वमेवमन्यत् । सामान्याभासश्च चिद्भित्तौ भाति परचिद्भूमौ च सर्वं चिदेकरसमिति न कोऽपि विभागस्ततः, 'प्राक् संवित्प्राणे परिणता' इति न्यायात्, प्राणसंकोचिन्यास्तस्याः

प्राणत्वारोहेण देहमप्यऽनुधावनायात्तत्त्वप्रतिभासरूपं स एव तत्त्वाध्वा घटते इत्यभिप्रेत्यापादान्मूर्धान्तं यच्चितेः संवेदनं तत्तत्काठिन्यादिप्रतिभासरूपं स एव तत्त्वाध्वा भुवनाध्वा चेत्युक्तम् । तत्त्वसत्तयैव च भुवनसत्तापि सौक्ष्म्येणानुमीयते । प्राणचारो हृदयाच्छक्त्यन्तं षट्त्रिंशदङ्गुल उक्तः । अध्वषट्कविभागस्तु प्राणैकत्रेति समस्तदेहव्यापिसूक्ष्मप्राणमात्र एवोद्दिष्टो न तु प्राणचार इत्यापादादित्यादिका युक्तैवोक्तिः । तत्त्वानां चोद्देशान्ते श्रीमतङ्गेऽप्युक्तम्—

> 'तत्त्वं वस्तुपदं व्यक्तं स्फुटमाम्नायदर्शनात् ।
> ततमेतेन वा यस्मात्तत्तत्त्वं तत्त्वसंततौ ॥' (१।५।४)

इति । तथा

> 'शिवाद्यवनिपर्यन्तो योऽयमध्वातिविस्तृतः ।
> स समस्तश्चितो ज्ञेयो नाशिवत्वाद्विमुच्यते ॥' (१।१०।२३)

इति ॥२४२॥

प्राणे कलाध्वस्थितिमाह—

कलाकलितसंतानः प्राणः संचरते सदा ।

कलाभिः कलितो व्याप्तः संतानः प्राणवाहो यस्य ॥

अस्य हि—

निवृत्तिश्च प्रतिष्ठा च अधोभागे प्रवर्तिके ॥२४३॥
विद्या शान्तिस्तथा चोर्ध्वे शान्त्यतीता त्वधिष्ठका ।

'आ पादान्मूर्धपर्यन्तम्' इत्युक्त्वा समस्तदेहव्यापी सामान्यप्राणनारूपः प्राण उद्दिष्टो यस्य प्राणापानाद्यात्मिका विशिष्टा वृत्तयः, ततोऽधोभागप्रवर्तिके इत्यादिकं संगतमेव । ये तूर्ध्ववाहिप्राणाश्रयमेतत्, इत्यभिप्रायेण अधोभागप्रवर्तिके इति पठित्वा अधोभागे प्रवृत्तिरवस्थितिर्विद्यते ययोरित्यादि श्लिष्टं व्याचक्षते, तेषां शक्तया चाधो यदा गच्छेदिति (४।२३८) पूर्वोक्तं विस्मृतम्, जडस्य च शक्त्यात्मककलाव्यापकत्वमुक्तम् न तु विपर्यय इत्यास्तामेतत् । एवंप्रायं व्याख्यानं बहु असमञ्जसं टीकाकृतामस्ति, तत् स्वयमेवान्वेष्टव्यम्, ग्रन्थगौरवभयात् प्रतिपदं नोन्मीलितं कियन्मात्रं तु दर्शितम् ॥

हेयहान्या शिष्याणामुपादेये धीः प्ररोहत्विति कलातीतं पदं निरूपयितुमाह—

तदतीतः परो भावः

शान्त्यतीतामप्यतिक्रान्तः शुद्धात्मदशारूपः स्वभाव इत्यर्थः।
अत एवोन्मनापरतत्त्वात्मकशक्तिशक्तिमत्सामरस्यात्मकम्—

तदूर्ध्वं पदमव्ययम् ॥२४४॥

यत्प्राप्त्यर्थमियान् शास्त्रसंरम्भः ॥२४४॥
प्राणे निवृत्त्यादिकलास्थितिमुक्त्वा मन्त्रकलास्थितिमप्याह—

एवं बिन्दुकला ज्ञेया नादशक्त्यात्मिकाश्च याः।
व्यापिन्याद्यात्मिका याश्च व्याप्यव्यापकभेदतः ॥२४५॥
प्राणैकसंस्थिताः सर्वाः

अकारोकारमकारात्मानः कलाः प्राणैः सर्वैरुच्चरन्त्य उपलभ्यन्ते यास्तु बिन्द्वाद्याः समनान्ताः क्रमेण व्याप्यव्यापकभावेन स्थिताः, ताः सर्वाः प्राणे स्थिता ज्ञेयाः प्रयत्नेनानुभवितव्याः। बिन्दुनादव्यापिनीनां तिसृणां प्रधानतया इह उद्देशोऽर्धचन्द्रादिशक्तीनां यथायोगमेतदन्तर्भूतत्वेन प्राधान्यात्।

अत एव—

षट्त्यागात् सप्तमे लयः।

सर्वोपलभ्या अकारोकारमकारकलाः, योगगम्यास्तु बिन्दुनादव्यापिन्य इत्यासां षण्णामपि त्यागात् परमयोगिनां सप्तमे परशक्तिमति परतत्त्व एव लयो विश्रान्तिः कार्या ॥

एतदुपसंहृत्यान्यदवतारयति—

कलाध्वैवं समाख्यातो वर्णाध्वानं निबोध मे ॥२४६॥

तमाह—

वर्णाः शब्दात्मकाः सर्वे जगत्यस्मिंश्चराचरे।
स्थिताः पञ्चाशता भेदैः शास्त्रेष्वानन्त्यकोटिषु ॥२४७॥
शब्दात् प्राणः समाख्यातस्तस्माद्वर्णास्तु प्राणतः।
उत्पद्यन्ते लयं यान्ति यत्र शब्दो लयं गतः ॥२४८॥

आनन्त्येन कोटिसंख्येषु शास्त्रेषु पञ्चाशता भेदैर्मातृकारूपैः चरे जङ्गमे वाग्वति, अचरे चान्तःसंज्ञे स्थावरे तत्तदव्यक्तवाच्याक्षराद्यभिव्यञ्जके वर्णाः स्थिताः, ते च शब्दात्मकाः शब्दनरूपाः, शब्दोऽपि प्राणनात्मा ध्वनिसतत्त्व-

श्च प्राणोऽत एवास्माद्ध्वनिरूपाद्वर्णा जायन्ते, यत्र च शब्दात्मा प्राणो लयं याति तत्रैव वर्णा लीयन्ते, इति प्राणनात्मनि प्राण एव वर्णाध्वा स्थितः ॥२४८॥

यतश्च वर्णानां प्राणस्य चैकत्र लयस्ततः—

शब्दातीतो वरारोहे तत्त्वेन सह युज्यते ।

युक्तः सर्वगतो देवि धर्माधर्मविवर्जितः ॥२४९॥

नाधो निरीक्षते भूयः शिवतत्त्वं गतो यदा ।

तत्त्वेन परमशिवेन सह युज्यते ऐक्यमेति, अत एव सर्वगतो धर्माधर्माभ्यां प्राणापानाभ्यां शुभाशुभाभ्यां च रहितः । अध इति इदन्तारूपो भेदः । यदेति यतः ॥

एतदुपपादयति—

अधो वै यात्यधर्मेण धर्मेणोर्ध्वं व्रजेत् पुनः ॥२५०॥

विज्ञानेन द्वयं त्यक्त्वा सर्वगस्तु भवेदिह ।

अधर्मेणाशुभेनाधः स्थावरान्तमपानात्मदेहभूमिं, धर्मेण शुभेन देवयोन्यादिताम्, प्राणात्मना तु शक्त्यन्तं व्रजति । एतद्द्वयं तु विशिष्टेन शिवैक्यात्मविमर्शात्मना । ज्ञानेन त्यक्त्वा, इहेति देहावस्थितोऽपि सर्वगः शिवो भवति ॥

उपसंहरति—

वर्णाध्वैवं समाख्यातः

अथ—

पदाध्वा प्रोच्यतेऽधुना ॥२५१॥

एकाशीतिपदान्येव विद्याराजस्थितान्यपि ।

वर्णात्मकानि तान्यत्र वर्णाः प्राणात्मकाः स्थिताः ॥२५२॥

तस्मादेवं पदान्यत्र तानि प्राणक्रमेण तु ।

एकस्मिन्नपि विद्याराजे नवात्मन्येकाशीतिपदानि प्राग्विभक्तनीत्या यानि स्थितानि, तान्यपीदानीमेव निर्णीतनीत्या वर्णात्मकानि, वर्णाश्च प्राणरूपास्तदात्मकत्वात् पदानाम् ॥२५२॥

पदाध्वैवं समाख्यातः

अथात्र—

मन्त्राध्वानं निबोध मे ॥२५३॥

तमाह—

मन्त्रैकादशिका या तु सा च हंसे व्यवस्थिता ।
पदैकादशिका सा च प्राणे चरति नित्यशः ॥२५४॥

हंसे मध्यमे प्राणे, नैष्कलवक्त्राङ्गरूपा मन्त्रैकादशिका स्थिता यस्मात्, सा पदैकादशिका नित्योच्चरन्निष्कलकलारूपविश्रान्तिहेतुर्ब्रह्मादिवाचकाका-रादिसमनान्तपदरूपा । निर्णीतं चैतत् पूर्वमेव ॥२५४॥

एतानि पदान्याह—

अकारश्च उकारश्च मकारो बिन्दुरेव च ।
अर्धचन्द्रो निरोधी च नादो नादान्त एव च ॥२५५॥
शक्तिश्च व्यापिनी चैव समनैकादशी स्मृता ।

निष्कलनाथेऽकारकला यादृश्यस्ति, यादृशं चैतत्कलानां रूप तददूर एव निर्णेष्यते ॥२५५॥

एकादशिकाया अस्या अध्वरूपतां दर्शयितुमाह—

उन्मना च ततोऽतीता तदतीतं निरामयम् ॥२५६॥

तत इति तां समनामतीता, तदतीतमिति तामुन्मनामतिशयेनेतं गतं तदभिन्नम् । उन्मनापरतत्त्वप्राप्तिहेतुत्वात् पदवर्णादीनामिव मन्त्राणामप्यध्व-तेति यावत् ॥२५६॥

उपसंहरति—

मन्त्रा एवं स्थिताः प्राणे

बहिःस्थूलरूपस्याप्यध्वप्रपञ्चस्य मान्त्रकलोच्चारणे सूक्ष्मरूपतया मन्त्रोच्चिचारयिषा मन्त्रविश्रान्तिदशायोगे पररूपतया मन्त्रौपयिक एवोपल-म्भो भवतीत्याशयेन पर्यन्ते मन्त्राध्वा निर्णीतः ॥

क्रमप्राप्तः—

हंसोच्चारस्तथोच्यते ।

तमाह—

हकारस्तु स्मृतः प्राणः स्वप्रवृत्तो हलाकृतिः ॥२५७॥

योऽयं हलाकृतिरनच्को हकारोऽनाहतध्वन्यात्मा

'स्वयमुच्चरते देवि' (स्व० ७।५९)

इति भाविनीत्या स्वप्रवृत्तः

'नादाख्यं यत्परं बीजं' (कालो० १।५)

इति तन्त्रान्तरोक्तदृशा सर्वस्य स्वतः स्फुरन् स एष प्राणः प्राणनापरपर्यायो जीवः, स्मृतो गुरुपारम्पर्येणाविच्छेदेनाधीतः। अथ च धूलिभेदानुसारेण हलाकृतिरशेषं विश्वं गर्भीकृत्य कुण्डलिन्याकारः प्रसुप्तभुजगरूपः। स्वप्रवृतः इति स्वयमेव नादामर्शरूपतां निमज्ज्य प्राणात्मकं रूपमाविश्य स्थितः। यतः पारमेशी बोधाख्या शक्तिर्विश्वं गर्भीकृत्य परा कुण्डलिका सती विमर्शरूपतया नादात्मवर्णकुण्डलिकात्मना स्फुरित्वान्तर्निमज्जितैतत्स्वरूपा प्राणकुण्डलिकात्मतया भातीत्याम्नायः। एवं च व्याख्यातरूपः प्राण एव हंस ऊर्ध्वमधश्च स्वरसेन वहन् हानसमादानधर्मकहकारसकारविमर्शरूपतया स्फुरणात् ॥२५७॥

अथात्रैव वर्णैः कारणत्यागं निर्णेष्यन् वर्णोच्चारं तावन्निरूपयति—

अकारेण यदा युक्त उकारचरणेन तु।
मकारमात्रया युक्तो वर्णोच्चारो भवेत् स्फुटः ॥२५८॥

योऽयं नादात्मनो हंसस्य नित्यप्रवृत्त उच्चारः स एव स्फुटो वर्णोच्चारो भवति, कथमकारेणानच्कहकारस्याभिव्यक्तिहेतुना शिरोरूपेण यदा युक्तस्तदा उकार एवोर्ध्वाधःसंचारकत्वाच्चरणरूपस्तेन तथा बिन्द्वादिप्रमेयासूत्रकानुसाररूपमकारमात्रया यदा युक्तः, ईदृशो हि उच्चरन्नसौ सर्वैरुपलभ्यते ॥२५८॥

अथ च—

बिन्दुः शिरः समायोगात् सुस्वरत्वं प्रपद्यते।

उक्तरूपो वर्णोच्चार एव योगिनां भ्रूमध्येऽकारादिमात्रात्रयस्वीकृतनिःशेषभेदसंपिण्डिताविभागवेदनात्मकबिन्दुरूपतामाश्रित्य शिरःसमायोगादिति शिरसि ललाटस्थे प्रशाम्यद्वेद्यप्राधान्येऽर्धचन्द्रे प्रशान्तवेद्यप्रधानतया ऊर्ध्वोन्मुखत्वेन स्पष्टरेखात्मनि, अयोगिनो नादपथप्रवेशरोधकत्वान्निरोधिकासमा-

ख्ये, सम्यगासमन्तात् योगात्तत्पदारोहात् सुस्वरत्वं गुणीकृतवेद्यभेदप्रधाने-श्वरपदं समस्तवाचकाविभेदविमर्शप्रधानान्नादनादान्तभूमिं गृह्णातीत्यर्थः ॥

अतश्चेयत्पदमारूढस्य—

नादोऽस्य वदनं प्रोक्तः

यतः प्रोक्तनीत्यानाहतध्वनिपरमार्थोऽयं हंसस्ततो वर्णोच्चारात्मता-दशायामपि ललाटमध्ये नाद एवास्य वदनमिव वदनं मुख्यमङ्गम् ॥

युक्तं चैतद्यतः—

वदनं शब्दमीरयेत् ॥२५९॥

नादरूपं वदनं कर्तृ शब्दं नादान्तात्मानमीरयेद् ब्रह्मरन्ध्रतले प्रेरयेत्त-द्रूपतया स्फुरेत् ॥

न केवलमेवमयं नादात्मा प्राणः शिरोवदनचरणयुक्तो नदन् हंस इत्युक्तो यावत्—

अनेनैव च योगेन हंसः पुरुष उच्यते ।
ब्रह्मविष्णवीशमार्गेण चरन् वै सर्वजन्तुषु ॥२६०॥

पुरुषः क्षेत्रज्ञोऽनेनैव मध्योर्ध्वमार्गारोहणात्मना योगेन सर्वजन्तुषु हृत्कण्ठभ्रूमध्यललाटमार्गेण प्रसरन्नधरभूमिहानोर्ध्वपदसमादानरूपो हंस उच्यते । वक्ष्यति चाग्रे—

शिवो धर्मेण हंसस्तु सूर्यो हंसः प्रभान्वितः ।'
(स्व० ७।२९)

इत्युपक्रम्य—

'आत्मा वै हंस इत्युक्तः प्राणो हंससमन्वितः ॥'
(स्व० ७।३०)

इति एतच्च तत्रैव व्याख्यास्यामः ॥२६०॥

एवं नादान्तरूपतां गृहीत्वा—

शक्तितत्त्वे लयं याति

नादान्तरूपतां प्रशमय्यानन्दस्पर्शात्मतां ब्रह्मविले श्रयति ॥

ततोऽपि शिवपदसमाविविक्षावष्टम्भात्मना—

विज्ञानेनोर्ध्वतां व्रजेत् ।

कथम्—

व्यापिनीं समनां त्यक्त्वा व्रजेदुन्मनया शिवम् ॥२६१॥

शक्तौ स्पर्शमनुभूयोर्ध्वप्रवेशयुक्त्या व्यापिन्यां त्वक्केशपदे व्याप्तिं लब्ध्वा तदूर्ध्वे शिखाकेशस्थाने समानसे पदे मन्तव्याभावान्मननमात्ररूपतया स्थित्वा ततोऽप्यूर्ध्वं हंसः शुद्धात्मरूपो मननोल्लङ्घनस्वभावो युगपदशेषविश्वाभेदप्रकाशात्मकोन्मनाशक्त्याश्रयेण शिवं व्रजेच्चिदानन्दघनपरभैरवसमापत्तिं श्रयेत् ॥२६१॥

एवं च—

शिवतत्त्वगतो हंसो न चरेत्

शिवाख्यं तत्त्वं परमशिवो न चरेन्न संकोचेन प्रसरेत् ॥

अपि तु—

व्यापको भवेत् ॥

शिवादिक्षित्यन्ताशेषविश्वात्मना तदुत्तीर्णेन च रूपेण स्फुरेदित्यर्थः ॥

उपसंहरति—

हंसोच्चारः समाख्यातः कारणैश्च समन्वितः ॥२६२॥

कारणैर्ब्रह्मादिभिः, चकारादकारादिवर्णैर्वस्तुगत्या संभवद्भिः सम्यगन्वितो मिश्रितः ॥

इदानीं वर्णैः कारणत्यागं निरूपयति, तत्र—

हकारः प्राणशक्त्यात्मा

प्राणशक्तेरात्मोक्तस्थित्या जीवितरूपः ।

एतस्य शिरोरेखात्मा—

अकारो ब्रह्मवाचकः ॥

हृदि त्यागो भवेत्तस्य

वाचकोच्चारणान्त इति यावत् ॥

एवमुत्तरत्र—

उकारो विष्णुवाचकः ॥२६३॥

कण्ठे त्यागो भवेत्तस्य मकारो रुद्रवाचकः ।

तालुमध्ये त्यजेत्तं तु

त्यजेदिति कर्तृप्रत्ययस्तुशब्दश्च रौद्रग्रन्थ्युल्लङ्घनेऽवधातव्यमिति सूचियति ।

बिन्दुश्चैवेश्वरः स्वयम् ॥२६४॥

अभेदोक्त्याकारादिवदितःप्रभृति न पृथग् वाच्यवाचकतेति दर्शयति ।

त्यागस्तत्र भ्रुवोर्मध्ये

विधीयत इत्युत्तरस्थं संबध्यते । अर्धचन्द्रनिरोधिकान्तास्यैव व्याप्तिः ।

नादे वाच्यः सदाशिवः ।

तदभेदेन विमृश्येत्यर्थः

ललाटान्मूर्धपर्यन्तं त्यागस्तस्य विधीयते ॥२६५॥

नादस्यैव नादान्तान्ता व्याप्तिर्विधीयते योगिभिर्यत्नेन क्रियते । ६५ ।

अथ याः सूक्ष्मानुभावगम्याः—

शक्तिव्यापिनीसमनास्तासां वाच्यः शिवोऽव्ययः ।

सदाशिवापेक्षयायमव्ययः परमशिवापेक्षया तु सव्यय एव ॥

तत्र—

मूर्धमध्ये त्यजेच्छक्तिं तदूर्ध्वे व्यापिनीं त्यजेत् ॥२६६॥

व्याख्यातस्पर्शानुभूत्यन्ते इत्यर्थमेवं व्याख्यातम् ।।२६६।।

मननमात्ररूपानुभवान्ते—

समनाम्

तदूर्ध्वे त्यजेदित्येवम् ॥

एवमियदध्वातिक्रान्त्या प्राप्तशुद्धात्मस्वरूपस्य योगिनः—

उन्मनां त्यक्त्वा षट्त्यागात् सप्तमे लयः ।

भवतीति शेषः । व्याख्यातरूपोन्मनाशक्त्यनुप्रवेशेन परमशिवीभाव एवोन्मनात्यागः । एवं च षण्णां ब्रह्मविष्णुरुद्रेश्वरसदाशिवशिवाख्यानां कार-

णानां त्यागाद्विश्रान्तिपूर्वमुल्लङ्घनात् सप्तमे परमशिवे लयः समापत्तिर्भवति ॥

एतदधिकावापेनोपसंहरति—

सूक्ष्मसूक्ष्मतरैर्भावैरेवमेवं त्यजेत् प्रिये ॥२६७॥
स्थूलस्थूलतरैर्भावैर्नानासिद्धिफलप्रदैः ।

अवरोहक्रमेण यथोक्तवाच्यवाचकात्मानो भावाः पदार्था ये वक्ष्यमाणयुक्त्या स्थूलस्थूलतरास्तत्तत्सिद्धिप्रदाः स्थितास्तैरेवारोहक्रमेण यथोत्तरं सूक्ष्मसूक्ष्मतरैरुपलक्षितम् । एवमिति सर्वमध्वानम्, एवमित्युक्तयुक्त्यैव त्यजेत्, तैस्त्यज्यमानैरुपलक्षिता ये सूक्ष्मसूक्ष्मतरा आरोहक्रमेण यथोत्तरं त एव तैः कारणभूतैरेवमिति प्रदर्शितनीत्या एवमिति यथोक्तं त्यजेत् । स्थूलानां सिद्धौ सूक्ष्माणां मुक्तौ हेतुत्वमित्यधिकमत्रोपक्षिप्तम् ॥२६७॥

तत्र—

सूक्ष्मोऽत्यन्तं परो भावस्त्वभावः स विधीयते ॥२६८॥

परो भावः परा सत्ता परमशिवेऽत्यन्तं सूक्ष्मो विज्ञेयं सर्वकारणं चेत्यर्थः । स चाशेषभावप्रत्यक्षयात्मकत्वादभावः ॥ २६८॥

न च स एवेदृग् यावत्—

उन्मना त्वपरो भावः

परभावापेक्षया स्वात्मविमर्शरूपतया किंचिदौन्मुख्यादुन्मना अपरो भावो महासत्तात्मा सूक्ष्मो भावोऽभावश्चेति समन्वयः ॥

स्थूलस्तस्यापरो मतः ।

तस्योन्मनाख्यस्य स्वभावस्य यः संबन्धितया व्याप्यव्यापकरूपतया, न तु ततः पृथक्त्वेनापरः समनाख्यस्तदपेक्षया स्थूलोऽकाराद्यपेक्षया तु सोऽपि सूक्ष्म एवान्यथा सूक्ष्मसूक्ष्मतरैरिति बहुवचनं न युज्यते ॥

तस्यापरं पुनः शून्यं

तस्येति समनात्मनो भावस्यापरं व्यापिनीरूपं शून्यमशेषभावासूत्रणरूपं महाशून्यमित्यर्थः । पुनःशब्देन समनात्मकं तावन्निःशेषभावाभावासूत्रणरूपमेकं शून्यमिदं तु सर्वभावाभावाभासनभित्तिकल्पं द्वितीयमित्युक्तम् ॥

अत एव च—

संस्पर्शं च ततोऽपरम् ॥२६९॥

शक्तिपदमित्यर्थात् ॥२६९॥

ततोऽपि—

शब्दो

नादान्तात्मा नादरूपश्च ।

ततोऽपि—

ज्योतिः

व्याप्तनिरोधिकार्धचन्द्रपदो बिन्दुः ।

ततो मन्त्राः कारणा भुवनानि च ।

मन्त्रा मकारोकाराकारवर्णपरामर्शात्मानो वाचकाः, तद्वाच्या रुद्रोपेन्द्रब्रह्माणः कारणानि तदाश्रयभूतानि च तत्त्वानि भुवनानि च क्रमेणात्यन्तं स्थूलतमानीत्यर्थः ।

तदाह—

पञ्चभूतात्मभुवनं कारणैः समधिष्ठितम् ॥२७०॥

पञ्च भूम्यादीनि स्थूलसूक्ष्मादिरूपतयात्मा कारणं यस्य भुवनस्य । मायाविद्यादिपदेऽपि हि भुवनानि सन्ति, न च तत्र स्थूलभूतारब्धानि, तेषां च सूक्ष्मभूतारब्धानामपि स्वाधिष्ठातृकारणापेक्षया स्थूलत्वमेव, वस्तुतस्तु एषां भुवनादीनां शिवरूपत्वमेव ।

यथोक्तमन्यत्र—

भुवनं विग्रहो ज्योतिः खं शब्दो मन्त्र एव च ।
बिन्दुनादादिसंभिन्नः षड्विधः शिव उच्यते ॥'

इति । आरुरुक्षून् प्रति तु स्थूलस्थूलतरैरित्याद्युक्तम् ॥२७०॥

यदुक्तं 'स्थूला भावाः सिद्धिदाः' इति, तत्रोक्तक्रमप्रातिलोम्येन सिद्धिभेदं विभज्य दर्शयति—

भुवनं चिन्तयेद्यस्तु वक्ष्यमाणैकरूपकम् ।
भुवनेशत्वमाप्नोति

वक्ष्यमाणमिति भुवनाध्वनि भुवनेशत्वं कलाग्न्यादिरूपत्वम् ।

यस्तु परो योगित्वादेतद्भुवनं वक्ष्यमाणं विग्रहाद्यपि शिवरूपतयैव पश्यति सः—

XX see note on the back.

शिवं ध्यात्वा तु तन्मयः ॥२७१॥

शिवस्य च चिदानन्दघनतयैव ध्यानं नत्वाकारेण । अन्येषां तु—

ब्रह्मादिकारणानां च साधने विग्रहं स्मरन् ।
पूर्वोक्तलक्षणं यश्च तन्मयत्वमवाप्नुयात् ॥२७२॥

पूर्वमित्यासननिर्णयावसर उक्तम्, यश्चेत्यत्र स इत्यध्याहार्यः ॥

मन्त्रैश्च मन्त्रसिद्धिस्तु जपहोमार्चनाद् भवेत् ।

आराधितैरिति शेषः ॥

अतश्च जपादिना पूर्वमेव ये साधिता मन्त्रा अङ्गब्रह्माद्याः—

पूर्वोक्तरूपकध्यानात् सिद्ध्यन्त्यत्र न संशयः ॥२७३॥

एषां पूर्वमेव ध्यानम्, साधनफलं चाग्रे भविष्यति ॥२७३॥

ज्योतिर्ध्यानात्तु योगीन्द्रो योगसिद्धिमवाप्नुयात् ।

ज्योतिर्बिन्दु । योगसिद्धिरतीतादिज्ञानम् ॥

योगप्रकर्षात्तु—

तन्मयत्वं यदाप्नोति योगिनामधिपो भवेत् ॥२७४॥

अधिप इति भगवदीश्वररूपः ॥२७४॥

शब्दध्यानाच्च शब्दात्मा वाङ्मयापूरको भवेत् ।

शब्दो नादः ॥

स्पर्शध्यानाच्च स्पर्शात्मा जगतः कारणं भवेत् ॥२७५॥

स्पर्श आनन्दात्मा शक्तिगतस्तस्याधस्तनजगत्कारणत्वाज्जगतः कारणमित्युक्तम् ॥२७५॥

व्यापिनीपदे तु—

शून्यध्यानाच्च शून्यात्मा व्यापी सर्वगतो भवेत् ।
समनाध्यानयोगेन योगी सर्वज्ञतां व्रजेत् ॥२७६॥ XX

एवं स्थूलस्थूलतरादिभावापेक्षया सिद्धीः प्रतिपाद्य

सूक्ष्मोऽत्यन्तं परो भावः' (स्व० ४।२६८)

इत्यादिप्रतिपादितदृशात्यन्तसूक्ष्मोन्मनापरतत्त्वाध्यानं मुक्तिप्रदमित्यादिशति—

उन्मन्या तु परं सूक्ष्ममभावं भावयेत् सदा ।

उन्मन्या समवायिन्या शक्त्या सह परं पूर्वोक्तशिवतत्त्वरूपमभावं भावयेत् ।

अभावं व्याचष्टे—

सर्वेन्द्रियमनोतीतस्त्वलक्ष्योऽभाव उच्यते ॥२७७॥

सर्वाणीन्द्रियाणि मनश्चातीतोऽतिनिष्क्रान्तः, समनापदादूर्ध्वंस्य वेदित्रेकरूपत्वात्, अत एवालक्ष्यः, अतश्च न विद्यन्ते वेद्यादिरूपा भावा यत्रेति व्युत्पत्त्याभाव उच्यते, वस्तुतस्त्वसौ चिदानन्दघन एव ॥२७७॥

ननु यद्ययमीदृशस्तत्कथमुक्तम्—'अभावं भावयेत् सदा' इत्याशङ्क्याह—

अभावं भाव्यं भावेन भावं कृत्वा निराश्रयम् ।

न विद्यन्ते भावा यस्मिस्तदभावरूपं पदम्, भावेन परसत्तात्मना चिन्मयेन रूपेण भाव्यं भावनीयम् । ननु चित्तत्त्वं भावकं तत्कथं भाव्यमुच्यते —भावं कृत्वा निराश्रयमिति । भवतीति भावः सदाशिवादिः क्षित्यन्तः, तं निराश्रयं निरालम्बनं प्रशान्तरूपतया शक्तिधामानुप्रवेशेन तन्मयीकृत्य ॥

इत्थं च—

सर्वोपाधिविनिर्मुक्तमभावं लभते पदम् ॥२७८॥

उपसंहरति—

एष ते कारणत्यागः

कारणत्यागेऽर्थाक्षिप्तं कलात्यागमाह—

कालत्यागं निबोध मे ।

स च—

तुटिषोडशसंयुक्तः प्राणस्तु समुदाहृतः ॥२७९॥

तस्य च—

तुटिद्वयं समाश्रित्य एकैको भैरवः स्थितः ।

द्वितीयावरणनिष्ठः कपालीशभैरवादिः ॥

अस्मिंश्च—

अहोरात्रविभागेन कुर्वन्त्युदयमेव ते ॥२८०॥

यथाह्नि प्राणेऽष्टावुद्यन्त्येवं रात्रौ अपानेऽपि ॥२८०॥

एषां व्यापकः—

नवमस्तु परो देवः

पर इत्यष्टानां पूरको व्यापकः प्रकृष्टश्च श्रीस्वच्छन्दनाथः ॥

एतदीयान्महाप्रकाशात्मनो व्यापकात्—

तेजसस्तूदयन्ति ते ।

तद्भित्तावेव स्फुरन्तीत्यर्थः । अतश्च प्राणोदये तदविनाभाविनि बाह्यान्तरनीलसुखादिज्ञाने तद्विकल्पनेऽपि वा परभैरवविकासमया एव महायोगिनो न तु कदाचित् क्वचिदपि खण्ड्यन्ते, प्रत्युत स्वात्मविकासेन सततं मण्ड्यन्ते, इति सरहस्यार्थोऽत्र कटाक्षितः ॥

एवं स्थिते सति—

सर्वं कालं त्यजेत् प्राणे यथावत् कथयामि ते ॥२८१॥

तत्र—

तुटयः षोडशैवोक्ताः कालस्य करणं तु ताः ।

तदादिः संस्थितः कालः सर्वं चरति वाङ्मयम् ॥२८२॥

करणं तु ता इति प्राणारम्भद्वारेण ताभिः सर्वस्य कालस्योत्थापनात् । तदादिरिति

'क्षणद्वयं तुटिः प्रोक्ता' (स्व० ११।२०१)

इति भाविनीत्या यद्यपि क्षणादिः कालस्तथापि

'मानुषाक्षिनिमेषस्याष्टमोंऽशः क्षणः ।' (११।२०१)

इति भाविवाक्येनैव लक्ष्यस्यानुमेयत्वमुक्तमिति न तस्य सावधानैरपि तुटिवत् स्फुटसंवेद्यत्वमित्येवमुक्तम् सर्वं चरति वाङ्मयमिति । प्राणोच्चारोच्चरन्मातृकाव्याप्तिद्वारेण समस्तं वाचकराशिं तद्वारेण च वाच्यनियममपि व्याप्नोति ॥२८२॥

तदादिरित्युक्तं विभजति—

तुटिर्लवो निमेषश्च काष्ठा चैव कला तथा ।

मुहूर्तश्चाप्यहोरात्रः पक्षो मास ऋतुस्तथा ॥२८३॥
अयनं वत्सरश्चैव युगं मन्वन्तरं तथा ।
कल्पश्चैव महाकल्पः

तुट्यादयः षोडश इति, वक्ष्यमाणौ च द्वौ एकादशपटले निर्णेष्यन्ते ।

'महाकल्पस्य पर्यन्ते ब्रह्मा याति परं लयम् ।' (११।२६४)

इति । एषोऽत्र महाकल्पो न ग्राह्योऽसंगतेः, अपि तु सदाशिवजीवितावध्यात्मा परममहाकल्पः ॥

यदाह—

शक्त्यन्ते तं परित्यजेत् ॥२८४॥

शक्त्यन्तर्भावानुप्रवेशान्ते सूक्ष्मदृशा सदाशिवान्तकारणपञ्चकोपसंहारी कालः प्रशाम्यतीत्यर्थः ॥२८४॥

अथ—

व्यापिन्यन्ते परः कालः स तदङ्गी

स परममहाकल्पोऽङ्गमवयवः तेनाङ्गी पर इति साम्याख्यः । यद्वक्ष्यति—

'स कालः साम्यसंज्ञो वै' (११।२०६)

इति ॥

त्यजेत्तु तम् ।

तं च समनानुभवदशायां परित्यजेत् ॥

पूर्वप्रकारापेक्षया च—

स च सप्तदशो ज्ञेयः

ततोऽपि—

परार्धपरतः स्थितिः ॥२८५॥
सोऽपि चाष्टादशो देवि समनान्ते तु तं त्यजेत् ।

समनानुभवपर्यन्ते उन्मनान्तर्भावे त्यजेत् प्रशमयेत् ॥ २८५ ॥

एवमेकप्राणोच्चारेणैव बहिर्विततमपि परार्धान्तं कालं गुरुप्रवरः प्रशमय्य अकालकलिते पदे स्थितिं बध्नीयात् । तदाह—

सर्वकालं तु कालस्य व्यापकः परमोऽव्ययः ॥२८६॥
उन्मन्यन्ते परे योज्यो न कालस्तत्र विद्यते ।

कालस्येति परार्धान्तस्य, सर्वकालं नित्योदितत्वेन व्यापकः, अत एव परमोऽव्ययश्च, उन्मन्यन्ते परे शक्तिशक्तिमदनुभवावेशे योज्यः सामरस्येन प्रत्यभिज्ञेयः । तत्र च कलनात्मा कालो नास्ति, तस्यैव विश्वकलनाकारित्वान्न तं कश्चित् कलयतीत्यर्थः ॥ २८६ ॥

अत एवासौ—

नित्यो नित्योदितो व्यापी

नित्योदित इति न केनचिदाच्छादितः इत्यर्थः ॥

तं च सर्वोपरिवर्तित्वात्—

आदिरूपं न संत्यजेत् ॥२८७॥

तमेव दृढावष्टम्भयुक्त्या श्रयेत् ॥

एवं च सति—

तं च नित्योदितं प्राप्य तन्मयो जायते सदा ।

योगीन्द्र इति शेषः ।
एवं च कारणत्यागानन्तरीयकः कालत्यागो निर्णीत इत्याह—

कालत्यागो भवेदेवं

उद्देशक्रमायातः—

शून्यभावस्त्वथोच्यते ॥२८८॥

शून्यो रूपो भावः पदार्थः, परशून्यपदप्राप्त्युपायभूत इत्यर्थः ॥ २८८ ॥

तमाह—

ऊर्ध्वशून्यमधःशून्यं मध्यशून्यं तृतीयकम् ।

'चतुर्थं व्यापिनीशून्यं' (४।२९०)
इति वक्ष्यमाणत्वाद् ऊर्ध्वशून्यमत्र नादान्तान्तनिःशेषपाशप्रशमभूः शक्तिपदम्, अधः शून्यमनुल्लसितप्रपञ्चं हृत्क्षेत्रम्, मध्यशून्यं तु क्रमेणाधस्तनप्रमेयप्रशमात्मकं कण्ठतालुभ्रूमध्यललाटमूर्धरन्ध्रात्मकम् ।

इत्थं च—

शून्यत्रयं चलं ह्येतत्तदधो मध्य ऊर्ध्वतः ॥२८९॥

तदेतत् क्रमेणाधो मध्य ऊर्ध्वतः स्थितं शून्यत्रयमापेक्षिकत्वाद्धेयमित्यर्थः ॥ २८९ ॥

किं च—

चतुर्थं व्यापिनीशून्यं समनायां च पञ्चमम् ।

उन्मनायां तथा षष्ठं

अत्राप्यापेक्षिकत्वाच्चलं ह्येतदिति योज्यम् ।

अतश्च—

षडेते सामयाः स्थिताः ॥२९०॥

आमयपदेनात्र हेयत्वमुपलक्ष्यते, तेन चलत्वाद् एते हेया इत्यर्थः । उन्मनाया अपि परतत्त्वापेक्षया किंचिच्चलत्वमस्ति । परतत्त्वस्यैव तु अविचलत्वादुपादेयत्वम् ॥ २९० ॥

अत एवैते—

तत्त्वेनाधिष्ठिताः सर्वे सामया अपि सिद्धिदाः ।

तत्त्वं परमशिवः अधिष्ठितिर्व्याप्तिः । सिद्धिरत्र परयोगिनः पूर्णानन्दघनात्मैव, इतरस्य तु तत्तत्स्वप्नपदोचिता ॥

अत एव—

षट् शून्यानि परित्यज्य सप्तमे तु लयं कुरु ॥२९१॥

यतः—

तच्छून्यं तु परं सूक्ष्मं सर्वावस्थाविवर्जितम् ।

परं सूक्ष्ममिति निर्णीतं प्राक् । उन्मनाया अपि—

'शैवी मुखमिहोच्यते ।' (वि० भै० २०)

इति न्यायात् परमपदप्रविविक्षु (योग्या ? क्षुयोग्या)शयेन परमत्त्वानुप्रवेशोपायत्वाद् अवस्थात्वमरतीति कृत्वा सर्वावस्थाविवर्जितमवस्थात्रयैकरूपं परमेव तत्त्वम् ॥

एवं चेत् कथं शून्यमित्याह—

अशून्यं शून्यमित्युक्तं शून्यं चाभाव उच्यते ॥२९२॥

अभावः स समुद्दिष्टो यत्र भावाः क्षयं गताः ।

यदेतच्छून्यमित्युक्तम्, तद्वस्तुतोऽशून्यं चिदानन्दघनपरमशिवतत्त्वम् । अत्र हेतुः शून्यमिति । चो ह्यर्थे । यस्मात् शून्यमभाव उच्यते, अभावश्च न विद्यते भावः सर्वः प्रमेयादिप्रपञ्चो यत्रेति व्युत्पत्त्या इह चित्तत्त्वमेवोदिष्टम्, तस्मादशून्यमेव शून्यमिति युक्तमुक्तम् ॥

अत एव तत—

सत्तामात्रं

महासत्तारूपम्, प्रकाशात्मैव हि सर्वेषां भावाभावानां सत्ता ॥

निःशेषभेदप्रशमात्तु—

परं शान्तं तत्पदं किमपि स्थितम् ॥२९३॥

लोकोत्तरमित्यर्थः ॥ २९३ ॥

न च विश्वोत्तीर्णरूपमेव एतद्यावद्विश्वमयमपीत्याह—

यत्र यत्र च नादादिस्थूला अन्येऽपि संस्थिताः ।
तत्र तत्र परं शून्यं सर्वं व्याप्य व्यवस्थितम् ॥२९४॥

नाद आदिर्येषां बिन्द्वादीनाम्, नादस्य चादयः शक्तिव्यापिन्याद्या यत्र यत्र ललाटादिक्षेत्रे, अन्येऽपि स्थूलाः नादादिवाच्याः सदाशिवाद्यास्तदधिष्ठिताश्च तत्तत्तत्त्वभुवनादयो यत्रान्तर्बहिर्वा संस्थिताः, तत्र सर्वत्र परं सत्तामात्ररूपं शून्यं सर्वमिदं शर्करारसवत् तिलशोंऽशमंशं व्याप्य विचित्रेण रूपेणावस्थितम् ॥ २९४ ॥

व्यापकमेव च व्याप्यात्मतया स्फुरति, न तु व्याप्यं नामान्यदित्याह—

तदेव भवति स्थूलं स्थूलोपाधिवशात् प्रिये ।

महाप्रकाशात्मा श्रीस्वतन्त्रनाथः स्वस्वातन्त्र्येणैव यतः स्थूलाभासतया स्फुरति, ततस्तदुपाधिवशात् स्थूलमुच्यत इत्यर्थः ॥

इत्थं च—

स्थूलसूक्ष्मप्रभेदेन तदेकं संव्यवस्थितम् ॥२९५॥

अत एव यस्येयतीं धारामारूढा संविन्महायोगिनः स—

तत्प्राप्य तन्मयत्वं च लभते नात्र संशयः ।

प्राप्येति दृढप्रतिपत्यावलम्ब्य, न संशयः इति तत्त्वमेवैतन्मन्तव्यं न तु जडजनसुलभः संशयोऽत्र कार्यः। यस्त्वियति रहस्येऽर्थे न समाश्वस्तस्तदपेक्षया कारणत्यागाद्युक्तम् ॥

शून्यमुपसंहृत्यैतदुचितानुक्रमं समरसमवतारयति—

शून्यभावः समाख्यातः सामरस्यं निबोध मे ॥२९६॥

समो रसो यस्मिन् स समरसो लोलीभावः ॥ २९६ ॥

तद्भेदानुद्दिशति—

आत्मन्येकः समरसो मन्त्रे ज्ञेयो द्वितीयकः ।
तृतीयं नाडिग कुर्याच्छक्तौ कुर्याच्चतुर्थकम् ॥२९७॥
व्यापिन्यां पञ्चमं प्रोक्तं समनायां तु षष्ठकम् ।
तात्त्वः समरसो देवि सप्तमस्तु विधोयते ॥२९८॥

एतान्यथोद्देशं लक्षयति—

शिष्यात्मानं तु संगृह्य पूर्वोक्तविधिना क्रमात् ।
पश्चादात्मनि संयोज्य लोलीभूतं विचिन्तयेत् ॥२९९॥

आत्मानं पुर्यष्टकसंविदं पूर्वोक्तविधिनेति ताडनच्छेदनादिपूर्वमात्मनि चैतन्यमात्रे संयोज्याविकल्पं विमृश्य तद्विश्रान्त्यैव समरसीकुर्यात् ॥ २९९ ॥

अत्रैवेतिकर्तव्यतांशं पूरयन्नाडिमन्त्रसामरस्ये निर्दिशति, तत्र शिष्यात्मनो ग्रहणार्थम्—

पूरकं कुम्भकं कृत्वा समानेन निरोधयेत्

कुम्भकप्रकर्षाल्लब्धबलेन समानेन निरोधयेदित्याक्रामेदर्थात् सर्वनाडीः ॥

यदाह—

यावत्यो नाडयो देवि तिर्यगूर्ध्वमधःस्थिताः ॥३००॥
समानेन समाकृष्टा एकीभूता भवन्ति ताः ।

तदित्थं कुम्भकप्रकर्षेऽवस्थितस्य—

तासु ये वायवस्तेऽपि प्राणे समरसीगताः ॥३०१॥
नाड्यस्तु सुषुम्नायामेकीभूता व्यवस्थिताः ।

भवन्तीति शेषः ॥ ३०१ ॥

इत्थं नाडिसामरस्यपूर्वं मन्त्रसामरस्यं भवति । तदाह—

ततो वै उच्चरेन्मन्त्रः

उदित्यूर्ध्वमवहितस्य, चरेत् स्वयमेव प्रसरेत् ॥

उच्चरन्तं च तं सादाख्ये पदेऽव्यक्तध्वन्यात्मनि—

नादे लीनं विचिन्तयेत् ॥३०२॥

उपसंहरति—

मन्त्र आत्मा तथा नाडी एवं समरसीभवेत् ।

वामदक्षिणमध्ये तु

युगपदेवेत्थं मन्त्रादिसामरस्ये वृत्ते—

ततो नादं प्रमोचयेत् ॥३०३॥

सेतुबन्धं च तं मार्गं यत्र गत्वा न जायते ।

शक्तिव्यापिनीसमनोन्मनारूपसेतुबन्धात्मकं मार्गं सर्वाध्वपारवर्तिशिवपदप्रापकं पन्थानं नादं मोचयेद् गमयेत् । तद्गतौ च सत्यां न संसरति । मुचेर्गत्यर्थविवक्षया द्विकर्मता ॥

अत्र च कारणसामरस्यमर्थसिद्धमित्याह—

ब्रह्मा विष्णुश्च रुद्रश्च ईश्वरः शिव एव च ॥३०४॥

एतेऽत्र समतां यान्ति

यदा त्वकारोकाराद्युच्चारैर्हृत्कण्ठादौ विश्रान्तिस्तदा—

अन्यथा तु पृथक् पृथक् ।

समनन्तरोक्तसेतुगतौ सामरस्यान्तराणि स्थितानि लक्षयति—

तस्मिन् समुच्चरेन्नादं यावच्छक्तौ लयं गतः ॥३०५॥

शक्तिमध्यगतो नादः शक्त्यात्मा तु विधीयते ।

सर्वं शक्तिमयं तत्र सर्वं समरसीभवेत् ॥३०६॥

तस्मिन्निति पूर्वोक्ते सेतुबन्धे, सर्वमिति नादे समरसीभूतमात्ममन्त्रनाडिकारणरूपम् ॥

तदेतच्छक्त्यैक्यमाप्य—

तदूर्ध्वं व्यापिनीं प्राप्य सर्वं तन्मयतां व्रजेत् ।

सर्वं प्राप्तव्यापिन्यभेदम् ॥

समन्ताद् व्याप्नुयाद्यस्माद् व्यापिनीत्यभिधीयते ॥३०७॥

ततश्च —

तदूर्ध्वं समनां व्याप्य तन्मयत्वं व्रजेत् पुनः ।

तत्र च—

सा च सर्वगता ज्ञेया सामरस्येन संस्थिता ॥३०८॥

चशब्द एवार्थे, सैव तत्र सर्वगता, सर्वावबोद्धव्येत्वर्थः। गमिरत्र ज्ञानार्थः॥ ३०८ ॥

तदित्थम्—

षष्ठं समरसं त्यक्त्वा सप्तमं तु ततो व्रजेत् ।

उन्मनाशक्त्यनुप्रवेशेन प्राप्नुयात् ॥

तं प्राप्य तन्मयत्वं हि नात्र कार्या विचारणा ॥३०९॥

यश्चेत्थं प्राप्तपरसामरस्यः—

स च सर्वेषु भूतेषु भावतत्वेन्द्रियेषु च ।

स्थावरं जङ्गमं चैव चेतनाचेतनस्थितम् ॥३१०॥

अध्वानं व्याप्य सर्वं तु सामरस्येन संस्थितः ।

स चेति स एव स्थावरमचेतनं जङ्गमं सचेतनं चेति संक्षेपेण द्विधा स्थितं षडविधमध्वानं व्याप्य तदन्तर्वर्तिषु सर्वेष्विति देवयोन्यादिष चतुर्दशसु भूतेषु भावेशु धर्मादिषु घटादिषु च तत्त्वेषु पृथिव्यादिषु भोगसाधनेषु चेन्द्रियेषु सामरस्येन स्थितः सर्वास्ववस्थासु अविलुप्तपरभैरवसमापत्तिः। एषैव च निर्व्युत्थानसमाध्यात्मा महारहस्यभूता ॥

अध्यासितसमाधिषु तु —

प्रसह्य चञ्चलीत्येव योगिनामपि यन्मनः ॥३११॥

कुटिलं चलति भोगाभिलाषेण व्युत्थानमेव धावति, नाभीष्टं पदमवष्टभ्नाति, यदिति यस्मादेवम् ॥३११॥

ततः—

यस्य ज्ञेयमयो भावः स्थिरः पूर्णः समन्ततः ।

मनो न चलते तस्य सर्वावस्थागतस्य तु ॥३१२॥

ज्ञेयं च यथा व्याख्यातं परतत्त्वम्, भाव आशयः, स्थिरो निश्चलः, पूर्णो निराकाङ्क्षः, समन्ततः सर्वसर्विकया, तुरप्यर्थे ॥३१२॥

ईदृशस्य महायोगिनः—

यत्र यत्र मनो याति ज्ञेयं तत्रैव चिन्तयेत् ।

चलित्वा यास्यते कुत्र सर्वं शिवमयं यतः ॥३१३॥

मन एव परतत्त्वैक्यभावनावासितं कर्तृ यथोक्तं ज्ञेयं सर्वत्र चिन्तयत्येव । तदुक्तं महागुरुभिः—

'शिवभावनवौषध्या वद्धे मनसि संसृतेः ।
काष्ठकुड्यादिषु क्षिप्ते रसवच्छिवहेमता ॥'
(शि० दृ० ७।४८)

इति ॥३१३॥

एतदेव द्रढयति—

विषयेषु च सर्वेषु इन्द्रियार्थेषु च स्थितः ।

यत्र यत्र निरूप्येत नाशिवं विद्यते क्वचित् ॥३१४॥

इन्द्रियाणि चार्थश्चैन्द्रियकं प्रयोजनं विषयोपभोगस्तेषु स्थितो योगिवरो यो निरूप्येत विचार्येत, यत्र कुत्रापि नास्याशिवमस्ति, सर्वस्यास्य प्रकाशमानतया प्रकाशघनशिवैकात्म्यात् ॥३१४॥

एवं समरसं ज्ञात्वा नासौ मुह्येत् कदाचन ।

मितयोगिनो व्युत्थाने मुह्यन्त्येवेति कदाचनपदस्याशयः ॥

अतश्च—

यस्यैवं सर्वतो भावः सोऽपि सर्वगतो भवेत् ॥३१५॥

शिवस्तावत् सर्वगत इति नास्त्यत्र विमतिः, यस्य त्वेवं शिवैक्येन भाव आशयः सर्वगतः, सोऽपि सर्वगतो भवेद् महाव्याप्तिमनुभवत्येव ॥

एतदुपसंहृत्य एतत्पूर्वकक्ष्याभावि अनुद्दिष्टमपि विषुवत्स्वरूपं निरूपयति—

एवं समरसः प्रोक्तो विषुवत्तु निबोध मे ।

तद्विभजति—

प्रथमं प्राणविषुवन्मान्त्रं ज्ञेयं द्वितोयकम् ।।३१६।।

तृतीयं नाडिविषुवत् प्रशान्तं च चतुर्थकम् ।

पञ्चमं शक्तिविषुवत् षष्ठं वै काल उच्यते ।।३१७।।

सप्तमं तत्त्वविषुवत्

विषं साम्यरूपां व्याप्तिमर्हतोति विषुवत् ।।

एवं विभक्तस्यास्य—

प्रविभागस्त्वथोच्यते ।

प्रकर्षेण विभज्यतेऽन्यपरिहारेण व्यवस्थाप्यते वस्तु येन स प्रविभागो लक्षणम् ।

तत्र—

आत्मानं च मनः प्राणे संयोज्य विषुवद् भवेत् ।।३१८।।

शिष्यसत्कमात्मानमात्मीयं च मनः प्राणे मध्यवाहिनि सम्यगित्युक्तवक्ष्यमाणकरणयुक्त्या योजयित्वा प्राणविषुवद् भवति ।।३१९।।

एवम्—

प्राणे विषुवदाख्यातं

अथ—

मान्त्रं विषुवदुच्यते ।

मन्त्रमुच्चारयेत्तावद्यावन्नान्यमना भवेत् ।।३१९।।

परापरबिभागेन मन्त्रात्मा तु तदुच्यते ।

मन्त्रं श्रीनिष्कलं, परापरेति नादान्तमपरम् उन्मनान्तं तु परम् ।।

मान्त्रं विषुवदित्युक्तं

मन्त्रोच्चाराश्रयो नाडिरतः

नाडिस्थं तन्निबोध मे ।।३२०।।

सर्वासामेव नाडीनां मध्ये या संव्यवस्थिता ।

सुषुम्ना नाम सा ज्ञेया नाभेः शक्त्या शिवं गता ॥३२१॥

आ नाभेः नाभेरारभ्य, शक्त्या शक्त्यनुभवानुप्रवेशेन, शिवं गता परं तत्त्वं प्राप्ता ॥

एवं स्थिते—

तत्र प्रवाहयेन्नादम्

नादमव्यक्तध्वनिरूपम्, प्रकर्षेण वाहयेदकारादिसंयोगेन उर्ध्वं प्रापयेत् ॥

तदेतत् सर्वनाडीसाम्यात्मकम्—

नाडीविषुवदुच्यते ।

उच्यते, उक्तमित्यर्थः ॥

क्रमप्राप्तं तु

प्रशान्तं विषुवच्चैवमधुना कथयामि ते ॥३२२॥

तदाह—

अयने षडङ्गुलश्चारः कारणान्यङ्गुलेऽङ्गुले ।
तान्यधस्तात् परित्यज्य कारणानि षडेव तु ॥३२३॥
सप्तमे तु प्रशान्तं वै प्रशान्तेन्द्रियगोचरम् ।

विषुवदिति शेषः । षट्त्रिंशदङ्गुले चारे कालाधिकारस्थित्या हृदयात् प्रभृति मकरादिराशिसंचाररूपेषु अयनेषु प्रत्येकं षडङ्गुलश्चारः, तत्र च प्रतिषट्कं षट्कारणान्यङ्गुलेऽङ्गुले इति षष्ठे षष्ठे इति यावत् । एवं यानि प्रपञ्चव्याप्त्या षट्कारणानि अधस्तात् स्थितानि, तानि त्यक्त्वा सप्तमे परमकारणे कारणानां साम्यावस्थितिरूपात् प्रशमात् प्रशान्तविषुवद् भवतीति विशेषः ॥

प्रशान्तं व्याचष्टे—

प्रशान्तः स्तिमितो ज्ञेयः स्तिमितो निश्चलः स्मृतः ॥३२४॥

निश्चलो निस्तरङ्गश्च स्थिरः पूर्णः समन्ततः ।

भेदतरङ्गशान्त्या चिद्घनतैव प्रशान्त इति निस्तरङ्गपूर्णपदाशयः ॥

एवं भावं समास्थाय दीक्षा कार्या तु दैशिकैः ॥३२५॥

प्रशान्तविषुवति विश्रम्येत्यर्थः

एतत्प्रशान्तविषुवत्

अथ—

शक्त्युपाधिं निबोध मे ।

शक्तिमध्यगतो नादो नादोर्ध्वं च चरेद्यदा ॥३२६॥

तावत्तु शक्तिविषुवत्

शक्तिमध्यगतो मध्यधामारूढः, नादोऽव्यक्तध्वनिः, नादात् सदाशिवपदादूर्ध्वं शक्तिस्थानं यदा चरेत्, यदा मध्यस्थस्तदा शक्तिविषुवत् ॥

कालाख्यं तु निबोध मे ।

तदर्थमाह—

तुटिः षोशडका या तु प्राणान्ते संव्यवस्थिता ॥३२७॥

कालो भ्रूक्षेपमात्रस्तु तत्रान्ते कीर्तितो मया ।

तं परापरभागेन पुनरेव त्रिधा कुरु ॥३२८॥

प्राणस्यान्ते या षोडशी तुटिः, तत्र तस्यामन्तेऽर्धतुटिरूपे, भ्रूक्षेपमात्रोऽत्यन्तसूक्ष्मसाष्टभागाङ्गुलचारसंचारात्मा यः कालः, तमेकं त्रिधा अपरेण परेण परापरेण च भागेन कुरु, तुटेरर्धीकृतायाः त्रिधा विभजनमिति पुनःशब्दार्थः ॥३२८॥

तत्र—

अपरः षोडशो यावत्

षोडशः पूर्वोक्तो महाकल्पाख्यो यावदपरः स्थूलः ॥

कालः सप्तदशः परः ।

पराख्ययैव पूर्वं निर्दिष्टः ॥

परापरस्तु यः कालः स प्रियेऽष्टादशः प्रभुः ॥३२९॥

परापर इति परादपि परः, अष्टादशः परार्धाख्यः प्रभुः सर्वकालावयवव्यापी ॥३२९॥

तदित्थम्—

प्राण एवं त्रिधा कालं कृत्वा चैव त्यजेत् पुनः ।

प्राणं प्राणीयोर्ध्वंतुट्यर्धे पूर्वं वर्णैः कारणत्यागावसरेऽनुनिष्पादितया-ष्टादशावयवकलात्यागो मन्त्रोच्चारयुक्त्योक्तः। इदानीं तु योगक्रमेण प्राण-चारस्थित्या सप्तदशावयवं कालं यत्नेन त्यक्त्वाष्टादशे कालविषुवति विश्रमि-तव्यमिति पुनःशब्दार्थः ॥

त्रिधा विभक्तस्य कालस्य पूर्वोक्तं स्थानविभागं स्मारयति—

अपरः शक्तिमूर्धस्थो व्यापिन्यां च द्वितीयकः ॥३३०॥
तृतीयः समनास्थाने तत्कालविषुवत् स्मृतम् ।

यस्तृतीयस्तत्कालविषुवदिति संबन्धः ।

तदूर्ध्वं हि—

'न कालस्तत्र विद्यते' (४।२८७) इत्युक्तम् ॥३३०॥

तदित्थम्—

एतत्षष्ठं समाख्यातं

अथ—

सप्तमं तात्त्वमुच्यते ॥३३१॥

तदाह—

उन्मना परतो देवि तत्रात्मानं नियोजयेत् ।
तस्मिन् युक्तस्ततो ह्यात्मा तन्मयश्च प्रजायते ॥३३२॥

परत इति समनायाः, य एवात्मन उन्मनायोगः ॥३३२॥

तदेव—

तत्त्वाख्यं विषुवद् देवि सर्वेषां परतः स्थितम् ।

उपसंहरति—

विषुवदेवंविधं ज्ञात्वा को न मुच्येत बन्धनात् ॥३३३॥
विषुवत्ते समाख्यातं

इदानीं परम्पराविनाभूतान् पञ्चपदार्थाल्लक्षयितुमुद्दिशति—

पदार्थभेदनं शृणु ।
त्यागं चानुभवं चैव योजनं च परे पदे ॥३३४॥

पदानि वक्ष्यमाणप्रमाणकानि हृदादिस्थानानि, तत्र तत्तत्कारणानुभवकारित्वेनार्थ्यन्त इति पदार्था अकारादिसमनान्ता एकादश तेषामेव भेदनमनुभवयुक्त्या स्ववशीकरणम्, यथा भेदिता माण्डलिका भूभुज इति। अत्र चावश्यमधराधरत्यागे सति उत्तरोत्तरपदार्थानामनुभवोऽस्ति, स एव च पूर्वं सम्यग्योगरूपः संयोग इत्युद्दिष्टः, भेदनपर्यन्ते च परे पदे योजनमवश्यभावि, तच्च पूर्वं सर्वोर्ध्वभावनात्मत्वात् पदेनोद्दिष्टम् ॥

तत्र—

पदार्थैकादशी ज्ञेया

या च पूर्वं निर्णीता।

तत ऊर्ध्वं तु—

उन्मनान्तः परो भवेत्।

पदार्थ इत्यर्थः ॥

अतस्तत्रावस्थितये तां पदार्थैकादशीम्—

भेदयेज्ज्ञानशूलेन

समनन्तरनिर्णेष्यमाणपरशक्तिस्फारप्रकाशरूपं यज्ज्ञानं तदेव समरसीभूतेच्छादिशक्तित्रयसंवृता(रा)रूपतोन्मीलितातितैक्ष्ण्येन भेदकत्वात् शूलम् ॥

न केवलमेतद्भेदकं यावत्—

ज्ञानं ज्ञेयस्य ज्ञापकम् ॥३३५॥

ज्ञेयमिह परं तत्त्वम् ॥

अत एवास्य—

ज्ञापकं बोधमतुलं

परशक्तिप्रथात्मकं न तु विषयानुभवरूपं बोधमिति(स्थिति ? द्वितीया)-निर्देशश्छान्दसः ॥

अत्र हेतुः—

दीपवद्द्योतनं यतः।

एतत् स्फुटयन् ज्ञानौपयिकं ज्ञेये विश्राम्येदित्याह—

दीपहस्तो यथा कश्चिद् द्रव्यमालोक्य चाहरेत् ॥३३६॥

एवं ज्ञानेन च ज्ञेयं तस्मिन् कुर्यात्तु संस्थितिम्।

दीपज्ञानयोरंशमात्रेण दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकभावः ।।

न तु दीपवद् ज्ञानं ज्ञेयाद्भिन्नमित्याह—

ज्ञानं वै लक्षणं प्रोक्तं ज्ञेयतत्त्वस्य सुव्रते ।।३३७।।

न च कमण्डलुनेव छात्रो ज्ञानेन परं तत्त्वं लक्ष्यते इत्याह—

लक्षणं गुण आख्यातः

असाधारणस्तत्त्वव्यवस्थापको हि धर्मो लक्षणम् ।।

अत एव तत्—

कला तत्त्वस्य सर्वदा ।

तत्त्वस्य प्रत्यभिज्ञेयस्य परमशिवस्य सर्वं ददाति द्यति चेति व्युत्पत्त्या विश्वसर्गसंहारकारिणी स्वातन्त्र्याख्या सर्वदा च नित्यावियुक्ता कला शक्तिरेव लक्षणम् । उक्तं च श्रीविज्ञानभैरवे—

'यथालोकेन दीपस्य किरणैर्भास्करस्य वा ।
ज्ञायते दिग्विभागादि तद्वच्छक्त्या शिवः श्रितः ।।
(वि० भै० २१)

इति ।।

एतादृक्छक्त्यात्मना—

न गुणेन विना तत्त्वं न तत्त्वेन विना गुणः ।।३३८।।

शिवशक्त्योर्नित्यलोलीभाव इत्यर्थः ।।

एवमपि—

गुणं गृह्णन्ति सर्वत्र न तत्त्वं गृह्यते क्वचित् ।

धर्ममुखेनैव शिवो धर्मी प्रथते विशेषतः परमशिवात्मा, तस्मिन् विश्वनिर्भरे शक्त्युपायं विना स्वतोऽनुप्रवेशायोगात् ।।

युक्तं चैतदित्याह—

गृह्यते ह्यनुमानेन प्रत्यक्षानुभवेन च ।।३३९।।
अर्थिप्रत्यर्थिभावेन आगमेन तु लभ्यते ।

तत्त्वादेर्विश्वस्य संनिवेशविशेषवत्त्वात् तत्तत्कर्तुरनुमानं तावद्विश्वज्ञत्वकर्तृत्वमुखेनैव प्रत्यक्षानुभवोऽपि योगिनां प्रोक्तशक्तिद्वारक एव ।

(*) 4.341-356 and also 4.262-267 for a table of correspondences ([illegible]) see [illegible] Table 23, p. 291 ([illegible] SV)

यथोक्तम्—

'तदास्याकृत्रिमो धर्मो ज्ञत्वकर्तृत्वलक्षणः' (स्प० ।१०)

इति। अर्थी प्रष्टा, प्रत्यर्थी संशयच्छेदको वक्ता, तयोर्भावोऽनुग्राह्यानुग्राहकत्वात्मा, तेन यः प्रवृत्त आगमस्तेनापि शब्दनरूपेण नियतशक्तिद्वारकमेव तत्तत्त्वं लभ्यते ॥

उक्तयोगिप्रत्यक्षैकयोगक्षेमतामागमस्य कथयति—

आगमो ज्ञानमित्युक्तमनन्ताः शास्त्रकोटयः ॥३४०॥

अनन्ताः शास्त्रकोटयो यः पारमेश्वर आगमस्तज्ज्ञानं परशक्तिस्फाररूपमित्युक्तम्। आ समन्ताद्गमयति अभेदेन विमृशति पारमेशं स्वरूपमिति कृत्वा परशक्तिरेवागमस्तत्प्रतिपादकस्तु शब्दसंदर्भस्तदुपायत्वात् शास्त्रस्य ॥३४०॥

कथं परशक्त्यात्मत्वमित्याह—

शास्त्रं शब्दात्मकं सर्वं शब्दो हंसः प्रकीर्तितः।

यत् किंचित् क्वचिच्छासनाच्छास्त्रं तच्छब्दात्मकं पञ्चाशद्वर्णशब्दराशिसतत्त्वं शब्दराशिश्च हंसोच्चारात्मा हंसोच्चारश्च परशक्त्यनुभवस्फारसार इति ॥

निर्णीतमेतदित्याह —

हंसयोगः पुराख्यातः

तेन सर्वप्रमाणानां शक्तिविषयत्वात् शक्तिमद्रूपमप्रमेयमेवेति युक्तमुक्तं गुणं गृह्णन्ति सर्वत्र इति संगतिः।

भेदयेत् ज्ञानशूलेनेत्युपक्रम्य भेदयेन्मन्त्रशूलेनेति प्रतिपादयिष्यति। अतो ज्ञानसतत्त्वं वर्णमन्त्रोच्चारकालम्, तेन च वाच्यवाच वाचकयोर्वर्णदेवतयोः संबन्धम् तद्वाच्यदेवताश्रयहृदयादिस्थानपरिमाणं च वक्तुमासूत्रयति—

मात्रासंख्या त्वथोच्यते ॥३४१॥ (*)

मात्रायोगो यथा चास्य प्रमाणं हृदयादिषु।

मात्रा अकारादिवर्णोच्चारकालः। अस्येति भेदकस्य मन्त्रोच्चारात्मनो हंसोच्चारस्य यथा मात्राभिर्योगो यथा चोच्चारणास्पदानां हृदादीनां प्रमाणं तत्सर्वमुच्यत इत्यर्थः।

तत्र प्रमाणं तावदाह—

नाभेरूर्ध्वं वितस्त्यन्ते कण्ठाधस्तात् षडङ्गुले ॥३४२॥
हृदयं मध्यदेशे तु चतुरङ्गुलसंमितम् ।

वितस्तिः द्वादशाङ्गुलानि तदन्ते, कण्ठाधस्तात् षडङ्गुले अवधिभूते क्षेत्रद्वये यो मध्यदेशस्तत्र चतुरङ्गुलो हृद्ग्रन्थिः इति संबन्धः ॥

अत्राधिष्ठातारमाह—

चतुर्विंशतितत्त्वैस्तु ब्रह्मा तत्र व्यवस्थितः ॥३४३॥

सहार्थे तृतीया, प्रकृत्यन्तमधिष्ठाय ब्रह्मात्र स्थित इत्यर्थः ॥

तदूर्ध्वम्—

कण्ठमष्टाङ्गुलं विद्धि विष्णुस्तत्र व्यवस्थितः ।
तत्त्वषट्केन संयुक्तः

पुमादिकलान्तेन ॥

तदूर्ध्वं चतुरङ्गुलम् ॥३४४॥

तत्र च—

मायातत्त्वं समाश्रित्य रुद्रस्तालुतले स्थितः ॥

तदूर्ध्वम्—

अङ्गुलद्वयमानं तु भ्रुवोर्मध्यं प्रकीर्तितम् ॥३४५॥
तत्रेश्वरः स्थितो देवि तत्त्वद्वयसमन्वितः ।

तत्त्वद्वयं शुद्धविद्येश्वराख्यम् ।

ततोऽपि—

एकादशाङ्गुले चैवमूर्ध्वं देवः सदाशिवः ॥३४६॥
तत्त्वद्वयसमायुक्तो यावद् ब्रह्मबिलं गतः ।

सदाशिवतत्त्वशक्तितत्त्वाभ्यां युक्तः । एवं च वदन् अर्धचन्द्रादिनादान्ते श्रीसदाशिवोऽधिष्ठाता इति शिक्षयति, तत्त्वव्यवस्थया तु निरोध्यन्तमीश्वरतत्त्वस्य नादान्तान्तं सदाशिवतत्त्वस्येति वक्ष्यमाणनीत्या तत्त्वव्याप्तेरन्यैवेयमीश्वरसदाशिवाख्यदेवताव्याप्तिः ॥

तदूर्ध्वैकाङ्गुला शक्तिः

XX note on p. 229

शक्तिग्रन्थिस्थानमित्यर्थः ।

शिवस्तत्र व्यवस्थितः ॥३४७॥

अनाश्रिताख्यः ॥३४७॥

अत्रैव चाङ्गुले—

त्वक्छेषे व्यापिनी प्रोक्ता समना च

सापि भूः शिवेनैवाधिष्ठितेत्यर्थः । शक्तिव्यापिनीसमनाख्याः शिवतत्त्वभूमयः, शिवाख्यकारणाधिष्ठिता इत्यर्थः । एवं च वदन्नापादाद्बाह्यमानेन यत्षण्णवत्यङ्गुले मुण्डान्तस्थानम् तदेवेह द्वादशान्तमान्तरव्याप्त्याहावधेस्तावतः षट्त्रिंशदङ्गुलत्वेन विभजनादिति ध्वनति । अन्यत्र दृश्यमानोर्ध्ववाहिधूमलेखान्तं बाह्यमानेनाष्टोत्तरशताङ्गुलान्तं तदुच्यते मुण्डान्तात् प्रभृति च निरावरणता, इत्युभयथा प्रतिपादनेऽपि न किंचित्प्रमेयवैषम्यम्, बिन्द्वादिसमनान्तप्रमेयसोपानमालिकायाः सर्वत्र स्थानसाम्येनाभिधानात् ॥

एवं कारणषट्कास्पदस्थानषट्कप्रमाणमुक्त्वा निष्प्रमाणकं सप्तमं पदं परमशिवाधिष्ठितमित्याह—

उन्मना ततः ।

तत्परं तु परं तत्त्वं प्रमाणपरिवर्जितम् ॥३४८॥

पदार्थभेदनाङ्गतया—

मात्रासंख्या च योगश्चाधुना हंसस्य कथ्यते ।

हंसस्येति तदभिन्नस्य निष्कलस्य । यद्यपि—

'मात्रासंख्या त्वथोच्यते । मात्रायोगो यथा चास्य' (४।३४२)

इति पूर्वमेवोद्दिष्टम्, तथापि ब्रह्मादिकारणाधिष्ठितहृदादिप्रमाणमुक्त्वा यदिदानीं निर्णीयते तद्युक्तमेव, स्थानाश्रयणक्रमेणैव हि वाचकवर्णकलाकालविश्रान्त्या वाच्यदेवताव्याप्त्यनुभवरूपं पदार्थभेदनं भवति ।

तत्र —

अकारश्च हकारश्च द्वावेतावेकतः स्थितौ ॥३४९॥ XX

विभक्तिर्नानयोरस्ति मारुताम्बरयोरिव ।

अकारोऽनुत्तरशक्तिविमर्शात्मा, हकारश्च शांभवविमर्शनस्वरूपः, शिवशक्त्योश्चाभेदाद् एतौ खवायुवदेकत्र ऐक्येन स्थितौ विश्वामर्शिनः स्वयमुच्चरतोऽनच्कहकारस्य शिरोरेखारूपाकारकलानुप्रवेशात् ॥

एकमात्रः स विज्ञेयो हृदयात् संप्रवर्तते ॥३५०॥

स इत्यकारयुक्तो हकारः केवलस्त्वनुच्चार्यत्वादकालकलित एव ॥३५०॥

ऊकारस्तु द्विमात्रो वै कण्ठस्थाने समुच्चरेत् ।
त्रिमात्रस्तु मकारो वै तालुमध्यगतश्चरेत् ॥३५१॥

त्रिमात्रत्वं गीतिकाक्षरस्वरमध्येऽक्षरशून्यपदोच्चारवत् ॥३५१॥
प्लुतोच्चारयुक्त्या मात्राभेदं स्थूलस्थित्योक्त्वा, सूक्ष्मस्थित्याप्याह—

बिन्दुश्चैवार्धमात्रस्तु

अनुस्वारोच्चाररूपः ॥

कुत इत्याह—

मात्रार्धं हि स उच्यते ।

वक्ष्यमाणयुक्त्या भेदितग्रन्थेर्योगिनो मात्रार्धमेव तदुच्चारो भवतीति ॥

अस्य स्थानमाह—

भ्रुवोर्मध्ये स उच्चारस्तस्य देवि विधीयते ॥३५२॥

भेदितग्रन्थिभिर्योगिभिः ॥३५२॥
अथास्यैव विगलद्विभागध्वन्यात्मनोऽनुनिर्ह्लादरूपः—

तच्छेषाच्चार्धचन्द्रस्तु पादमात्रस्त्वसौ भवेत् ।

मात्राया इत्यर्थात्

निरोधी चार्धपादस्तु

सोऽयमर्धचन्द्रो निरोधीयमन्त्रैकदेशः ।

ललाटान्ते समुच्चरेत् ॥३५३॥

ललाटाग्रतदग्रभागात्मन्यन्तद्वये द्वावुच्चरत इत्यर्थः ॥३५३॥

अत ऊर्ध्वम्—

नादः षोडशकांशस्तु मूर्धान्तं यावदुच्चरेत् ।

नादस्य नादान्तः पल्लवप्राय इति पृथङ् नोक्तः ॥

अत ऊर्ध्वम्—

द्वात्रिंशदंशा शक्तिस्तु षट्त्रिंशान्ते समुच्चरेत् ॥३५४॥

प्राणचारस्य यत्षट्त्रिंशदङ्गुलं तल्लक्षणान्ते सम्यक् शान्तभेदस्पर्शमात्रानुभवात्मतया उच्चरेत्। इह एकत्रैव षट्त्रिंशदङ्गुलरन्ध्रान्ते शक्तिः, त्वकशेषे व्यापिनी, केशदेशे समनेति स्थितिः ॥३५४॥

तत्र शक्तेर्मानमुक्तं व्यापिनीसमनयोराह

व्यापिनो चतुःषष्टयंशा शक्तेस्तु परतः स्थिता।

समना च

चतुष्षष्टयंशैव, एवं चेमौ चतुष्षष्टयंशावेकीकृतौ द्वात्रिंशांशः सोऽपि शक्त्यात्मद्वात्रिंशांशेन सह मिलितः षोडशांशो जायते, सोऽपि नादीयश्च षोडशांशोऽष्टांशो जातः सोऽपि निरोध्यष्टांशेन सह चतुर्थांशः स्थितोऽर्धचन्द्रः, अपरश्चतुर्थांशो बिन्दुरर्धमात्रेत्येष मात्रा मकारान्ताश्च षण्मात्रा इति समनान्तमात्रासप्तकक्रोडीकृताशेषाक्षे पिभाविदेवीसप्तकोऽयममात्रोन्मनापरतत्त्वसतत्त्वः श्रीनिष्कलनाथः। यत्तु

'.........परार्धः परतः स्थितः।

सोऽष्टादशस्तु तं देवि समनान्ते परित्यजेत् ॥' (८।२८६)

इत्युक्तम्, तद्वाच्यदेवतावधिभूतबाह्यस्थूलकालप्रशमनपरमिदं तु मन्त्रावयवगतातिसूक्ष्मोच्चारकालप्रतिपादनपरमिति न काचिद्धानिः। अतश्च सूक्ष्ममन्त्रकलोच्चारकालेनैव बाह्यतत्त्वगतसंभाव्यमानविततविततमपि कलाध्वानं वटधानिकादलनेन वटदलनवद्योगीन्द्रः प्रशमयेदिति निरूपितं भवति। अत्र च मन्त्रावयवविमर्शकाले तत्तद्वाच्यदेवतानुभवोऽधराधरानुभावस्य चोर्ध्वोर्ध्वपदानुभावात्मसाद्भावो भवतीति मन्तव्यम् ॥

समनाया अपि—

उन्मना चोर्ध्वममात्रः परमोऽव्ययः ॥३५५॥

उन्मनया सह परमशक्तिमान् व्ययहीनत्वादमात्रो मात्रार्धमात्रादिकालस्पर्शरहित इत्यर्थः ॥३५५॥

एतदुपसंहरति—

मात्रासंख्या च योगश्च प्रमाणं परिकीर्तितम्।

तदेतत्सर्वम्—

एवं ज्ञात्वा वरारोहे पदार्थान् भेदयेत्ततः ॥३५६॥

वरारोहे इति प्राग्वत् ॥३५६॥

कथम्—

भेदयेन्मन्त्रशूलेन मुद्राभावयुतेन च ।

प्राङ्निर्णीतज्ञानशूलसतत्त्वेन मन्त्रशूलेन, मुद्रया वक्ष्यमाणकरणरूपया, भावेन जिज्ञासाजिज्ञासितानुभवात्मना युक्तेन ।

त्रयमेतद् ज्ञानक्रियेच्छाशक्तिस्फारसारमत एतच्छक्तिमयमहेश्वरैकात्मा गुरुर्भेदनं कुर्यादिति प्रकाशयति—

cf. 11·6-7 **मन्त्रो वै ज्ञानशक्तिश्च मुद्रा चैव क्रियात्मिका ॥३५७॥**

भावश्च मन इत्युक्तं तन्मनो बुद्धिपूर्वकम् ।

मनः सततं मननमनुभवो बुद्धिपूर्वकमिति निश्चित्य प्रवृत्तस्य तत्तदनुभवलाभात् । भेदनं चैतत्परतत्त्वव्याप्त्यर्थम् ॥

परतत्त्वव्याप्तिश्च जिज्ञासाप्रमुखकरणबन्धे मन्त्रोच्चारोन्मिषत्पूर्णस्वसंवेदनत इत्याह—

परश्च मनसा गम्य इच्छाशक्त्या त्वधिष्टितः ॥३५८॥

मनसा स्वसंवेदनेनेच्छाशक्त्या तत्परमार्थतया जिज्ञासयाधिष्ठितः प्रथमं विषयीकृत इत्यर्थः ॥३५८॥

युक्तं चैतत्, यतः—

यत्र यत्र भवेदिच्छा ज्ञानं तत्र प्रवर्तते ।

क्रियाकरणसंबन्धात्

योगात् क्रियाया व्यापारस्य करणस्य च तद्व्यापारोचितशरीरसंनिवेशस्य सम्यग् बन्धाद् जिज्ञासितेऽर्थे ज्ञानं भवतीत्यर्थः ॥

तदित्थं शक्तित्रयात्मशिवावेशज्ञस्य गुरोः—

तत्त्वस्योच्चारणं भवेत् ॥३५९॥

तत्त्वं वीर्यसारो मन्त्रः ॥३५९॥

XX See note on p. 229

अत्रैव भरं दर्शयितुमप्यर्थलब्धं व्यतिरेकमाह—

क्रियाकरणहीनस्य न चैवोच्चारणं भवेत् ।

करणभेदेन क्रियाभेदं सम्यग् मन्त्रोच्चारसिध्यदर्थं दर्शयितुमुपक्रमते—

क्रिया करणभेदेन सा चैव त्रिविधा स्मृता ॥३६०॥

तत्र—

एकेनोच्चारयेत्तत्त्वं करणेन विचक्षणः ।

ऊर्ध्वरेचकेन

नाडीश्चाथ द्वितीयेन द्वाराणि च निरोधयेत् ॥३६१॥

कुम्भकेन

तृतीयं करणं दिव्यं कृत्वा वै तत्त्वमुच्चरेत् ।

तत्त्वं निष्कलं तेन कुम्भकेन द्वाराणि निरोध्य दिव्यं करणं बद्धवा ऊर्ध्वरेचकेन मन्त्रमुच्चारयेत्, इत्ययमत्र क्रमः ॥

तमेव स्फुटयितुमुपक्रमते—

पूरकं कुम्भकं कृत्वा सर्वद्वाराणि रोधयेत् ॥३६२॥ XX

कुम्भकावसर एव ॥३६२॥

तानि—

गुदद्वारेण रुद्धेन रुद्धान्यत्र भवन्ति हि ।

रोधश्चास्य संकोचविकासाभ्यामावेशवशेन कार्यः ।

एवं कृत्वा—

द्वारमेकं ततश्चोर्ध्वे प्रवहत्तद्विचिन्तयेत् ॥३६३॥

मध्यनाडिरूपं विचिन्तयेत् न तु संप्रत्येव वाहयेत् ॥३६३॥

तथा सति हि—

नाडयो ग्रन्थिपद्माश्च येऽधोमुखगताः प्रिये ।

ते कुम्भकेन संरुद्धा विकसन्ति समन्ततः ॥३६४॥

प्राणशक्तिकौटिल्यधामानि हृदयादीनि ग्रन्थयः। संकोचविकासधर्मत्वात् पद्मानि। तानि चापानशक्तिप्रवाहवशादधोमुखानि विकसन्तीत्यूर्ध्ववाहोन्मुखीभवन्ति ।३६४॥

इत्थं कुम्भकादनन्तरम्—

करणं तु ततः कृत्वा

अत्र च 'तत्त्वस्योच्चारणं कुरु' (४।३६७)

इति दूरेण संगतिः। मध्ये तु करणलक्षणम् ॥

तदाह—

लक्षणं तस्य वै शृणु ।
जिह्वा तु तालुके योज्या किंचिदूर्ध्वं न संस्पृशेत् ॥३६५॥
ईषत्प्रसार्य वक्त्रं तु किंचिदोष्ठौ न संस्पृशेत् ।
दन्तपङ्क्ती तथैवेह दृष्टिश्चाधोर्ध्ववर्जिता ॥३६६॥
कायं समुन्नतं कृत्वा करणं दिव्यमुच्यते ।

अत्र जिह्वायास्तालुयोजने कुञ्चितत्वमर्थलब्धं किंचिदोष्ठौ नेति न किंचिदपि स्पृशेदिति योज्यम्, तथैवेति प्रसार्य न संस्पृशेदित्यर्थः। दृष्टेरध ऊर्ध्वं वर्जनं निश्चलतारकत्वेन विकल्पहानये समुन्नतामिति सम्यगविकृततयोन्नतं दिवि परसंविल्लाभे उपायतया भवं दिव्यम् ॥

तदित्थम्—

दिव्यं च करणं कृत्वा तत्वस्योच्चारणं कुरु ॥३६७॥

चकारात् कुम्भकमूर्ध्वरेचकं च तत्त्वं मूलमन्त्रः ॥३६७॥
अत्र दिव्यकरणावसरे ऊर्ध्वरेचकमपि कुर्वीतेत्याह—

कुम्भितश्चैव यः प्राणो रेचयेत्तं शनैः शनैः ।

ऊर्ध्वमित्यर्थात् ॥

तथा सति हि—

नाड्यो ग्रन्थिपद्माश्च देहे याः संव्यवस्थिताः ॥३६८॥
रेचकेन समाक्षिप्ता ऊर्ध्वस्रोतो भवन्ति ते ।

मध्यवाहरूपतां यान्तीत्यर्थः। अत्र च रोमाञ्चोद्गमोऽभिज्ञानम् ।
एव करणत्रयबन्धावहितः—

ततो वै ज्ञानशूलेन ग्रन्थीन् भिन्दन् समुच्चरेत् ॥३६९॥

ज्ञानशूलं पूर्वं निर्णीतम्, ग्रन्थीनां भेदो हृदयादिपदेषु प्राणशक्तेः स्पष्टीभावेन तत्तदनुभवलाभः, सम्यगविकल्पमुच्चरेत् स्वयमेवमूर्ध्वं प्रसरेत् ॥३६९॥

मन्त्र इति, अर्थादत्र भेदेन घटमानस्य योगिनो भावप्राप्तिवशादिति यः पूर्वं हेतुरुक्तः तन्निर्णयानुभवभेदान्निरूपयति—

भित्वा हृत्पद्मग्रन्थिं तु ततः शब्दः प्रजायते ।

यदाकाशसमायोगात्

सम्यगासमन्ताद्योगाद् मन्त्राद्यकलोच्चारैकाग्रतारूपात् । शब्द इति उपांशुरूपतयान्तरकारादिकलात्मा स्फुटं श्रूयमाणः ॥

स च—

घोषशब्दोपमो भवेत् ॥३७०॥

'श्रवणाङ्गुलिसंयोगाद्यः शब्दः संप्रवर्तते ।
दीप्तवह्निस्वनाभोगः स नादो घोष उच्यते ॥'[1]

इति लक्षितो घोषो दीप्ताग्नेर्यो धकधकाकृतिशब्दतुल्याकारश्रुतिरुच्चरतीत्यर्थः ॥३७०॥

कण्ठस्थो विरमेच्छब्दः कण्ठं प्राप्य वरानने ।

मन्त्रो विमर्शः कण्ठं प्राप्य यदा तत्स्थो भवति तदा घोषः शाम्येदित्यर्थः ॥

तत्र तु—

भिन्दतः कण्ठदेशं तु शब्दो धुगधुगायते ॥३७१॥

तद्रूपाकार उच्चरतीत्यर्थः ॥३७१॥

अतः उर्ध्वम्—

तालुमध्यगतः प्राणो यदा भवतिसुव्रते ।

भिन्दतस्तालुग्रन्थिं तु शब्दो घुमघुमायते ॥३७२॥

शोभनं व्रतं मध्यधामनिभालननियमरूपं यस्या सा सुव्रता, तत्संबोधनम् घुमघुमायते इति तदनुकृतिर्मकारकल्लोट्टचरतीत्यर्थः ॥३७२॥

तदत्र ग्रन्थित्रयभेदेन—

एवं तेऽनुभवाः प्रोक्ताः प्राणे चरति सुव्रते ।

---

१. धर्मारीवाचार्येण स्वयद्धलौ ।

प्रोक्तशब्दविषयाः

त्रयस्तेऽष्टकलाः प्रोक्ता उपर्युपरितः क्रमात् ॥३७३॥

इह एकादशे पटले—

अष्टधा तु स देवेशि व्यक्तः शब्दः प्रकीर्तितः ।
घोषो रावः स्वनः शब्दः स्फोटाख्यो ध्वनिरेव च ।
झांकारो ध्वंकृतश्चैव अष्टौ शब्दाः प्रकीर्तिताः ॥'

(स्व० ११।६७)

इत्युक्त्या व्यक्तस्य शब्दस्याष्टविधत्वं वक्ष्यति । अकारोकारमकाराश्च त्रयोव्यक्ता इति तदुच्चारस्थानेषु ग्रन्थिभेदानुभवविषयाणां शब्दानां घोषाद्यष्टकलत्वम्, यत्तु घोषोपम इत्युक्तम्, तत्र, घोषैकरूपत्वमपितु घोषसमानत्वमिति, तत्रापि रावादिशब्दाः सन्त्येव ॥३७३॥

तदित्थम्—

तिष्ठेत् स यत्र वै प्राण आत्मा तदगतिमाप्नुयात् ।

प्राणाश्रया संवित् तद्द्वारेणैव तत्तत्स्थानमाप्नोति ॥

तत्र—

तत्तद्रूपं भवेत्तस्य स्थानभावानुरूपतः ॥३७४॥

स्थाने हृदादौ भावस्तत्तत्कारणान्तर्भावः ।

एवं हृत्कण्ठतालुषु ब्रह्मविष्णुरुद्राधिष्ठितेषु सृष्टिस्थितिसंहाररूपतां प्राणावस्थितिक्रमेणात्मा भजते ।

भ्रुवोर्मध्यं यदा गच्छेत् स्फोटशब्दस्तु जायते ।

अनभिव्यक्तवर्णरूपस्फुटत्वादशब्दकल्पः स्फोटः ।

एष च—

बिन्दुं भेदयतो देवि शब्दो धुमधुमायते ॥३७५॥

बिन्दुमिति बिन्दुग्रन्थिं भिन्दतो बिन्दुकलाख्य एव मन्त्रावयवबोधो धुमधुमानुकृतिरुच्चरति । बिन्दुग्रन्थिभेदश्चायमपवर्गपदाधिरोहे प्रथमसोपानकल्प इत्यत्र भरः कर्तव्यो योगिभिः, तद्भेदे हि उल्लङ्घित एव भेदमयः संसारः ॥३७५॥

अन्यथा तु—

कपिर्वै नारिकीलेन आचार्यः सह बिन्दुना ।
अभिन्नेन कुतो मोक्षं सबाह्याभ्यन्तरं प्रिये ॥३७६॥

भजते इति वाक्यशेषः । दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकभावोऽत्रार्थलभ्यः, तेन यथा कपिर्नारिकेलेनाभिन्नेन कुतो मोक्षं भजते न भजते नारिकीलं रसास्वादायाभङ्क्त्वा न मुञ्चति, तथैवाचार्यो बिन्दुग्रन्थिना अभिन्नेन सहेति साकं दीक्ष्येण शिष्येणेत्यर्थात्, कुतः सबाह्याभ्यन्तरं कृत्वा मोक्षं भजते, वाह्यात् स्थूलाद् भावभूतशरीरादाभ्यन्तराच्च सूक्ष्मात् पुर्यष्टक-शून्यशरीरान्न मुच्यते, बिन्दुभेदात्तु मुच्यते एवेत्यर्थः । 'कपेर्वै नारिकेलेन तथाचार्यस्य बिन्दुना' इति स्पष्टः पाठः ॥३७६॥

अतश्च—

भित्वा बिन्दुं ततो देवि अर्धचन्द्रं विभेदयेत् ।
भिद्यतश्चार्धचन्द्रस्य ललाटे झिमिझिमायते ॥३७७॥

अर्धचन्द्रग्रन्थिं भिन्दतस्तत्स्थान एवार्धचन्द्राख्यो मन्त्रावयवो झिमिझिमानुकारो जायते इत्यर्थः । इत्थमुत्तरत्रापि योजना कार्या ॥३७७॥

अथ—

अर्धचन्द्रं तु भित्त्वा वै भेदयेत्तु निरोधिनीम् ।
तस्यास्तु भिद्यमानायाः शब्दः सिमिसिमायते ॥३७८॥

बिन्द्वादौ प्राग्वत् कलाव्याप्तिमाह—

स्थानत्रयमिदं देवि पञ्चपञ्चकलान्वितम् ।

तत्र बिन्दोः

'निवृत्तिश्च प्रतिष्ठा च विद्या शान्तिस्तथैव च ।'

(स्व० १० । १२१७)

इत्युपक्रम्य

'एतस्य वामदिग्भागे शान्त्यतीता ।' (स्व० १० । १२१८)

इति कलापञ्चकं वक्ष्यति । एवमर्धचन्द्रस्य

'ज्योत्स्ना ज्योत्स्नावती कान्तिः सुप्रभा विमला शिवा ॥'

(स्व० १० । १२२०)

इति, निरोधिन्या अपि

'रुन्धनी रोधिनी रौद्री ज्ञानबोधा तमोपहा ।'

(स्व० १० । १२२१)

इति कलापञ्चकं स्थानत्रयमिति वर्गीकरणमाद्यग्रन्थिभेदादेवापरग्रन्थिभेद इत्याशयात् । एवमुत्तरत्र ॥

तदित्थम्

प्राणस्य चरतस्तत्र यस्मिन् स्थाने स तिष्ठति ॥३७९॥

तत्तद्रूपो भवेदात्मा तां तां गतिमवाप्नुयात् ।

तत्रेति तेषु त्रिषु ईश्वरतत्त्वाधिष्ठितेषु स्थानेषु चरतः प्राणस्येति चरन्तं प्राणमनादृत्य संवित्प्रधानतया प्राणभूमिकां गुणीकृत्य यस्मिन् स्थाने स योग्यात्मा तिष्ठति, तत्तद्रूपतामनुभूय तत्तन्मयत्वमाप्नोतीत्यर्थः ॥

अथ—

निरोधिनीं भेदयित्वा ततो नादं व्रजेद्बुधः ॥३८०॥

वंशशब्दसमः शब्दस्तत्र सूक्ष्मः प्रजायते ।

सूक्ष्मत्वं पूर्वापेक्षमीश्वरतत्त्वम् ॥

ततोऽपि—

भेदयेन्नादसंस्थानं ब्रह्मरन्ध्रं सुदुर्भिदम् ॥३८१॥

भिद्यतो ब्रह्मरन्ध्रस्य शब्दः शुमशुमायते ।

नादस्य सम्यक् स्थानं विश्रान्तिर्यत्र तन्नादसंस्थानं ब्रह्मरन्ध्रं सुदुर्भिदं नादान्तपदं तदेव च ब्रह्मरन्ध्रमूर्ध्वकवाटछिद्रं सुदुर्भिदं सातिशयावधानैरेव भेत्तुं शक्यम् ॥

एवं नादनादान्तस्थानं सदाशिवाधिष्ठितं भित्त्वा—

शक्तिमध्यगतः प्राणो वंशनादान्तसंनिभः ॥३८२॥

शक्तिभेदस्पर्शाद्वंशनादान्ततुल्यो भवति, नतु शक्तिस्थानभेदाद्वंशनादस्य मधुरध्वनिरूपस्यान्तोऽनुरणनरूपः सूक्ष्मस्तत्तुल्यो भवति ॥३८२॥

अथ—

तां वै तु भेदयेच्छक्तिं दुर्भेद्यां सर्वयोगिनाम् ।

⊗ TAV, V, 2120 (on TA 29.31)

भिद्यते च यदा शक्तिः शान्तः शुमशुमस्ततः ॥३८३॥

दुर्भेदत्वं चास्याः, तदनुभवाह्लादस्य स्पृहणीयतमत्वेन त्यक्तुमशक्यत्वात्। शान्त इति प्रवृत्तिस्थानकरणाभिघातादेव शब्दवृत्तिः शाम्यति, इह तु शमित्वा आनन्दस्पर्शातमतामेतीत्यर्थः ॥३८३॥

किं च—

शक्तिं भित्वा ततो देवि यच्छेषं व्यापिनी भवेत्।
अनुभावो भवेत्तत्र स्पर्शो यद्वत् पिपीलिका ॥३८४॥ ⊛

शक्तिभेदानन्तरं यन्मन्त्रावयवरूपं वस्तु शेषमिति शिष्यमाणं तद्व्यापिनी भवेत्, शक्त्यन्तसर्वाध्वव्यापनाद् व्यापिन्याख्यो मन्त्रावयवः सः। 'तच्छेषे व्यापिनी भवेत्' इति तु स्पष्टः पाठः। तत्र चानुभवः प्रशान्तशब्दव्याप्तिकत्वात् स्पर्शप्रथारूपः यद्वत् पिपीलिकेति संचरन्तीनां पिपीलिकानामिवेत्यर्थः। पिपीलिका इत्यत्र नाशब्दस्य लोप ऐश्वरः ॥३८४॥

अत्रापि कलाविभागमाह—

स्थानत्रयमिदं देवि पञ्चपञ्चकलान्वितम्।

तत्र नादस्थाने श्रीसदाशिवाधिष्ठिते

'इन्धिका दीपिका चैव रोचिका मोचिका तथा।
ऊर्ध्वगा' (स्व० १०।१२२६)

इति वक्ष्यमाणाः पञ्च कलाः, शक्तितत्त्वे व्यापिनीपदे च श्रीशिवनाथाधिष्ठिते क्रमेण—

'सूक्ष्मा चैव सुसूक्ष्मा च तथा चैवामृतामिता।
व्यापिनी' (स्व० १०।२१४२)

इति पञ्च कलाः,

व्यापिनी व्योमरूपा चानन्तानाथा त्वनाश्रिता।'
(स्व० १०।१२५०)

इति पञ्चैताश्च सर्वाः स्वावसरे निर्वक्ष्यामः।

यत एवं ततः—

यत्र यत्र चरेत् प्राणस्तत्तद्रूपमवाप्नुयात् ॥३८५॥

प्राणो जीवस्तत्तदनुभवं प्राप्नोतीत्यर्थः।

तदनुभवाभ्यासप्रकर्षात् तु—

यत्र यत्रावतिष्ठेत तां तां गतिमवाप्नुयात् ।

तत्तदात्मैव भवतीत्यर्थः ।

एवं च —

'समनान्तं वरारोहे पाशजालमनन्तकम् ।' (स्व० ४।४३२)

इति वक्ष्यमाणमेतत्सर्वम्—

तस्माद्वै सुप्रयत्नेन भित्वा याति परां गतिम् ॥३८६ ॥

शोभनः प्रयत्नो दिव्यकरणधाराधिरोहरूपः ॥३८६॥

अत्र क्रममाह—

भित्वा वै व्यापिनीं देवि समनायां मनस्त्यजेत् ।
मनसा तु भवस्त्यक्त्वा जीवः केवलतां व्रजेत् ॥३८७ ॥

मन इत्यविकल्पं चेतः । मनसेति स्पर्शपर्यन्तस्य मन्तव्यस्य क्षीणत्वात्, अविकल्पमननमात्ररूपेण चित्तेनैव तादृशमेव च मन एकाग्रताप्रकर्षात् त्यक्त्वा वेद्याभासजिघृक्षासंकोचरूपं स्वं वेदनं प्रशमय्य जीव आत्मा केवलत्वमेति शुद्धो वेदितृमात्ररूपो भवतीत्यर्थः ॥३८७॥

एवं 'भेदनं च पदार्थानां भावप्राप्तिवशात्' इत्युपक्रान्तं निर्वाह्य क्रमप्राप्तामात्मव्याप्तिमाह—

जीवो वै केवलस्तत्र आत्मज्ञानक्रियान्वितः ।
बन्धनाशेषनिर्मुक्तः सत्तामात्रस्वरूपकः ॥३८८ ॥
समस्ताध्वपदातीतः शुद्धविज्ञानकेवलः ।
गृह्णाति नापरं भावं न परं च शिवात्मकम् ॥३८९ ॥
परापरविनिर्मुक्तः स्वात्मन्यात्मा व्यवस्थितः ।

यो जीवः प्राणनात्मा, स तत्र समनोर्ध्वे यतः समस्तमध्वपदमतीतोऽत एवाशेषेण मलत्रयरूपेण बन्धेन निःशेषेण वासनापर्यन्तेन मुक्तस्ततश्च सत्तामात्रस्वरूपो भावाप्रतियोगिप्रकाशमात्रतत्त्वो य आत्मा आत्मीयाभ्यां स्वोचिताभ्यां ज्ञानक्रियाभ्याम्, न तु परमशिवसंबन्धिनीभ्यां सामरस्यावस्थितिसतत्त्वाभ्यामन्विता व्याप्ता न तु सांख्यादिमुक्तरूपः । एष च मायोर्ध्ववर्त्याणव-

मलयुक्तविज्ञानकेवलवैलक्षण्यात् शुद्धो विशिष्टेन चाशेषाध्ववेद्यीकरणात्मना, न तु मायापुंविषयकरूपेण ज्ञानेन, तेनैव च केवलो न तु मन्त्रमन्त्रेश्वरवर्गद्वि-येनापि संपृक्तः अत एवापरं शिवं सदाशिवरूपं स्वभावं न गृह्णाति, न च परं परमशिवरूपं स्वच्छस्वच्छन्दचिदानन्दघनम्, अतश्च अयं व्याख्यातपरापर-रूपाद् विनिर्मुक्तस्त्यक्तापरारूपोऽप्यप्राप्तपरस्वभाव स्वात्मन्येव बोद्धृता-मात्ररूपे व्यवस्थितः ॥

न चैवात्र संतोषः कार्यं इत्युपसंहारदिशा दिशन्नन्यदवतितारयिषु-राह—

आत्मव्याप्तिर्भवेदेषा शिवव्याप्तिरतः परम् ॥३६०॥

बन्धनाशेषभावेन सर्वाध्वोपाधिवर्जिता ।

एषेति समनान्तस्थिता, नतु सांख्यपातञ्जलाद्युक्ता, अस्यैव त्वात्मन उन्मनापदारोहेण चिदानन्दघनपरतत्त्वव्याप्तिरूपा शिवव्याप्तिर्यतः सा बन्ध-नानामाणवादीनां मलानामशेषभावेन

'समनावधिपर्यन्तः कलङ्काधार उच्यते' (स्व० ७।२२६)

इति भाविनीत्या समनान्तेन प्रसरेण ये पूर्वोक्ता सर्वेऽध्वरूपा उपाध-योऽवच्छेदकास्तैर्विशेषेण समस्तबन्धनप्रशमसंस्कारात्मनापि वर्जिता शुद्ध-विज्ञानकेवलतायां समनान्तसमस्तबन्धनप्रशमेऽपि तन्निवृत्तिसंस्कारभावेनाव-च्छेदकत्वात् सोपाधित्वम्, परमशिवता तु विश्वोत्तीर्णविश्वमयस्वतन्त्रचिदा-नन्दघनानवच्छिदैव ॥

यत ईदृशी शिवव्याप्तिस्ततः—

अविदित्वा परं तत्त्वं शिवत्वं कल्पितं तु यैः ॥३६१॥

त आत्मोपासकाः शैवे न गच्छन्ति परं शिवम् ।

यैरिति शैवपाशुपतलाकुलादिभिर्नानात्मवादिभिः शिवत्वं कल्पितमा-त्मनां व्यापकत्वनित्यत्वामूर्तत्वचित्त्वस्रष्टृत्वाद्यनन्तधर्मसाम्येन शिवैकरू-पाणामपि केनचित्कल्पनामात्रेण निर्युक्तिकेन भिन्नाशिवरूपत्वमुच्यते, ते सर्वे व्याख्यातव्याप्तिकात्मोपासकाः शैवेऽस्मिन्नद्वयनये परं शिवं व्याख्यातस्वरूपं न गच्छन्ति न तन्मयीभवन्ति, सांख्ययोगवेदान्तवाद्यादयस्तु अपरपदस्था एवेति केन तेषामियत्पदप्राप्तिसंभावनापि । अथ च सर्व एवात्मोपासकाः शैवेन पारमेश्वराद्वयदर्शनोक्तेन ज्ञानेन परं शिवं गच्छन्तीति तन्त्रेण सप्तमी तृतीये योज्ये । उक्तं च श्रीमृत्युजिति—

'ये वदन्ति न चैवान्यं बिन्दन्ति परमं शिवम् ।

त आत्मोपासकाः शैवे न गच्छन्ति परं पदम् ॥' (ने० त० ८।३०)

इति । अत्र हि परमशिवमन्यं वदन्ति, केवलं न चैव विन्दन्ति, न पुनः केनापि प्रमाणेन लभन्ते, साधयितुं शक्नुवन्तीत्यर्थः ॥

ते तु सर्वे—

आत्मतत्त्वगतिं यान्ति आत्मतत्त्वानुरञ्जिताः ॥३९२ ॥

आत्मतत्त्वरूपतायां तत्त्वं परमशिवाभेदाख्यात्यात्मा संकोचः तेन येऽनुरञ्जितास्तदाश्वस्ताः पाशुपताद्याः, त आत्मनो यत्तत्त्वं शुद्धविज्ञानकेवलतारूपं तद्गतिं लभन्ते, न तु तात्त्विकीं मुक्तिं भेदस्यापरित्यागादिति ॥३९२॥

मुक्तशिवसंसारं परिजिहीर्षुणा—

तस्मादात्मा परित्याज्यो यदीच्छेच्छिवमात्मनः ।

आत्मेति मुक्ताणुरूपता, शिवमिति मुक्तविकसितपरमशिवैकताम् ॥

तदित्थम्—

आत्मतत्त्वं ततस्त्याज्यं विद्यातत्वे नियोजयेत् ॥३९३॥

आत्मानमिति शेषः ॥३९३॥

कात्र विद्येत्याह—

उन्मना सा तु विज्ञेया

तां व्याचष्टे—

मनः संकल्प उच्यते ।

संकल्पः क्रमतो ज्ञानमुन्मनं युगपत् स्थितम् ॥३९४ ॥

संकल्प इच्छा, सा चेशितव्यविश्वक्रमासूत्रणात्मत्वात् क्रमतो ज्ञानमित्युक्तम् । उन्मनमुत्क्रान्तमुत्कर्षं च मनः प्राप्तं यत्र तदुन्मनम्, युगपदिति विश्वस्यासूत्रणावभासननिर्माणाद्यन्तनन्तशाखाशतभिन्नस्याप्यत्र नित्योदितानन्दघनस्वातन्त्र्यशक्त्याभासात्मत्वेनावस्थानात् ॥३९४॥

यत ईदृगुन्मनं ज्ञानमेवोन्मनाशक्तिः—

तस्मात् सा तु परा विद्या

मायान्तावधिकात्मतत्त्वोर्ध्वस्थशुद्धविद्यादिशिवत्यन्ताध्वव्यापकाद् विद्यातत्त्वादियमन्यैव विद्या ॥

यस्मादन्या न विद्यते ।

ईदृशीत्यर्थाद् एतयैव अशेषविश्वक्रोडीकारात् ॥

तदाह—

विन्दते ह्यत्र युगपत् सार्वज्ञ्यादिगुणान् परान् ॥३९५॥

परानित्यभेदरूपान् सर्वज्ञत्वादीन् यतो युगपदत्रोन्मनायां योगिवरो लभते, तत इयं परा विद्या 'विद्लृ लाभे' इति धात्वर्थानुगमात् ॥ ३९५ ॥

किं च—

वेदनानादिधर्मस्य परमात्मत्वबोधना ।
वर्जना परमात्मत्वे तस्माद्विद्येति सोच्यते ॥३९६॥

अनादिधर्मः स्वातन्त्र्यशक्त्यात्मा स्वभावः, तस्य वेदना विचारणा, आत्मनश्च यत्परमात्मत्वं शिवरूपत्वमस्ति, तस्त बोधना अवगमहेतुः, अत एवापरमात्मत्वेऽतद्विषये इयं वर्जना संपद्यते। तस्मात् 'विद विचारणे', 'विद ज्ञाने' इति धात्वर्थानुगमादियं विद्योच्यते ॥ ३९६ ॥

एवं च

तत्रस्थो व्यञ्जयेत्तेजः परं परमकारणम् ।
परस्मितेजसि व्यक्ते तत्रस्थः शिवतां व्रजेत् ॥३९७॥

तत्रेति उन्मनाख्यायां विद्यायाम् व्यञ्चयेदात्मीयमेवोन्मीलयेत् प्रत्यभिजानीयात्, तेजः चिज्ज्योतिः परमसंकुचितं परमकारणं परमशिवरूपम् अतश्च शिवतां व्रजेत् तदैकात्म्यमियात् ॥ ३९७ ॥

एतद्दृष्टान्ते नोपपादयति—

सुप्रदीप्ते यथा वह्नौ शिखा दृश्येत चाम्बरे ।
देहप्राणस्थितो ह्यात्मा तद्वल्लीयेत तत्पदे ॥३९८॥

देहमन्त्रप्राणात्मशिवपादानामौचित्यात् काष्ठारणिवह्नितच्छिखाम्बराणि दृष्टान्तः। तेनारणिमन्थनयुक्त्या सुप्रदीप्ते प्रज्वलिते वह्नौ सति यथा शिखा ज्वाला दाह्यं दग्ध्वाम्बरे दृश्यते, तत्र लयात् तदात्मभावं प्राप्तावलोक्यते, तद्विद्व्यकरणमन्त्रारणिसमुत्तेजनेन देहे यः प्राणस्तस्मिन् सुप्रदीप्ते मध्योर्ध्ववाह्यदानाग्नितामायाति देहे, स्थितो य आत्मा प्रोक्तशुद्धविज्ञानकेवलरूपो वह्निशिखातुल्यः समनान्तं समस्तं देहदारुं दग्ध्वा तस्मिन् पदे लीयते निरुपाधिपरमशिवैकात्म्यमेत्येवेत्यर्थः ॥ ३९८ ॥

इत्थमुक्तयुक्त्या परतत्त्वलीने—

तद्वदेवाभिमानस्तु कर्तव्यो दैशिकोत्तमैः ।

तद्वत् परमपदवदभिमानः पूर्णाहंविमर्शः कर्तव्यः स्वीकार्यः नतु पाशवे शरीराद्यहंभावे वर्तितव्यमेतदर्थमेवोत्तमपदम् ॥

तमभिमानं स्फुटयति—

अहमेव परो हंसः शिवः परमकारणम् ।३९९॥

एतत् पूर्वव्याख्याभिर्गतार्थम् ॥ ३९९ ॥

अतश्च—

मत्प्राणे स तु पश्वात्मा लीनः समरसीगतः ।

एवंविधस्य मम प्राणे प्रोक्तषडध्वव्याप्तिमये ॥

तं पूर्वोक्तयुक्त्या समरसीकृतम्—

मन्त्रकरणक्रियायोगाद्योजयामि परे शिवे ॥४००॥

मन्त्रो निष्कलः, कारणं दिव्यम्, क्रियायोगो द्वाररोधोर्ध्ववाहाधरपदत्यागग्रन्थिभेदनाद्यात्मा ॥ ४०० ॥

नचैतद्वचनमात्रेण घटते, अपि तु—

एवं यो वेत्ति तत्त्वेन अग्निवद् देहमध्यतः ।
यद्वद्वह्निशिखातीता तद्वद्योजयते परे ॥४०१॥

तत्त्वेनानुभवरूढ्या य एवमिति शिवाभेदं वेत्ति, स इन्धनकल्पस्य देहस्य मध्येऽग्निवत् पाशानुत्प्लोषयति, दीप्तभास्वज्ज्योतिर्मात्ररूपतया स्थितः शिष्यात्मानं परे शिवे योजयते, तदैकात्म्यमासादयति । कथम् ? वह्निशिखा अतिशयेन इता व्योम्नि लीना तदैक्यमाप्ता यद्वत् ॥ ४०१ ॥

अतश्च—

तस्मिन्युक्तः परे तत्त्वे सार्वज्ञ्यादिगुणान्वितः ।
शिव एको भवेद्देवि अविभागेन सर्वतः ॥४०२॥

युक्त इति योग ऐक्यम् । यथोक्तम्—

'योगमेकत्वमिच्छन्ति' (मा० वि ४।४)

इति। एक इत्यविभागेन, सर्वत इत्यनेन चाभिन्नशिववादस्य वास्तवत्वं ध्वनति। सर्वज्ञत्वादिकमिहाभेदसारं मन्तव्यम्, न तु मन्त्रादिवद्भेदविषयम् ॥ ४०२ ॥

भाविव्रितत्त्वदीक्षायां

'ज्ञात्वा तत्त्वे नियोजयेत्।' (स्व० ४।४०४)

इति यद्वक्ष्यति, तत्राप्येतदेव मन्तव्यमित्याह—

तत्त्वत्रयं परं ख्यातमपरं चाध्वमध्यगम्।
भेदनं तु पदार्थानां त्यागानुभवयोजनम् ॥४०३॥
पूर्वोक्तं च इदं सर्वं ज्ञात्वा तत्त्वे नियोजयेत्।

परं शुद्धात्मोन्मनापरशिवरूपं यत्तत्त्वत्रयं प्रकाशितम्, यच्चापरं स्थूलम् अध्वमध्यगमिति पञ्चमपटलभावितत्त्वभुवनाध्वदीक्षामध्ये मायासदाशिवशिवान्तव्याप्त्या आत्मविद्याशिवाख्यं तत्त्वत्रयं पूर्वं प्रायश्चित्तशुद्धावपि निर्णीतमेतत् त्रितत्त्वदीक्षायां प्रधानरूपम्, तथा पूर्वोक्तं भेदनादि चकाराच्चारं प्रमाणादिकं च ज्ञात्वा एतज्ज्ञानप्राधान्येनैव तत्त्वे परस्मिन् योजयेत् शिष्यमित्यर्थः। एतच्च दीक्षान्तरविषयमपोति मन्तव्यम् ॥ ४०३ ॥

अथेह परतत्त्वस्वरूपं निश्चिन्वन् भाविचतुर्भेदतत्त्वदीक्षामध्येऽसंगृहीतामप्येकतत्त्वदीक्षां प्रसङ्गेन सूचयितुमाह —

संक्षेपेण तु तत्त्वस्य व्याप्तिं शृणु सुरेश्वरि ॥४०४॥

सुराणां ब्रह्मादिशिवान्तानां कारणानामीश्वरि परस्वातन्त्र्यशक्तिरूपे ॥ ४०४ ॥

विद्यातत्त्वास्पदं बद्ध्वा विन्दुतत्त्वासने स्थितः।
नादशक्तितनुश्चैव व्यापिनीकरणान्वितः ॥४०५॥

विद्यातत्त्वे शुद्धविद्यायां प्रोक्तकरणावष्टम्भलभ्यमभ्यविकासेनास्पदमवस्थितिं बद्ध्वा, अथ च विद्याया मातृकायास्तत्त्वे मूलमन्त्रे वा स्थितिं बद्ध्वा, तदुच्चारावहितो भूत्वा मान्त्रे बिन्दुतत्त्वेऽभिन्नवेद्यज्योतीरूपेऽशेषविश्वविश्रान्तिस्थानत्वादासने स्थितोऽधिरूढः, नादो विमर्शमात्ररूपो ह्लादानुभवात्मकः शक्त्यन्तस्तनुः शरीरं यस्य, व्यापिनी शक्त्यन्ताध्वव्यापिका करणमान्तरमुपलब्धिसाधनं यस्य गुरोः, स सर्वं ज्ञात्वा तत्त्वे नियोजयेदिति पूर्वोक्तेन संबंधः ॥ ४०५ ॥

अस्य करणरूपा या व्यापिनी—

सर्वज्ञत्वावबोधेन समना

सैवेत्यर्थः ॥

अन्तश्चरा तु सा ।

सैवास्यान्तःकरणमित्यर्थः ॥

एवमीदृशे तत्त्वासने शरीरान्तर्बहिष्करणस्यास्य—

त्रितत्त्वं यत्परं प्रोक्तं तेन चापूरिता तनुः ॥४०६॥

परादिशक्तित्रयमयेन आत्मकल्पेनेत्यर्थः ॥ ४०६ ॥

एतच्च त्रितत्त्वं यस्मादध्वातीतं समनान्तमतिक्रम्य स्थितं तस्मात्परं तत्त्वम्, यत्तु मायासदाशिवशिवव्याप्त्या तदपरं यस्मादध्वमध्यगम्, अत एवापरेणात्मादितत्त्वत्रयेण धरादे शिवान्तस्यान्तःकृतत्वात् तदारब्धा—

अपरा सा तनुः स्थूला षट्त्रिंशत्तत्त्वकल्पिका ।

इयं पुनः—

तत्त्वत्रयं परं यच्च सर्वतत्त्वाध्ववर्जितम् ॥४०७॥

तेन चापूरिताशेषं सा तत्त्वाध्वपरा तनुः ।

समस्ताध्वातिक्रान्तं यत् शुद्धात्मादितत्त्वत्रयं तेनोक्तसतत्त्वनाशेषं कृत्वा आपूरिता सर्वात्मताभासनेन व्याप्ता या प्रक्रान्ता नादशक्त्यात्मा तनुः सा तत्त्वाध्वनः सकाशात् परा प्रकृष्टा ॥ ४०७ ॥

एवमीदृक्शिवाभेदविमर्शमय एव यथार्थ आचार्यो भवतीत्याह—

एवमाचरते यस्तु आचारं तु शिवात्मकम् ॥४०८॥

शिवेन सहचारित्वादाचार्यस्तेन चोच्यते ।

आचारः प्रोक्तस्फारानुप्रवेशः सहचारित्वं तदभेदविमर्शपरमार्थम् ॥ ४०८ ॥

अस्य माहात्म्यमाह—

तस्य दर्शनसंभाषास्पर्शनात् स्मरणादपि ॥४०९॥

भवत्यैवैश्वरी व्याप्तिर्न भवेत्तदधोगतिः ।

यतोऽस्य करणानि प्रोक्तव्यापिनीसमनाव्याप्तिमयानि, ततस्तत्सङ्गादीश्वरस्य शिवतत्त्वस्य व्याप्तिर्भवत्येव देहान्ते, न तु शिवादधः प्रवृत्तिः कदा-

चिदपि, योऽपि तं यथारूपं भक्त्या पश्यति सोऽप्येवम्, तेन तस्येति कर्तरि कर्मणि च षष्ठी ॥४०९॥

यस्तु अनुत्तरशक्तिपातवशात्—

तेन संयोजितो जन्तुः

स

ब्रह्महापि शिवो भवेत् ॥४१०॥

परमशिव एव ॥४१०॥

तदेवं भवति—

ततस्तेन समो नास्ति जगत्यस्मिंश्चराचरे।

तेन शिवैकात्मनाचार्येण कः समः, तस्यैकत्वात् ॥

अतश्च—

शिव आचार्यरूपेण लोकानुग्रहकारकः ॥४११॥

अनुजिघृक्षापरो हि परमशिव आचार्यदेहमास्थाय पशूनां पाशान्निकृन्तति ॥४११॥

यत एवम्—

तस्मान्न मानवीं बुद्धिं कारयेद्देशकं प्रति।

दिशत्युपदेशमिति देशकः उपदेष्टा, तस्मिन् दौरात्म्यान्मानवीं बुद्धिं कुर्वन्तं निवर्तयेदित्यर्थः ॥

यतो येऽप्येते मायोर्ध्ववर्तिनोऽनन्तभट्टारकाद्यास्तेऽपि

आचार्यस्य च मन्त्रस्य शिवज्ञाने शिवस्य च ॥४१२॥
नानात्वं नैव कुर्वन्ति विद्येशाश्चक्रनायकाः।

चक्रस्य विद्याग्रामस्य नायकाः प्रभवः स्वस्वरूपज्ञापकाश्च, शिवज्ञाने पारमेशे शास्त्रे आचार्यस्योपदेष्टुर्मन्त्रस्य शिववाचिनो निष्कलादेस्तद्वाच्यस्य च शिवस्य भेदं न कुर्वन्ति, नैतद्भिन्नं पश्यन्तीत्यर्थः, आचार्यादेव शिवशास्त्रमन्त्रशिवानामवगमात्। यत्र च विद्येश्वरा अप्येवमभेदं मन्यन्ते, तत्र तदनुगृहीतैः कथं भेदधीः कार्या। एवं च ये आचार्यशिवमन्त्रानैक्येन जानन्ति, ते विद्येश्वरा इति मन्त्रेश्वरस्फारमेव विशन्ति ॥४१२॥

युक्तं चैतत्, यतः—

ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्रा वै वीरवन्दिते ॥४१३॥

आचार्यत्वे नियुक्ता ये ते सर्वे तु शिवाः स्मृताः ।

शिवाचार्य एव हि आचार्यो युक्तः ॥४१३॥

ये तु आचार्यमित्थं न मन्यन्ते, ते प्रत्यवायिन इत्याह—

अन्यथा प्राक्स्वरूपेण ये पश्यन्ति नराधमाः ॥४१४॥

नरके ते प्रपच्यन्ते सादाख्यं वत्सरत्रयम् ।

अधमत्वं गृहीतदीक्षाणामपि गुरुद्वेषेण विलयशक्त्याघ्रातत्वात् । सादाख्यवत्सरमानमेकादशे पटले भविष्यति ॥४१५॥

पातकिसंगतिरपि पापायेत्याह—

न तेन सह संभाषा कर्तव्या तु शिवार्थिना ॥४१५॥

कृत्वा संभाषणं तेन नरकं सोऽपि गच्छति ।

यत एवम्—

तस्माच्छिवसमाः सर्वे द्रष्टव्या मुक्तिमिच्छता ॥४१६॥

यस्मात्—

भुक्तिमुक्तिफलावाप्तिर्भवत्येव तदाज्ञया ।

अस्य चेयान् प्रभावो यदयम्—

आचार्यः स्वजनानां च कुलको (टि ? टीः) सहस्रशः ॥४१७॥

ज्ञानज्ञेयपरिज्ञानात् समस्तास्तारयिष्यति ।

स्वे आत्मीया विद्यासंबन्धिनो जनाः शिष्याः, तेषां चकारादात्मनश्च सहस्रशः कुलको(टि ? टीः)ज्ञानस्य तावदनुग्राह्यानुग्रहाभिसंधिपूर्वं परशाक्तस्फारानुप्रवेशस्योपायरूपस्य, ज्ञेयस्य चोपादेयस्य परतत्त्वस्य, परितः समन्तादविकल्पसविकल्पसमापत्तिभ्यां परतत्त्वविश्रान्त्यात्मकात् शिष्यप्रशिष्यादिक्रमेणानन्तकालव्यापिनश्च ज्ञानात्तारयिष्यति संसाराब्धेरुद्धरिष्यति । ज्ञानज्ञेयपरिज्ञानमेव गुरोर्मुख्यं रूपम् । यथोक्तं प्राक्—

'ज्ञानज्ञेयविशारदम्' (१।१३) इति ॥४१७॥

एतदुपसंहरन् प्रकृतमाह—

एवमुक्तविधानज्ञो भावज्ञश्चापि दैशिकः ॥ ४१८ ॥
पूर्णाहुत्यैकयैवासौ पशून् योजयते परे ।

उक्तं प्राणचारादिविधानम्, भावः परतत्त्वभावनात्मा ॥

पूर्णाहुतौ प्रयोगं जिज्ञासुं देवीं प्रत्याह—

पूर्णाहुतिप्रयोगं तु कथायाम्यधुना तव ॥४१९॥

पूर्णत्वार्थमाहुतिप्रयोगमाह—

ऊर्ध्वकाय ऋजुग्रीवः समपादो व्यवस्थितः ।
नाभिस्थाने स्रुचो मूलमुत्तानाग्रमुखं समम् ॥४२०॥
स्रुच्युपरि स्रुवं देवि कृत्वा चैवमधोमुखम् ।
पुष्पं दत्त्वा स्रुगग्रे तु दर्भेण सहितौ करौ ॥ ४२१ ॥
मुष्टिना चैव हस्ताभ्यां गृहीत्वा यत्नतोऽपि च ।
अग्रतो दक्षिणं हस्तं वामं वै पृष्ठतः प्रिये ॥४२२॥
मुष्टिभ्यां संगृहीत्वा वै उत्तानकरयोगतः ।
ततो घृतेन संप्लाव्य अभिमानं तु कारयेत् ॥ ४२३ ॥
अहमेव परं तत्त्वं परापरविभागतः ।

ऊर्ध्वकाय उत्थितः, उत्तानमग्रस्थितवेदिकापुष्करादिरूपं मुखं यत्र, सममृजुतया स्थितम्, स्रुच्युपरि स्रुवमिति शिवशक्तिव्यापकौ स्रुक्स्रुवौ परस्परोन्मुखौ कृत्वा, अत एव च पुष्पदानम्, अतश्च शिष्यस्य शक्तिस्त्यक्ताधः प्रसरा शिवोन्मुखा शिवेन संमुखेन प्लुष्टेति भावनीयम् । करावित्यत्र कृत्वेति शेषः, हस्ताभ्यामूर्ध्वाधःस्थिताभ्यां दक्षवामाभ्यां कृतो यः प्रत्येकं मुष्टिस्तेन, अत एव मुष्टिभ्यामित्युक्तिः । यत्नत इत्यनवलिप्ततया, अग्रत इति स्रुङ्मूलगतवामापेक्षया, दक्षिणमिति स्रुववदधोमुखं शिवव्याप्त्या, वाममिति स्रुग्वदुत्तानं च शक्तिव्याप्त्या, यदाह उत्तानेन करेण यो योग इत्यर्थादधोमुखस्य दक्षिणस्यवामेन । संप्लाव्येति संपूरितां स्रुचं कारयित्वा, अहमेव परं तत्त्वं परापरेति प्राग्वत् परसूक्ष्मस्थूलरूपतया स्थितमित्यभिमानं निश्चितां प्रतिपत्तिं कारयेत् कुर्यात् ॥४२३॥

न चैतदभिमानमात्रं यतः—

तत्त्वमेकं हि सर्वत्र

सर्वं हि चेत्यमानत्वात् चिन्मात्रपरमार्थमेव ॥

अतश्च—

नान्यं भावं तु कारयेत् ॥४२४ ॥

कारयेदिति प्राग्वत् । मायाप्रमातृतासुलभं भेदाभिमानं त्यजेदित्यर्थः ॥४२४॥

किं च—

यत्कुम्भेऽध्वात्र विन्यस्तः षट्प्रकारो वरानने ।
मण्डलेऽग्नौ शिशोरन्तः साधारणविकल्पितः ॥४२५॥
स्रुच्यध्वानं तमारोप्य प्राणस्थं नाडिमध्यगम् ।
प्राणधारे समीकृत्य स्रुचा धारां विनिक्षिपेत् ॥४२६॥

कुम्भमण्डलाग्निशिशुगतं षड्विधमध्वानमाज्यरूपतया स्रुचि मध्यनाडिप्रतिच्छन्दकरूपायामारोप्य, पूर्वोक्तयुक्त्या प्राणस्थितं च तं मध्यनाडिगतं कृत्वा, अत एव मध्यमं प्राणं धारां चाज्यसंबन्धिनीं स्रुग्गतां समीकृत्येति मान्त्रवह्निद्रावितषडध्वरसमयतया भावयित्वा तां धारां क्षिपेत् ॥४२६॥

कथं क्व चेत्याह—

वसुधाराप्रयोगेण प्रक्षिपेज्जातवेदसि ।

अविच्छिन्नसंतत्या शिवाग्नौ द्वादशान्तस्थे बाह्ये च प्राणमाज्यधारां चाविभागभावनया जुहुयादित्यर्थः । वसवेऽभीष्टफलायात्युच्चैर्धाराप्रयोगेन ॥

अत्रेतिकर्तव्यतामाह—

नाभिस्थाने स्रुचो मूलं नयेन्नासान्तगोचरम् ॥४२७॥
यथा यथा त्यजेद्धारां तथा प्राणं समुच्चरेत् ।

नाभिस्थाने यत् स्रुङ्मूलं स्थितं तन्नासाग्रं प्रापयेद् धारापातानुसाराय मध्यप्राणं सम्यगभ्यस्तवाहचारेण ऊर्ध्वं चरेत्, द्वादशान्तविश्रान्तं कुर्यात् ॥४२७॥

एवं सति न केवलं द्रुतषडध्वरसमयी धारा यावत्—

प्राणोऽपि वर्णतां याति षड्विधाध्वमयस्तु सः ॥४२८॥

यः षडध्वमयः प्राणः, सोऽपि वर्णतां मान्त्रपरामर्शतां याति ॥४२८॥

एवं च सति—

षड्विधेऽध्वनि नातोऽन्यः प्रमेयो विद्यते क्वचित् ।

षड्विधेऽध्वनि यः कश्चित् प्रमेयः सोऽस्मिन्नवसरे । अत इति मान्त्रात् परामर्शात् । नान्यः क्वचिदपि, जागरादौ विश्वत्र सर्वस्य मान्त्रपरामर्शशेषीकृतत्वात् ॥

यत एवम् —

तस्मान्मान्त्रे परामर्शे हेयोपादेयतः स्थिताः ॥४२९॥

ये हेयतया स्थिताः समनान्ताः पदार्थाः ये चोपादेयतया शुद्धात्मोन्मनापरमशिवाः स्थितास्ते मन्त्र एव वाचकेऽन्तरभिन्नवाच्यात्मतया स्थिताः ॥ ४२९ ॥

यस्मान्मन्त्रैरकारादिध्वनिरूपैः—

वर्णैः कारणषट्कं तु

पूर्वोक्तं तत्तत्तत्त्वाधिष्ठातृरूपं व्याप्तम्, अतस्तद्व्याप्त्यैव विश्वं स्वीकृतमेभिः ॥

अतश्च —

षट्त्यागात् सप्तमे लयः ।

कार्य इति शेषः ॥

यदवधिकं कारणषट्कं यावद्भिर्मान्त्रैर्ध्वनिभिर्व्याप्तं तद्धेयत्वेन दर्शयति—

अकारश्च उकारश्च मकारो बिन्दुरेव च ॥४३०॥
अर्धचन्द्रो निरोधी च नादश्चैवोर्ध्वगामिनी ।
शक्तिश्च व्यापिनी ह्येताः समना च ततः परम् ॥
समनान्तं वरारोहे पाशजालमनन्तकम् ।
कारणैः षड्भिराक्रान्तं मन्त्रस्थं हेयलक्षणम् ॥४३२॥

पूर्वमेव व्याख्यातमेतत् । ऊर्ध्वगामिनी नादान्तदशा । अस्य मान्त्रस्य प्रमेयैकादशकस्य भेदकल्पनामयत्वेन हेयत्वमभेदविमर्शात्मत्वे तु उपादेयतेति प्राग्विभक्तमेव ॥४३२॥

मन्त्रस्थं हेयमुक्त्वा उपादेयं प्रस्तौति—

अत्र पाशोपरि ह्यात्मा व्योमव (द्विन्दु ? च्चित्सु) निर्मलः ।

शिवतत्त्वगुणामोदाच्छिवधर्मावलोककः ॥४३३॥

समनान्तपाशातिक्रमादेव चिता सुष्ठु निर्मलः शिवतत्त्वस्य सदाशिवस्य संबन्धिभिरभेदसर्वज्ञत्वादिभिर्गुणैरभिलष्यमाणैर्जनितादामोदात् प्रहर्षादेव शिवस्य धर्मं पूर्णपञ्चविधकृत्यस्वातन्त्र्यं प्राप्यत्वेनावलोकयति, न त्वद्यापि प्राप्ततद्रूपः ॥४३३॥

यतः—

पाशावलोकनं त्यक्त्वा स्वरूपालोकनं हि यत् ।
आत्मव्याप्तिर्भवेदेषा

पाशानां समनान्तानामवलोकनमात्मत्वेनाभिमननं स्वरूपं पाशोत्तीर्णचिन्मात्रत्वं यदेतावत्पर्यन्तात्मव्याप्तिः ॥

शिवव्याप्तिस्ततोऽन्यथा ॥ ४३४ ॥

तां प्रतिपादयति—

सार्वज्ञ्यादिगुणा येऽर्था व्यापकान् भावयेद्यदा ।
शिवव्याप्तिर्भवेदेषा चैतन्ये हेतुरूपिणी ॥४३५॥

ये वक्ष्यमाणाः सर्वज्ञत्वसर्वकर्तृत्वादिगुणा धर्माः परमोपादेयत्वेनार्थ्यमानत्वादर्थाः तान् व्यापकानिति अशेषमन्तरभेदेन क्रोडीकुर्वतो यदा स्वात्मनि भावयेत् तदा तद्भावनापरिनिष्पत्तिरात्मनः शिवव्याप्तिः सा च भावके चैतन्ये हेतुरूपिणी प्रयोजिका, तत्प्रसादादेव शुद्धात्मनस्तद्भावनाप्ररूढेः ४३५

यतोऽयमेवं सर्वज्ञत्वादिगुणयुक्तः—

अतो धर्मिस्वभावो हि शिवः शान्तश्च पठ्यते ।

विश्वस्य भित्तिलग्नत्वेनैव स्फुरणाद्धर्मकल्पस्यासौ धर्मिकल्पः निःशेषभेदोपशमात् शान्तः, अभेदसार्वज्ञ्यादियोगेन श्रेयोरूपतया शिवः, पठ्यते इत्यागमेषु ॥

एवं पठ्यमानोऽप्यसौ वस्तुतो न शब्दगोचर इत्याह—

उन्मनाश्च मनोग्राह्यः

उन्मनाः शक्त्यभेदात्मनो विषयत्वाभावाद् वस्तुतो न शब्दवाच्य इत्यर्थः ।

न केवलमीदृक् शिवो यावत्—

आत्मबोधे स्थितोन्मनाः ॥४३६ ॥

शिववदात्मापि मन उत्क्रम्य मनोभूमिमुज्झित्वा बोधे संविन्मात्रे पूर्णत्वसर्वज्ञत्वसर्वकर्तृत्वाद्यात्मनि स्थितः । स्थितश्चासौ उन्मनाश्चेति समासः ॥ ४३६ ॥

यतश्चात्मा शिवश्च न मनोगोचरस्ततः—

व्यापारं मानसं त्यक्त्वा बोधरूपेण योजयेत् ।

तदा शिवत्वमायाति पशुर्मुक्तो भवार्णवात् ॥४३७ ॥

'तत्संवेदनरूपेण तादात्म्यप्रतिपत्तितः ।' (स्प० ३।१)

इति स्पन्ददृशा आदौ शिष्यात्मानं स्वात्मनि समरसीकृत्य समनान्तमतिक्रम्य शुद्धात्मनि स्थितिं बद्ध्वा बोधरूपेणेति अविकल्पसंवित्स्पर्शेनैव प्रउन्मनाशक्त्यनुवेशप्रमुखं शिवे योजयेत् ॥४३७॥

अत्र चावसरे—

परे चैव नियुक्तस्य स्रुवमापूरयेत् पुनः ।

स्रुचो रन्ध्रेण तद्द्रव्यं यावद्वह्नौ प्रयुज्यते ॥४३८ ॥

बहिःस्थं कुम्भकं तावत् परे तत्त्वे तु भावयेत् ।

बहिरिति ऊर्ध्वरेचकान्ते द्वादशान्ते ॥

एवं च यत्—

बहिर्निरोधभावेन सामरस्यं शिवेन च ॥४३९ ॥

चशब्दाच्च तच्छक्त्यापि ॥४३९॥

तत्—

अन्यथा न भवेद्देवि

न कदाचिदेतस्याशिवीभावहेतुरित्यर्थः ॥

अत्र दृष्टान्तः—

नदीवेग इवार्णवे ।

एतत्स्फुटयति—

स्थितः स सागरेऽद्भिस्तु सिन्धुः समरसीभवेत् ॥४४०॥

पुनर्विभागं नाप्नोति तथात्मा तु शिवार्णवे ।

अद्भिरिति सागरसंगताभिः । सिन्धुर्नदी ॥

बहिःस्थकुम्भकभावनाया अवधिमाह—

स्रुचस्तु पूरणं यावत्तावत्कालं समादिशेत् ॥४४१॥

स्रुचः सकाशादाज्येन यावत्पूरणमिति वह्नौ पूर्णाहुतिर्यावद्भवति तावद्बहिः कुम्भकं सम्यगा समन्तात् दिशेत् प्रापयेत् ॥४४१॥

तदित्थं पूर्णाहुतौ—

अनेनैव तु कालेन बहिः कुम्भकवृत्तिना ।

आत्मा समरसत्वेन शिवीभवति सर्वगः ॥४४२॥

एवं शिष्यशिवीकरणानन्तरम्—

गुणानापादयेत् पश्चात् षट

वक्ष्यमाणान् सर्वज्ञत्वादीन् गुणान् ॥

कीदृशान्—

अङ्गपरिमाहुतीन् ।

अङ्गैर्नैष्कलैरङ्गमन्त्रैरेव अङ्गपरिमा अङ्गसंख्याकाः षडेवाहुतयो येषां तान् ॥

शिवत्वे प्राप्ते यद्यपि तदभिन्ना गुणा अपि प्राप्ताः, तथापि तेऽस्य स्पष्टमान्त्रप्रत्यवमर्शपूर्वकस्वनादोदीरणेनापि स्पष्टीकार्या एवेति दृष्टान्तपूर्वं निर्दिशति—

यथा नृपत्वे संप्राप्ते कलशैश्चाभिषिच्यते ॥४४३॥

वन्दिभिश्च गुणास्तेऽपि ख्याप्यन्ते वसुधातले ।

तथा शिवत्वे संप्राप्ते गुणानापादयेद् बुधः ॥४४४॥

दार्ष्टान्तिके कलशाभिषेकम्—

'दद्यात् ततोऽभिषेकं तु' (४।४४८)

इत्यत्र वक्ष्यति । वन्दितुल्या अङ्गमन्त्राः ॥

गुणापादने प्रयोगमाह—

सर्वज्ञो वै भव स्वाहा परितृप्तस्तथैव च ।
अनादिबोधो भव च ततः स्वातन्त्र्यशक्तिकः ॥४४५॥
तथा त्वलुप्तशक्तिश्चानन्तशक्तिस्ततः पुनः ।

अत्र च प्रणवपूर्वा हृदादिमन्त्राः षट् क्रमेण पूर्वं योज्याः । सर्वज्ञा अपि कपिलादयो निर्विमर्शचिन्मात्रत्वेनानन्दशक्तिरूपतृप्तिरहिताः । केचित्तु आनन्दशक्तियुक्तत्वेऽपि भावनया तद्रूपतां प्राप्ताः, नत्वनादिबोधाः । दीक्ष्यस्य त्वनादिबोधत्वं स्थितमेव सदभिव्यज्यते, न त्वपूर्वं जन्यते । केचित्तु सदा सर्वज्ञतयाऽनादिबोधा अपि निर्माणशक्तिविकलत्वात् स्वातन्त्र्यहीनाः सृष्ट्यादिकर्मणि स्वतन्त्रा अपि ब्रह्मादयो न नित्यमलुप्तशक्तिकाः, निजासु रात्रिषु व्यामूढत्वात् । मन्त्रमन्त्रेश्वरादयस्त्वव्यामूढत्वेऽपि नानन्तशक्तिकाः, तदपेक्षया विश्वस्य भिन्नत्वेन शक्तिरूपत्वाभावादित्येकस्यापि शिवनाथस्येत्थं व्यावृत्तिभेदेन सर्वज्ञत्वादयः षट् गुणा व्याख्येयाः ॥

गुणानां गुणविश्रान्तिसारतां स्फुटयितुं मूलविश्रान्तिपूर्वं मूलेनैव षडाहुतीर्दद्यादित्याह—

गुणानापाद्य सर्वांस्तान् मूलमन्त्रमनुस्मरेत् ॥४४६॥
ओंहूमात्मपदोपेतं सर्वज्ञायेत्यपश्चिमम् ।
स्वाहाकारप्रयोगेण आहुतीः प्रतिपादयेत् ॥४४७॥

आत्मपदं दीक्ष्यनामपूर्वं चतुर्थ्यन्तं यतः—

'अनिर्दिष्टसमाख्यं च यत्कृतं तत्तथा भवेत् ।
तदुद्दिश्य कृतं कर्म·········संशयः ॥'

इत्युक्तमन्यत्र । सर्वज्ञायेत्युपलक्षणम्, तेन तृप्तायेत्याद्यपि । तच्चापश्चिममित्येतावदन्तं पूर्वमुच्चार्य स्वाहाकारेणाहुतीर्दद्यात् ॥४४७॥

ताश्च संभवव्यवसायानुसारम्—

तिस्रः पञ्च दशैका वा

अत्यन्तमसंभवे चैकाहुतावपि न क्षतिः ॥

द्रव्यविषयेऽप्यत्र विकल्प एवेत्याह—

तिलैर्वाथ घृतेन वा ।

दीक्षान्ते शिष्यस्यावभृथस्नानमाह—

दद्यात् ततोऽभिषेकं तु मूलमन्त्रेण सुव्रते ॥४४८॥

मूलमन्त्रमन्त्रितेन शिवकुम्भेन मूलमन्त्रोच्चारेण वा इत्यर्थः ॥४४८॥

कथम्—

परं शक्त्यमृतं क्षोभ्य शिष्यमूर्ध्नि निपातयेत् ।
तुर्यद्वारं विशेत् तद्धि सबाह्याभ्यन्तरं स्मरेत् ॥४४६॥

द्वादशान्ते विश्रम्य तत्स्थानमानन्दस्पर्शात्मकं परं शक्त्यमृतं क्षोभयित्वा विमृश्य शिष्यस्य द्वादशान्तान्मूर्ध्नि पतितं भावयन् कलशाद्धारां पातयेदित्यर्थः । तुर्यद्वारं तुर्यानुभवप्रधानं ब्रह्मरन्ध्रम् ॥४४६॥

अभिषेके प्रयोजनमाह—

मन्त्रशक्तिभिरुग्राभिः शोषनिर्दहनादिभिः ।
शरीरं शोष्यते ताभिस्तदर्थमभिषेचनम् ॥४५०॥

ताभिः पूर्वोक्ताभिर्मन्त्रशक्तिभिः । शोषनिर्दहनादिभिरिति करणे तृतीया । तदर्थमिति शोषनिवृत्तये ॥४५०॥

अथ—

दीक्षानिर्वर्तनात् पूर्वं पुष्पं पाणौ प्रदापयेत् ।
दर्भं विमोचयित्वा च

पूर्वं ·········कल्पनाय दत्तं दर्भं विमुञ्चेति शिष्यं प्रयुज्य पारितोषिकं पुष्पमस्य हस्ते दद्यात् । यद्वा णिच् विवक्षितस्तेन गुरुरात्मनः पाणौ प्रदापयेद् देहीति शिष्यं प्रयुञ्जीत, विधिर्दक्षिणाहीनो मा भूदित्यभिप्रायात् । एवं च वदन् गुरोर्निःस्पृहत्वं सूचयति । शिष्यस्तत्कालं वित्तशाठ्यहीनो यद्ददाति ददातु तत्, गुरुणा तु निःस्पृहेणैव भाव्यमित्यर्थः ॥

अथ शिष्यः—

शिवाग्नौ कलशे गुरौ ॥४५१॥

प्रत्येकम्—

प्रदक्षिणत्रयं कृत्वा दण्डवन्निपतेद् भुवि ।

चतुरधिकरणः शिवो मम प्रकर्षेण दक्षिणोऽनुकूलः सर्वदशास्वादिमध्यान्तपदेष्वस्त्वित्याशयेन त्रिः प्रदक्षिणीकरणम्, दण्डवन्निपतनं शरीरादिगुणीकरणेन शिवसमावेशाय ॥

अत एव—

कृतकृत्यः प्रहृष्टात्मा भवोत्तीर्णः सुनिर्मलः ॥४५२॥
प्रोत्फुल्लनयनः शान्तस्तृप्तात्मानं तु भावयेत् ।

कृतं पाशक्षपणशिवत्वव्यक्तिरूपं कृत्यं यस्य, अत एव प्रहृष्टात्मा पूर्णचिदानन्दानुभवोऽतश्च भवादुत्तीर्णः परमशिवत्वव्यक्त्या सुष्ठु निर्मलः, तथाभूतः सन्नपि व्युत्थानाद्यवसरेषु तृप्तात्मानमिति गुरूपदेशादिसमये पूर्णानन्दघनमात्मानमनुभूतचरं भावयेत्, येन सदैव तन्मयीभवति । अत्रोपायप्रकटनाय विशेषण(द्वा ?)रकं हेतुमाह—प्रोत्फुल्लनयनः शान्त इति ।

'कैवल्यं जायते सद्यो नेत्रयोः स्तब्धमात्रयोः ।'
(वि० भै० ११३)

इति रहस्यदृष्टयनुसारेण निर्लक्ष्यस्तब्धदृष्टिबन्धः शान्तो विगलिताभिलाषप्रक्षीणसकलविकल्पजालश्च ॥

उपसंहरति—

इयं नैर्वाणिकी दीक्षा निर्बीजा वा सबीजिका ॥४५३॥

'अथ दीक्षाध्वशुद्ध्यर्थं' (स्व० ४।७९)
इत्युपक्रम्य
'पाशसूत्रं समादाय शिष्यदेहेऽवलम्बयेत्' (स्व० ४।९१)
इत्यतः प्रभृति
'दण्डवन्निपतेद्भुवि' (स्व० ४।४५२)

इत्यन्तं या निर्बीजा वा सबीजा वा दीक्षोक्ता, सा उभय्यपि निर्वाणप्रयोजना । वाग्रहणेनेदमाह—द्वयोरपि दीक्षयोः प्रोक्तो यः पाशक्षपणशिवयोजनात्मा विधिः स तुल्यः, केवलं निर्बीजायां मायीयपाशशुद्धिभावनावसरे समयपाशमप्यन्तःशुद्धं भावयेत्, न तु तेषां शुद्धौ विध्यन्तरमस्ति । पूर्वं हि—

'समयाचारपाशं तु निर्बीजायां विशोधयेत्' (स्व० ४।१४७)

इत्येतावन्मात्रमुक्त्वा

'एवं भावानुसारेण शिष्याणां गुरुणा सदा ।
फलं तु विविधाकारं निष्पाद्येत सुदीक्षया' (स्व० ४।१५०)

इत्युक्तम् । तथा

'……मुख्याः पाशा इमे स्मृताः ।

सूक्ष्मपाशाननेकांश्च तदन्तर्भावयेत्…… ॥' (स्व० ४।१५८)

इत्यप्युक्तम् । अतो निर्बीजायां समयपाशा मायीयपाशान्तर्भूता एव शोध्यत्वेन भाव्याः, तेषां क्रव्यादभोगप्रदत्वश्रुतेर्मायीयपाशान्तर्भावस्यैवोदितत्वात् । अत एव श्रीपूर्वशास्त्रे कण्ठगतमायीयपाशशुद्ध्यन्ते समयपाशशुद्धिरुक्तेत्येतावतैव तन्त्रभेदः । एवं दीक्षाद्वयविधिरेकरूपत्वेनोपसंहृतत्वाद् यत् पूर्वं पुर्यष्टकांशार्पणं निर्बीजैकविषयमुक्तम्, तदयुक्तमेव मन्तव्यम् ॥४५३॥

एवं समयपुत्रकयोर्दीक्षामुक्त्वा आचार्य साधकयो प्रक्रमते ताम्—

येषां सबीजिका दीक्षा कुर्यात्तेष्वभिषेचनम् ।

'विद्वद्द्वन्द्वसहानां तु सबीज' (४।८८) इत्युक्तत्वात् तानेवाचार्यत्वे साधकत्वे वाभिषिञ्चेदित्यर्थः ॥

तत्र—

श्रुतशीलसमाचारान् देशकत्वे नियोजयेत् ॥४५४॥

श्रुतं पारमेश्वरसंहितायां गुरुतस्तात्त्विकार्थपरिज्ञानम्, शीलं वाङ्मनःकायविषया यमनियमाः, सम्यगाचारः शास्त्रानुष्ठानात्मा, एते विद्यन्ते येषां तान् दिशतीति देशक उपदेष्टा आचार्यः, तद्रूपत्वे नियुञ्जीतेत्यर्थः ।

अथाभिषेक आचार्ये शिवयोगादनन्तरम् ।

शिवयोगो योजनान्तो दीक्षाविधिस्तस्य पश्चात् ॥

केन कार्य इत्याह—

पञ्चभिः कलशैर्भद्रे सितचन्दनलेपितैः ॥४५५॥

शिवकुम्भवदभ्यर्च्य रत्नगर्भाम्बुपूरितैः ।

ऋद्धिवृद्ध्यादिभिः पूतैरोषध्यक्षतपूरितैः ॥४५६॥

सितपद्ममुखोद्गारैश्चूतपल्लवसंयुतैः ।

ऋद्धिवृद्धि आयुर्वेदप्रसिद्धे ओषध्यौ । पृथगोषधीशब्दः सहदेव्यादौ । सितपद्मान्येव मुखानि तैरुद्गार उल्लासो भोगमोक्षलक्ष्मीपरामर्शश्च विद्यते येषाम् । चूतपल्लवादीनि सच्छायपत्रान्तराद्युपलक्षणाय ॥

अथैतेषु—

पृथिव्यादीनि तत्त्वानि पञ्च पञ्चसु विन्यसेत् ॥४५७॥

कलशेषु महादेवि पुनश्चैव कला न्यसेत् ।

ताश्च—

निवृत्त्याद्याः कलाः पञ्च तेषु चैवात्र विन्यसेत् ॥४५८॥

तेष्विति पृथिव्यादिषु व्यापकत्वेन, चकारः सहक्रमं सूचयति ॥४५८॥

तेष्वेवासनपक्षे—

एकैककलशे व्याप्यो ह्यनन्तादिशिवान्तकः ।

भुवनेशपुञ्जः ॥

तत्र च—

पूजयेद् भैरवं देवं सर्वसंभारकैः क्रमात् ॥४५९॥

षडङ्गावरणोपेतं मन्त्रसंधानसंयुतम् ।

क्रमो निवृत्तिकलशः पूर्वमित्यादिरूपः, आवरणानि श्मशानवर्जानि, इति केचित् ॥

एवं संपूज्य—

भैरवेणाभिमन्त्रेत एकैकं कलशं प्रिये ॥४६०॥

अष्टोत्तरशतेनैव परतत्त्वमनुस्मरन् ।

एषां कलानुसारां दिक्स्थितिमाह—

वारुण्यां सौम्ययाम्यायामैन्द्र्यामैश्यां तथैव च ॥४६१॥

संपूज्यैवं विधानेन अभिषकं समाचेरत् ।

तत्र—

यागहर्म्यस्य ऐशान्यां पीठं संकल्पयेद् बुधः ॥४६२॥

पीठमासनम् ॥४६२॥

कथम्—

तत्र मण्डलकं कृत्वा स्वस्तिकादिविभूषितम् ।

वितानोपरिसंच्छन्नं ध्वजैश्च परिशोभितम् ॥४६३॥

तत्रासनं न्यसेद् देवि श्रीपर्णीचन्दनोद्भवम् ।

श्रीपर्णीचन्दने प्रशस्तपदत्वोपलक्षणे ॥

तत्रानन्तासनं न्यस्य मूर्तिभूतं शिशुं न्यसेत् ॥४६४॥
पूर्ववत् सकलीकृत्य ऐशान्यभिमुखं स्थितम् ।

तत्रेति श्रीपर्ण्याद्याशने, शिशुमाचार्यीचिकीर्षितम् ॥

अथ—

गन्धपुष्पादिनाभ्यर्च्य निर्भर्त्स्य काञ्चिकौदनैः ॥४६५॥
मृद्भस्मगोमयैः पिण्डैर्दूर्वाङ्कुरसमाश्रितैः ।
सिद्धार्थदधितोयैश्च नीराजनसमन्वितैः ॥४६६ ॥

काञ्चिकादिद्रव्यपूर्णेन कुम्भेनोपरि निःशेषराजनात्मतया नीराजनादिदीपयुक्तेन निर्भर्त्स्य प्रशान्तविघ्नः शिशुः कार्य इत्यर्थः ॥

अथ—

निर्भर्त्स्यैवं विधानेन अभिषेकं प्रदापयेत् ।
पृथिव्यादिघटास्यैर्वा धामानुस्मृत्य सेचयेत् ॥४६७।

ईशानान्तैः पृथिव्यादिकलशानामास्यैर्वक्त्रैः सिञ्चेत् । णिजविवक्षितोऽत्रैवमन्यत्र । घटाद्यैरिति त्वपपाठः ॥४६७॥

किं च—

क्रमाद् ध्यात्वा कलशेषु

निवृत्यादिव्याप्तिक्रमेण चिन्तयित्वा, इत्यर्थः ॥

कः—

आचार्यः सुसमाहितः ।

शिवावेशशालीत्यर्थः ॥

अथायं यथायथम्—

अभिषिक्तोऽन्यवासस्तु परिधाप्याचमेत् ततः ॥४६८॥

मायीयकञ्चुकप्रक्षेपव्याप्त्या पूर्ववस्त्रत्यागः । परमशिवप्रकाशपरीतताव्याप्त्या अन्यद्वासः परिदधीत ॥४७८॥

आचान्तजलं शिष्यम्—

प्रविश्य दक्षिणां मूर्ति

तत्रास्य व्याख्यातव्याप्त्यानन्तासनरूपम्—

योगपीठं प्रकल्पयेत् ।

तत्रैवम्—

संस्थाप्य सकलीकृत्य

अस्मै—

अधिकारं प्रकल्पयेत् ॥४६९॥

कथमित्याह—

उष्णीषं मुकुटाद्यांश्च छत्रं पादुकमासनम् ।
हस्त्यश्वशिविकाद्यांश्च राजाङ्गानि ह्यशेषतः ॥४७०॥
करणीं कर्तरीं खटिकां स्रुक्स्रुवौ दर्भपुस्तकम् ।
अक्षसूत्रादिकं दत्त्वा

उष्णीषश्च शिरसि बन्धनाय पटः मुकुटादिकमाभरणजातं भूषणार्थम्, शिविका युग्यम् राजाङ्गानि तूर्यभेर्यादीनि, करण्याद्याचार्यतोपयोगि, आदिग्रहणाद् दूत्यर्घपात्रादिकम् ॥

अधिकारं व्याचष्टे—

चतुराश्रमसंस्थिताः ॥४७१॥

दीक्ष्यानुग्रहमार्गेण दीक्षा व्याख्या त्वया सदा ।
अद्यप्रभृति कर्तव्येत्यधिकारः शिवाज्ञया ॥४७२॥

चतुर्ष्वपि आश्रमेषु ये स्थिताः, तेषां त्वया दीक्षा व्याख्या च कार्या, कथं दीक्ष्याणामायातशक्तिपातत्वाद् दीक्षार्हाणामनुग्रहमार्गेणानुजिघृक्षया, न तु स्नेहलोभादिना, सदेति न कदाचिदपि परानुग्राहितां विना स्थेयमित्यर्थः इत्ययमसौ शिवाज्ञयैव तवाधिकार आयातः न त्वत्रान्यस्य कस्यापि शक्तिरित्याज्ञा देयेत्यर्थः ॥४७२॥

अथ तम्—

उत्थाप्य हस्तौ संगृह्य मण्डले तु प्रवेशयेत् ।

किं च—

जानुभ्यां धरणीं गत्वा संपूज्य भैरवं ततः ॥४७३॥

विज्ञाप्य

किम्—

भगवन्नेवमभिषिक्तस्त्वदाज्ञया ।

आचार्यपदसंस्थेन तवानुज्ञाविधायिना ॥४७४॥

त्वदाज्ञयैवमाचार्यपथे स्थितः ॥४७४॥

तवाज्ञयैव चायमभिषिक्त इति विज्ञाप्य—

कर्तव्यंयत्तदायातमधिकारं तु देशके।

शिवतत्त्वार्थकथनं शिवस्य पुरतः स्थितः ॥४७५॥

यद् गुरुपारम्पर्येणायातं शिवतत्त्वार्थकथनमवश्यकर्तव्यं तदहं तवैव शिवस्य पुरतः स्थितोऽस्य करोमीति विशेषकथनम्, कीदृगधिक्रियतेऽनुगृहीतस्त्वद्रूपः संपद्यते येन तादृक् ॥४७५॥

अथ—

निर्गत्य भवनादग्नौ कलाध्वानं तु होमयेत्।

तत्रादौ मूलमन्त्रक्रमेण—

मन्त्रतर्पणकं कृत्वा

प्रत्येकम्—

कलानां पञ्च चाहुतीः ॥४७६॥

दद्यात् ॥४७६॥

तदित्थम्—

पञ्च पञ्चसु सर्वासु हुत्वा पूर्णाहुतिं गुरुः।

अर्थान्मूलेन दद्यात् ॥

अथ—

अर्घपूजादिकं कृत्वा प्रणम्य ख्यापयेत् प्रभोः ॥४७७॥

किम्—

अभिषिक्तो मयाचार्यस्तदर्थं मन्त्रतर्पणम्।

वह्नौ कृतमित्येतद्वस्तु ख्याप्यमित्यर्थः ॥

अथास्य—

हृदाद्यैः पञ्चभिश्चाङ्गैर्दक्षिणं लाञ्छयेत् करम् ॥४७८॥

नेत्रस्य मूलाभिन्नव्याप्तिकत्वात्तद्वर्जितैः ॥

कथम्—

दर्भोल्मुकं शिवाग्नौ तु

कृत्वा ॥

तेनैव—

कनीयस्यादि लाच्छयेत् ।

कनीयस्याद्यङ्गं लोहूं दादिमन्त्रैः क्रमेण दर्भोल्मुकेन स्पृशेत्; येनास्य मन्त्रा दीप्ताः करणरूपा झटिति तत्तत्कार्यशक्ता भवन्ति, एतत्करस्पर्शात् पाशा दग्धबीजकल्पा यान्तीत्यर्थः ॥

इत्थं समुत्पन्नाभिषेकस्य विधिरयं फलत्विति धिया पारितोषिकम्—

पुष्पं पाणौ प्रदद्यात्तु ॥

तं च—

मण्डलाग्नौ प्रपातयेत् ॥४७६॥

शिष्यं दण्डवत् प्रणामार्थम् ।

स च—

भैरवं कलशं चाग्निं नमस्कृत्य तु दण्डवत् ।

लब्धाधिकारो हृष्टात्मा दृष्टादृष्टफलान्वितः ॥४८०॥

स गुरुः शिवतुल्यस्तु शिवधामफलप्रदः ।

दण्डवदित्यादावभिप्राय उक्त एव, दृष्टं फलं जीवन्मुक्तिः, अदृष्टं तु परमशिवतत्त्वम् ॥

एवं पुत्रकाचार्यविषयं विधिं निर्वाह्य साधकविषयं तमुपक्रमते—

शान्त्यन्ते भूतिदीक्षा च सदाशिवपदात्मिका ॥४८१॥

भूतिदीक्षा सदाशिवान्ताणिमादिभोगदीक्षा शान्त्यन्ते शान्त्यन्तपदे योजनान्ते इत्यर्थः, चकारात् शिवयोजनिकारूपापि, यतः—

'येषां सबीजिका दीक्षा कुर्यात्तेष्वभिषेचनम् ।' (४।४५४)

इत्युपक्रान्तम् । सबीजिका च शिवयोजनिकात्मैवोक्ता । अत एवोक्तमन्यत्र—

'अप्रसादाद्भवेत् सिद्धिः प्रसादाच्छांकरं पदम् ।'

इति, यदि सिद्धिविषयेषु माद्यति तदस्य शांकरे पदे विघ्नो मा भूदित्येवमर्थं साधकस्य शिवयोजनिकां कृत्वा सदाशिवे योजना कार्या ॥४८१॥

तदित्थम्—

शिवधर्मिण्यसौ ज्ञेया

साधकदीक्षेति शेषः यत्र सदाशिवतत्त्वे योजनमस्ति ॥

सा च—

लोकधर्मिण्यतोऽन्यथा ।

अशुभैकक्षपणात् तत्तद्भुवनेशादिपदयोजनात्मिका ॥

अतश्च -

शिवधर्मिण्यसौ येषां साधकानां प्रकीर्तिता ॥४८२॥

तेषां कृत्वाभिषेकं तु

वक्ष्यमाणरूपम् ।

तानेव—

साधकत्वे नियोजयेत् ।

तत्र—

साधकस्याभिषेकोऽयं विद्यादीक्षात उत्तरः ॥४८३॥

विद्या सकलमन्त्रस्तत्कृता विद्यात्मकसदाशिवपदयोजनात्मा शिवपदयोजनादनन्तरभाविनी या दीक्षा, तत उत्तरः साधकस्यायमितीदानीमेव कथ्यमानप्रकारोऽभिषेकः कार्यः ॥४८३॥

यद्यपि सकलमन्त्रस्यापि परपदप्राप्तिहेतुत्वमस्ति, तथापि—

विद्यादोक्षा भवेत् सा तु वासनाभेदतः स्थिता ।

उक्तं हि 'मन्त्रमुद्राध्वद्रव्याणां होमः साधारणः' (४।८२) इत्यादि ॥

अत एव—

कर्मभेदो न विद्येत सर्वत्राध्वनि संस्थितः ॥४८४॥

कर्म पाशक्षपणम् ॥४८४॥

अतश्च—

कृतानि यानि कर्माणि सर्वाण्यध्वगतानि तु ।

तानि संशोध्य विधिवत् कलापञ्चस्थितानि तु ॥४८५॥

योजन्यवसरे भेदो विमर्शः साधकस्य तु ।

पूर्वं च कलात्रये काममलस्थितिः स्थूलतयोक्ता, इह तु सूक्ष्मतया कलापञ्चकेऽपि, इति न कश्चिद्व्याघातः, प्रथमस्तुशब्दश्चार्थे भावीन्यपि कर्माणि समुच्चिनोति ॥

अत्र पूर्वोक्तं विधिं स्मारयति—

प्रारब्धं कर्म पाश्चात्यं न चैकस्थं तु भावयेत् ॥४८६॥

वर्तमानदेहे मन्त्राराधनादि यत् प्रारब्धं कर्म पाश्चात्यं च यत्तदेकत्र क्षपणीयत्वे स्थितं न भावयेत्, नास्य मन्त्राराधनादि कर्मापि क्षपयेदित्यर्थः ॥४८६॥

निर्णीतं चैतत्—

साधकस्य तु भूत्यर्थं प्राक् कर्मैकं तु शोधयेत् ।

प्राक् कर्म आगामि चैकस्थं भावयित्वेत्यर्थः ॥

अतश्च—

धाम प्रोच्चार्य सकलं सदाशिवतनौ न्यसेत् ॥४८७॥

सकलं द्वात्रिंशदक्षरम् ॥

कथम्—

विद्यादेहस्वरूपेण ध्यात्वा देवं सदाशिवम् ।

पूर्णाहुतिप्रयोगेन अणिमादिगुणैर्युतम् ॥४८८॥

विद्यादेहोऽष्टादशभुजः सकलभट्टारकः ।

अथ—

अणिमादिगुणावाप्तौ मूलमन्त्रस्वसंज्ञया ।

अष्टावेवाहुतीर्दत्त्वा अभिषिञ्चेत्तु साधकम् ॥४८९॥

यथा निष्कलयोजनानन्तरं तद्गुणापादनं कृतमेवं सकलयोजनानन्तरमस्याणिमादिगुणात्मतापत्तिः कार्या । अत्र सकलमन्त्रपूर्वं साधकनामाणिमा भवेत्युच्चार्य पुनः सकलोच्चारपूर्वमणिमादिगुणाय दीक्षात्मने स्वाहेत्यादिप्रयोगः । अणिमादिगुणावाप्ताविति तन्निमित्तम् ॥४८९॥

तदभिषेकं प्राग्वत्—

कलशैः पञ्चभिः कुर्यात्

कथमित्याह—

निवृत्त्याद्यास्त्रिषु न्यसेत् ।

शान्त्यतीतां पञ्चमे च शान्तिं पश्चाच्चतुर्थके ॥४६०॥

त्रिष्वति दक्षिणोत्तरवारुणदिग्गतेषु प्राग्वक्त्रादिपूर्णेषु पञ्चसु, पञ्चम इति चेशाने, पश्चादिति शान्त्यतीतान्यासादनन्तरम्, चतुर्थक इति प्राच्यकलशे, अत्र चाभिप्रायो यत् साधकस्य शिवदशाविश्रान्तिपूर्वमविघ्नं सादाशिवी सिद्धिरस्त्वित्येवं भुक्त्वा भोगानयं शिवो भवत्विति ॥४६०॥

तदित्थम्—

शान्त्या तु संपुटीकृत्य

शान्त्यतीताकलशानन्तरं शान्ताकलशन्यासात् शान्त्या संपुटीकारो भवती, शान्त्यतीतायाः कलात्रयेण शान्त्या च गर्भीकृतत्वात् ॥

किं च—

पृथिव्याद्यैश्च पञ्चभिः ।

कलाक्रमेणैव कलशेषु न्यासं कुर्यादिति शेषः । पृथिव्यादयोऽत्र क्रोडीकृताशेषतत्त्वतत्त्वेश्वरस्फारा ब्रह्मपञ्चकपरमार्था, न तु स्थूलभूतमात्रात्मकाः ॥

अथ—

एकैककलशे पश्चात् साध्यमन्त्रं तु विन्यसेत् ॥४६१॥

विद्याङ्गैः सकलीकृत्य

साध्यमन्त्रः सकलभट्टारक इह मुख्यः, अन्योऽपि वा पुष्पपातानुसारम्, विद्याङ्गैरिति सकलाङ्गैः सर्वज्ञत्वादिरूपैस्तत्तत्साध्यमन्त्राङ्गैर्वा ॥

पश्चात्तत्र—

विद्याङ्गावरणं न्यसेत् ।

विद्याङ्गनां सर्वज्ञत्वादिरूपाणामेव सिद्धिसाधनानुगुण्यान्नावरणान्तरन्यास उक्तः ॥

अथ साध्यमन्त्रेणैव—

संमन्त्रयाष्टशतेनैव एकैकं कलशं ततः ॥४६२॥

बहिर्मण्डलके न्यस्य आसनं प्रणवेन तु ।

साधकं तत्र संस्थाप्य सकलीकरणं ततः ॥४६३॥

निर्भर्त्स्य पूर्ववत् सर्वैः साध्यमन्त्रेण सेचयेत् ।

निवृत्याद्येकैककलशस्य साध्यमन्त्रेण मन्त्रणं सर्वभूमयोऽस्य मन्त्रप्रसादात् सिद्धिप्रदा भवन्त्विति, बहिरिति यागाद् मण्डले स्वस्तिकादिरूपे, आसनं श्रीपर्ण्यादिरूपम्, सकलीकरणमिति, तस्य कुर्यादिति शेषः । सर्वैरिति पूर्वोक्तैः काञ्चिकादिद्रव्यैः ॥

तत्र—

निवृत्यादित्रिभिः कुम्भैः स्नापयेत् पूर्वदिङ्मुखम् ॥४६४॥

शान्त्यतीतं घटं पश्चाद्गृहीत्वा सेचयेच्छिशुम् ।

शान्तिं पश्चात्तु गृह्णीयात्

शान्तिमिति शान्तिघटम् ।

तदित्थम्—

संपुटेनाभिषेचयेत् ॥४६५॥

संपुटार्थस्तदभिप्रायश्च व्याकृत एव ॥

तदेवम्—

साधकस्याभिषेकोऽयमनुलोमविलोमतः ।

आनुलोम्यं निवृत्त्यादित्रये, शान्तिशान्त्यतीतयोस्तु प्रातिलोम्यम् ॥

किं च—

अभिषिच्य प्रवेश्यैनं दक्षिणां मूर्तिमास्थितम् ॥४६६॥

परिवर्तितवस्त्र इत्यर्थात्, दक्षिणमूर्त्याश्रयणं विघ्नप्रशमाय ॥४६६॥

तत्रास्य च—

प्रणवेनासनं दत्त्वा सकलीकरणं भवेत् ।

अथास्य सिद्ध्युपकरणम्—

साधकस्याधिकारार्थमक्षमालादि कल्पयेत् ॥४६७॥

समुचितं ढौकयेत् ॥४६७॥

कल्पयित्वैतत्—

मन्त्रकल्पाक्षसूत्रं च खटिकां छत्रपादुके ।

उष्णीषरहितं दत्त्वा

कल्पः साधनमन्त्रपुस्तिका, उष्णीष आचार्यायैव देयः ।

अथ—

प्रविश्य शिवसंनिधौ ॥४९८॥

विज्ञाप्य परमेशानं साधकोऽयं मया कृतः ।

भूयात् सिद्धिस्त्वदाज्ञातस्त्रिप्रकारास्य भक्तितः ॥४९९॥

साध्यमन्त्रं ददेत् पश्चात् पुष्पोदकसमन्वितम् ॥

शिवसंनिधाननिमित्तं प्रविश्यान्तर्मुखीभूय तदवष्टम्भेनैव देवं विज्ञाप्य साध्यमन्त्रं दद्यात्, साधकोऽयमित्यादि विज्ञप्तेः स्वरूपम्, विज्ञप्तेः पश्चात् पूर्ववल्लब्धानुज्ञत्वं भव्यम्, शिवसंनिधावेव च पुष्पं फलोत्पादनधिया, उदकं सिद्ध्याप्यायनाय ॥

तदाह—

तस्य हस्ते समर्प्येत सिद्ध्यर्थं साधकस्य तु ॥५००॥

परशक्तित उद्भूतं तच्छक्तिसंमुखीभूतमेतदित्यभिप्रायाद् हस्तेन हस्ते समर्पणम् ॥

साधकस्तु—

प्रणम्योभौ गृहीत्वा तु मन्त्रं हृदि निवेशयेत् ।

उभौ गुरुमन्त्रौ, हृदीति स्वात्मानं तत्तद्विमर्शमयं कुर्वीतेत्यर्थः ॥

तदेवमुभयोर्योग्यसंबन्धलाभात्—

प्रहृष्टवदनः शिष्यो गुरुश्चापि प्रहर्षवान् ॥५०१॥

उभौ निर्गत्य च—

अग्न्यागारे सावधानौ

स्यातामिति शेषः ॥

ततो गुरुरग्नौ तु—

तर्पयेन्मन्त्रसंहिताम् ।

ततोऽपि यथासंभवम्—

सहस्रं वा शतं वापि साध्यमन्त्रस्य तर्पणम् ॥५०२॥

कुर्यात् ॥

एवं संतर्पयित्वा तु पुष्पं पाणौ प्रदापयेत् ।

प्राग्वद् गुरुः साधकाय, तेन वात्मन इत्यर्थः ॥

ततः साधकः—

त्रिस्थं संपूज्य देवं तु

स्थण्डिलवह्निगुरुमूर्तिषु दण्डवन्निपतेत् ।।

ततोऽपि त्रिःप्रदक्षिणम् ।।५०३।।

कृत्वा ।।

प्रणम्य भक्तियुक्तात्मा अणिमादिफलं लभेत् ।

तद्योग्यतामेति ।।

गुरुस्तु—

उत्थाप्य साधकं ब्रूयात् समयान् पाहि यत्नतः ।।५०४।।

तेऽग्रे भविष्यन्ति ।।

किं च निर्बीजदीक्षादीक्षितवर्जं सर्वे शिष्याः समयान् श्राव्या इत्यादिशति—

दीक्षावसाने ते देवि श्रावणीया विपश्चिता ।

समयज्ञेन ।।

उपसंहरन्नन्यदवतारयति—

दीक्षां एवं तु निर्वर्त्य सर्वदैव वरानने ।।५०५।।

आत्मयागः प्रकर्तव्यो यथा भवति तच्छृणु ।

दीक्षां समय्यादीनाम् । आत्मनो यागः परतत्त्वयोजनात्मा समुच्छेद्यपाशसंस्पर्शविधिन्यूनतादिसंभावनाशङ्काशान्तये कर्तव्यः ।।

तदित्थम्—

वैज्ञानिकी प्राकृती वा आचार्यस्य यदृच्छया ।।५०६।।

दीक्षा भवति । विज्ञानहेतुका वैज्ञानिकी । तिलाज्याहुतिहेतुका प्राकृती ।।५०६।।

तत्र—

वैज्ञानिकीं सुसूक्ष्मां तु विधिनानेन कारयेत् ।

सुसूक्ष्मां पूर्णज्ञानसंपाद्याम् । अनेन वक्ष्यमाणेन ।।

तत्र प्राकृती तावत् पूर्वोक्तप्रकारात् किंचिद्वैलक्षण्येनाह—

तिलाज्यादिसमायुक्ता अध्ववागीशिकल्पना ।।५०७।।

प्राकृत्यां कार्येति शेषः ।।५०७।।

तत्र च—

कलाभिः पञ्चभिर्व्याप्तमध्वानं युगपन्न्यसेत् ।

न तु प्राग्वत् ।।

क्रमेण च तद्वचनक्ति—

पूजाहोमोपचाराद्यान् कृत्वात्मानं नियोजयेत् ॥५०८॥

शिष्यचैतन्यवत्

वागीश्यां युगपदशेषकलाव्याप्तिकायामाह्वानार्चादिपूर्वं पुर्यष्टकरूपमात्मानं योजयेत् ।

ततोऽपि—

योगादध्वानं युगपन्न्यसेत् ।

गर्भयोजनादनन्तरं दीक्ष्यमध्वानं युगपन्यसेत् ॥

न्यस्तं च—

पुष्पाद्यैः पूजयित्वा तं

तत्रैव—

योगार्थमाहुतित्रयम् ॥५०९॥

प्रणवमूलहंसबीजपूर्वमात्मानं सर्वाध्वव्यापकं वागीशीगर्भे युगपद्योजयामि स्वाहा इत्यत्र प्रयोगः ॥५०९॥

अथ—

गर्भधारित्वजनने अर्जने भोगतल्लये ।

युगपद्धोमयेद् देवि मूलमन्त्रेण सुव्रतः ॥५१०॥

प्रत्येकं युगपदिति सर्वाध्वव्याप्तिभावनया त्रिर्होमः ॥५१०॥

तदाह—

आहुतीनां त्रयं होम्यं प्रतिकर्म वरानने ।

निष्कृतेः प्राधान्यात् पृथग्घोममाह—

होतव्या निष्कृतिर्भिन्ना पञ्चस्थानकलात्मसु ॥५११॥

शतमेकं तदर्धं वा

पञ्च पृथिव्यादीनि स्थानानि यासां कलानां तदात्मसु तद्विषये, तेन निवृत्तौ मच्चैतन्यस्य गर्भाधानादिकर्मपञ्चके निष्कृतिरस्तु स्वाहा इति प्रयोगः । एवमन्यत्र ॥

एषा च—

निष्कृतिः परिकीर्तिता ।

पूर्वमेव निर्णीता ।

अथ—

विश्लेषपाशच्छेदाद्ये धाम्नैव युगपद्घुतिः ॥५१२॥

ऊद्धारे चात्मतत्त्वस्थे

आदिपदाद्विधिपूरणे पाशदाहे च युगपदेव पूर्णाहोमः । अत्र च ताडनच्छेदनग्रहणैकचैतन्यभावनकारणाह्वानपुर्यष्टकांशार्पणं पूर्ववत उपजीव्यम्, पुर्यष्टकांशार्पणं सबीजायामपि भवतीति निर्णीतत्वात् ॥

अथ—

पूर्णाहुतिं तु पातयेत् ।

तयैव च—

आत्मानं योजयेत्तत्त्वे शिवे परमकारणे ॥५१३॥

ततोऽपि—

गुणान् पूर्ववदापाद्य

अवभृथस्नानेन ॥

तानेव—

अमृतान् पूर्ववत् कुरु ।

अमृतान् अविनश्वरान् ॥

सेयं प्राकृती—

आत्मदीक्षा

पुत्रकादिदीक्ष्याणाम्—

समाप्तौ तु प्रायश्चित्तनिवृत्तये ॥५१४॥

पशुसंसर्गन्यूनातिरिक्तविधिसंभावनाशङ्काशान्त्यर्थमित्यर्थः ॥५१४॥

नन्वात्मनोऽशुद्धस्य यो दीक्षया शुद्धिमादत्ते, सोऽपि यद्यशुद्धस्तदन्धेनान्धस्य हस्तग्रहणम् । अथ प्राणादिविलक्षणतया प्रत्यभिज्ञातोऽसौ शुद्धः, तर्हि तत्परामर्शादेव सर्वं संपन्नमिति किं प्राकृत्या दीक्षया । सत्यमेतत्, यदि शक्तिपातवशादेव रूढिः स्यात्, तदा प्राकृती नैव कार्या । तदा तु कुशलैकसंपाद्यां विज्ञानदीक्षामाह—

अथ विज्ञानरूपेण सकृदुच्चारलक्षणा ।

दीक्षा भवति । मध्यधामसमनुप्रवेशेन यः स्वपूर्णाहंपरामर्शमयस्य मूलमन्त्रस्य सकृदुच्चारः, स एव लक्षणं यस्याः ॥

यतः—

हेयोपादेयपाशानां युगपद् भैरवेण तु ॥५१५॥

भैरवेण निष्कलेन सकृदुच्चारितेन मायान्तानां भेदैकरसत्वेन हेयानाम्, समनान्तानां भेदाभेदरूपतयोपादेयानाम्, तथापि भेदांशसंबन्धात् पाशव्यपदेश्यानां युगपत् शुद्धिर्भवतीति शेषः। उक्तं च प्राक्—

'सकृदुच्चारितो देवि नाशयेत् सर्वकिल्विषम्' (१।४४)

इति ॥५१५॥

न केवलं युगपत् पाशक्षपणं मन्त्रेण क्रियते, यावत्परमशिवपदे—

शाश्वती संस्थितिः पश्चात्

एषां च—

सूक्ष्मदीक्षा प्रकीर्तिता।

इत्थमात्मदीक्षान्ते—

विशेषपूजनं होमं यथाशक्ति प्रकल्पयेत् ॥५१६॥

वाद्यगीतसुनृत्याद्यैः स्तुतिभिः पूजयेद्धरम्।

त्रिः प्रदक्षिणमावर्त्य कलशाग्निसमण्डलम् ॥५१७॥

अष्टाङ्गपतनं कृत्वा विज्ञपेत् परमेश्वरम्।

त्र्यधिकरणं देवं प्रदक्षिणीकृत्य ॥

किं विज्ञापयेदित्याह—

भगवन् पशुहेत्वर्थं यन्मयावाहितो भवान् ॥५१८॥

तत्क्षन्तव्यं सदा देव विधिस्थस्य मम प्रभो।

विधिर्दीक्षाकर्म, ममेति त्वयैव दत्ताधिकारस्य ॥

यदपि—

विधिन्यूनमकामस्य

प्रामादिकं विधिन्यूनत्वमपि क्षन्तव्यमित्यर्थ ॥

यस्मात्—

पूजा शास्त्रोदिता यथा ॥५१९॥

न भवेदतिभूयिष्ठा प्राकृतैर्द्रव्यसंचयैः।

यथा शास्त्रे पूजा भूयिष्ठा विततपरिपाटीकोदिता, तथा प्रकृतिपरिणामरूपैर्मितैर्द्रव्यैर्न भवेदिति विनयपरा उक्तिः, अन्यथार्घपात्रविप्रुट्संस्कृ-

तानां द्रव्याणां शिवीकृतत्वात् कथं प्राकृतत्वम् वित्तशाठ्यविवर्जनाच्च मितत्वमस्य प्रयोजकम् ॥

यत एवं ततः—

अवलम्ब्य भक्तिमात्रं विधानं यत्कृतं मया ॥५२०॥
तत्सर्वं सफलं मेऽस्तु सुप्रसन्ने विभो त्वयि ।

सुष्ठु प्रसादो मायाकालुष्यप्रशमनेन पूर्णचिद्रसमयत्वेन स्फुरणम् ॥
एवं विज्ञप्तिसमनन्तरम्—

प्रसन्नवदनो हृष्टो वरं दत्तं विभावयेत् ॥५२१॥

अथ—

उपविश्य ततो यागं संहरेत क्रमात् प्रिये ।

तत्रादौ—

अग्रं संप्रार्थ्य गृहणीयात् स्थापयेच्चास्त्ररक्षितम् ॥५२२॥

अग्रवर्ति चर्वादि अग्रम्,

'देवदेवस्य नैवेद्यं चान्द्रायणशतादिकम्'

इत्यन्यत्रोक्तत्वात् परं पवित्रमेतन्मा कश्चिद्भूतादिरदीक्षित आहार्षीदित्यस्त्रेणास्य रक्षणम् ॥

एवं कृत्वा—

विशेषपूजनं चार्घं प्रणिपातं ततः पुनः ।
निरोधार्घं ततो गृह्य अर्घं सव्यापसव्यतः ॥५२३॥
दत्त्वा विसर्जयेद् देवं धामभमन्त्रमनुस्मरन् ।

अर्घमिति—

'पश्चादर्घः प्रदातव्यः सुरया' (२।१३६)

इत्युक्तपूर्वं दत्त्वा प्रणिपातं कृत्वा निरोधप्रयोजनोऽर्घः प्रसृतस्तं परिसमाप्ते विधौ स्वरूपविश्रान्त्यर्थं सव्यापसव्यत इति ज्ञानक्रियाशक्तिव्याप्तिभ्यां दक्षवामकराभ्यां दत्त्वा विसर्जयेत् ॥

विसर्जनविधिमेव प्रदर्शयति—

आत्मनो रेचकं कृत्वा पुष्पं देवाय निक्षिपेत् ॥५२४॥

निष्कलेनेत्यर्थात् ॥५२४॥

संहारिण्या च संगृह्य मन्त्रान् पार्श्वव्यवस्थितान् ।
विद्युद्वच्चलितान् ध्यात्वा धामदेहे तु विन्यसेत् ॥५२५॥

कनिष्ठादिक्रमेण दक्षकरशाखासंवर्तनात्मा संहारिणी मुद्रा । धामदेहे सकलभट्टारके । विन्यसेत्तदेकलीनान् भावयेत् ॥५२५॥

तमपि—

विद्यादेहं भैरवस्य

निष्कलस्य उपलीनं चिन्तयेत् ॥

तल्लीनं बिन्दुविग्रहे ।

तन्निष्कलरूपमकारादिप्रशमयुक्त्या ज्योतिर्मात्रात्मनि बिन्दौ लीनम् ॥

तमपि—

बिन्दुं तु नादशक्तिस्थं शक्तिरूपं तु ग्राहयेत् ॥५२६॥

अर्धचन्द्रनिरोधिकाप्रशमयुक्त्या विमर्शप्रधाननादनादान्तरूपतां गमितमानन्दस्पर्शप्रधानशक्तिरूपं संपादयेत् ॥५२६॥

तदपि—

शक्तिरूपं व्यापकेन

स्वरूपेण स्थितं सत् ॥

प्रणवोभयसंपुटम् ।

प्रकर्षेण नूयते स्तूयते सर्वैरिति प्रणवः परं सत्त्वम्, तेन उभयतः संपुटितमित्यन्तःकृतं सर्वतो व्याप्तमित्यर्थः ॥

तथा भावितम्—

संहारिण्या तु संगृह्य द्वादशान्ते तु योजयेत् ॥५२७॥

ततोऽपि—

पूरकेण हृदि न्यस्य स्वस्थानस्थं तु भावयेत् ।

स्वस्थानं निरुपाधिप्रकाशानन्दघनमेव तत् ॥

सकलं निष्कलं रूपं तथा सकलनिष्कलम् ॥५२८॥
भिन्नावस्थं तु मन्त्रेषु हृत्स्थं तत्संस्मरेत् प्रिये ।

सकलं द्वात्रिंशदर्णम्, निष्कलं च मन्त्रविरामे प्रकाशविमर्शमात्रतत्त्वम्, सकलनिष्कलं तु चतुष्कलनाथात्मकं यदेकमप्यनुजिघृक्षया त्रिधैव भूत्वा पुनर्वक्त्राङ्गादिभूमिषु भिन्नावस्थं तदेवंव्याप्तिक्रमेतदेकमेव मान्त्रं रूपं हृत्स्थं स्मरेत् ॥

उपसंहरति—

विसर्जनविधिर्ह्येवं

यथा मण्डले तथान्यत्राप्याह—

अग्नावेवं

तत्रादावग्निम्—

प्रपूजयेत् ॥५२९॥

ततोऽपि मूलेन—

अष्टोत्तरशतं हुत्वा पूर्णाहुतिं प्रपातयेत् ।

तं च—

अर्घमाचमनं दत्त्वा प्रणिपत्य क्षमापयेत् ॥५३०॥

क्षमयेदित्यत्रार्थेऽयमैशः पाठः ॥५३०॥

कथं क्षमयेदित्याह—

मण्डलस्थप्रयोगेन रेचकापूरकेण तु ।

संगृह्य मन्त्रसंघातं यथास्थानं प्रकल्पयेत् ॥५३१॥

स्वात्मनो मन्त्रोच्चारानन्तरं नासिक्यरेचकेन निर्गत्य लोकपालादिक्रमेण धामान्तमापूर्य रेचयित्वा स्वात्मानमेव पूरयेत् । तत्र लोकपालमन्त्राणां भैरवाः, तेषामङ्गवक्त्राणि तेषां सकलः, तस्यापि सकलनिष्कलः, तस्यापि व्याख्यातरूपनिष्कलनाथः स्थानमित्ययमेवात्र क्रमः ॥५३१॥

इत्थमग्निस्थं देवं विसृज्य—

जागरयेत्तदाग्निं तु नित्यकर्मनिमित्ततः ।

मा भूत् प्रतिदिनं संस्करणमित्याशयः ॥

अथ—

निर्माल्यनयनं कुर्याद्रजांस्यपहरेत् प्रिये ॥५३२॥

ततः प्रविश्य वसुधां प्रोक्षयेत्तां शिवाम्भसा ।

निर्गतं माल्यं निर्माल्यम्, नतु चण्डेशकल्पनया, तस्या इह विशेषनयेष्वचोदितत्वात् ॥

अथ—

बहिर्निर्गत्य भूतानां बलिकर्म तु पूर्ववत् ॥५३३॥

प्रागुक्तेनैव मन्त्रेण कार्यम् ॥५३३॥

अथ—

आचम्य सकलीकृत्य लिङ्गिनस्तर्पयेत्ततः ।

लिङ्गिनो जटाभस्मादियुक्तान् । उक्तं च—

'शिवस्य परिपूर्णस्य किं नाम क्रियते नरैः ।
यत्कृतं शिवभक्तेषु तत्कृतं तु शिवे भवेत् ॥'

इति शिवधर्मेषु ॥

अनन्तरम्—

गुरुं संपूजयेच्छिष्यो यथाविभवविस्तरैः ॥५३४॥

अथास्मै स्वात्मानमनृणीकर्तुम्—

देशाध्यक्षो ग्रामशतं मण्डलेशस्तदर्धकम् ।
शतभुक् पञ्च वै दद्याद् ग्रामं विंशतिभुक् तथा ॥५३५॥
दद्यात्तु ग्रामभुक् क्षेत्रं क्षेत्रभोक्ता तु विंशतिम् ।

विंशतितमं भागमित्यर्थः । एतच्चोपलक्षणम् ॥

वस्तुतस्तु—

येन येन गुरुस्तुष्येत् तत्सर्वं विनिवेदयेत् ॥५३६॥
ततस्त्वनृणतां याति वित्तशाठ्यविवर्जितः ।

वित्तशाठ्ये सति लोभादियुक्तस्य शरीरादिप्रभातृत्वानुग(त्वं न) मना ? द (ग) पि(मि ? ग)लितमिति दीक्षासंस्कारोऽस्य न सम्यग्वृत्त इत्यनुमीयते । यत्र च शिष्यस्येदृग् वृत्तं तत्र गुरुर्दण्डापूपिकयैव निर्लोभः सिद्धः । अथ एव प्राक्—

'पुष्पं पाणौ प्रदापयेत्' (४।५०३)

इत्युक्तम् ॥

एवं विदितयोग्यभावः शिष्यः—

ततस्तु समयान् श्राव्यस्तन्त्रे भैरवनिर्गते ॥५३७॥

ते चाग्रे भविष्यन्ति ॥

अथ च—

चरुकं प्राशयेत् पश्चाच्चुम्बकः साधकैः सह ।

वाङ्निरुद्धः प्रसन्नात्मा पृथक् पात्रव्यवस्थितः ॥५३८॥

चरुकमिति प्रार्थितनैवेद्यम् । साधकैरित्युपलक्षणम् । चुम्बति परम्परायातेन गुरुवक्त्रेण संयोज्यते संयोजयकि च शिष्यमिति निरुक्त्या चुम्बको गुरुः । परमपवित्रचरुभोजने वाङ्निरुद्धत्वं चित्तैकाग्र्याय, अत एव प्रसन्नात्मा ॥

स च चरुः साधकादीनां ज्येष्ठादिक्रमेण देय इत्याह—

अनुक्रमेण दातव्यः

एवं हि सति स स चरुभोजी—

ततः सिद्धिमवाप्नुयात् ।

एष च दीक्षाविधिरसामान्यरूप इत्याह—

अनेनैव विधानेन दीक्षिता ये वरानने ॥५३९॥

ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्राश्चान्येऽथवा प्रिये ।

सर्वे ते समधर्माणः शिवधर्मे नियोजिताः ॥५४०॥

सर्वे जटाधराः प्रोक्ता भस्मोद्धूलितविग्रहाः ।

नात्र अन्यतन्त्र इव दीक्षितानां प्राग्जातिसंस्कारः कोऽपि, केवलं समयादिभेदादेव भेदः ॥

अत एव—

एकपङ्क्तिभुजः सर्वे समयिनस्तु वरानने ॥५४१॥

सर्वं इति ब्राह्मणाद्याः संकीर्णाश्च ॥५४१॥

किं च—

पुत्रकाणां भवेदेका साधकानां तथा भवेत् ।

चुम्बकानां भवेदेका

पङ्क्तिरित्यर्थात् ॥

न प्राग्जातिविभेदतः ॥५४२॥

यतः—

एकैव सा स्मृता जातिर्भैरवीया शिवाव्यया ।

उक्तं हि प्राक्—

'तस्मिन् युक्तः परे तत्त्वे सार्वज्ञ्यादिगुणान्वितः ।
शिव एको भवेद् देवि अविभागेन सर्वतः ॥' (४।४०२)

इति । यत एषा भैरवसंबन्धिनी जातिस्तत एव श्रेयोरूपा च नित्या च ॥

अत्रायमेवागमः प्रमाणमित्याह—

तन्त्रमेतत् समाश्रित्य प्राग्जातिं नह्युदीरयेत् ॥५४३॥
पुत्रकाणां साधकानां तथा समयिनामपि ।

किं पुनराचार्याणामेतत्तन्त्राश्रितानामेव । अयं नियमो न लौकिकानाम्, तन्त्रमेतत्समाश्रित्येत्येतदावृत्त्या योज्यम् ।

अतश्च एतत्तन्त्रदीक्षितः—

प्राग्जात्युदीरणाद् देवि प्रायश्चित्ती भवेन्नरः ॥५४४॥

नर इत्यात्तदेहादिग्रहः ॥

अतश्च—

दिनत्रयं तु रुद्रस्य पञ्चाह केशवस्य च ।
पितामहस्य पक्षैकं नरके पच्यते तु सः ॥५४५॥

यत एवम्—

अविवेकी भवेत्तस्माद्यदीच्छेदुत्तमां गतिम् ।

अविवेकी स्वात्मानमिव दीक्षितान् शिवैक्येन पश्यन् ॥

यतः—

अविवेकेन देवेशि सिद्धिर्मुक्तिर्ध्रुवं भवेत् ॥५४६॥

शिवैक्यदार्ढ्यमेव सर्वश्रेयःसाधनमिति शिवम् ॥

तन्त्रार्थप्रतिजागरात् प्रतिपदं सद्व्याप्तिसंदर्शनात्
सम्यक्संकलनाक्रमात् प्रकटितो दीक्षाविधिर्यो मया ।
उद्द्योतेऽत्र तमामृशन्तु गुरवः श्रीशंकराज्ञाधरा
दीक्षां दीक्ष्यजनस्य कर्तुमभितो भोगापवर्गप्रदाम् ॥

इति श्रीमहामाहेश्वराचार्यवर्यविपश्चिच्चक्रचक्रवर्तिश्रीक्षेमराज-
विरचिते श्रीमत्स्वच्छन्दोद्द्योते दीक्षाभिषेकप्रकाशनं नाम
चतुर्थः पटलः संपूर्णः समाप्तः ॥

———

पञ्चमः पटलः

दीक्षादीक्षणनिर्माणनानोपायप्रदर्शनः ।
जयत्यनुग्रहैकान्तविश्रान्तः परमेश्वरः ॥

अथ पटलसंगतिं कुर्वती उक्तकलादीक्षानुवादपूर्वं तत्त्वदीक्षां प्रस्तावयितुं श्रीदेव्युवाच—

कलादीक्षा सुरेशान कथिता परमेश्वर ।
तत्त्वदीक्षां समासेन कथयस्व प्रसादतः ॥१॥

सुरेशानो ब्रह्मादीनां स्वामी । परमेश्वरस्तु परभैरवसत्तानुप्रवेशात् । समासेनेति संक्षेपेण विधिविस्तारस्य कलादीक्षायामुक्तत्वात् ॥१॥

एवमभ्यर्थितः श्रीभैरव उवाच—

समासात् कथयिष्यामि त्वत्प्रियार्थं वरानने ।

पूर्वं प्रश्नेन प्रकृतां तत्त्वदीक्षां नानाभेदभिन्नाम् ॥

तत्र—

षट्त्रिंशत्तत्त्वमुख्यानि यथा शोध्यानि पार्वति ॥२॥
पृथिव्यादिशिवान्तानि स्वव्याप्त्यानुगुणैः सह ।
यथा शुद्ध्यन्ति देवेशि तथा ते कथयाम्यहम् ॥३॥

तत्त्वदीक्षायां तत्त्वानामन्तर्भाविताध्वान्तरापेक्षं प्राधान्यमेव व्याप्तिरध्वान्तराणां तु गुणीभावः । एवमन्यत्र । येन प्रकारेण शोध्यानि शोधनीयानि, यथा च शुद्धयन्ति तथा शोधकशोध्यगतं प्रकारं तव अनुग्रहैकपरायाः कथयामीति प्रतिज्ञा ॥३॥

तत्र—

विद्याराजस्य ये वर्णा नवसंख्योपलक्षिताः ।
वाचकास्ते च तत्त्वानां

शोध्यत्वेनोपस्थाप्यानाम् ॥

यथा भवन्ति तथा—

कथयाम्यनुपूर्वशः ॥४॥

तत्र—

धरित्र्यादिप्रधानान्तमूकारो वाचकः स्मृतः ।

पुरुषस्य यकारो वै रागतत्त्वान्वितस्य च ॥५॥

स्मृत इति श्रीश्रीकण्ठेन । अतश्च तेनैव वर्णेन प्रणवनवात्मोच्चारपूर्वं तत्तत्तत्त्वं कलोपस्थापनवदुपस्थाप्य अध्वसंधानादिशुद्धाशुद्धतत्त्वानुसंध्यन्तं सर्वं पूर्ववत् कर्तव्यम् । एवं सर्वत्र । पुरुषस्य स्पृहामयत्वाद् रागतत्त्वान्वितस्येत्युक्तम् ॥५॥

नियामिकां वकारेण विद्यातत्त्वसमन्विताम् ।

कालं कलां लकारेण कल्पयेत्तु वरानने ॥६॥

किंचिद्वेदनात्मनोऽशुद्धविद्यायाः किंचिदंशे नियमानुप्रवेशान्नियत्या सह निर्देशः । कलायास्तु किंचित्कर्तृत्वात्मनः क्रियाविशिष्टायाः कालानुवेधस्यावश्यंभावात् कालेन सह निर्देशः । सहनिर्देशश्चायं वाच्यवाचकभावप्रदर्शनाय । शोधनं तु पृथगेव ॥६॥

किं च—

मायातत्त्वं मकारेण विद्यातत्त्वं क्षकारतः ।

रेफेण चैश्वरं तत्त्वं हकारेण सदाशिवः ॥७॥

प्रणवेन तथा शक्तिर्न्यसितव्या वरानने ।

प्रणवेन बिन्दुना । शक्तिरिति शक्तितत्त्वं परमशिवरूपमेव ॥७॥

अत एव—

व्यापिनीं समनां चोर्ध्वे तत्रैव तु विशोधयेत् ॥८॥

तत्रैवेति शिवतत्त्वे प्रणवेनैव ॥८॥

एतच्च सर्वं पूर्वोक्तेन सर्वेण विधिना—

शोधयित्वा क्रमेणैव मूलमन्त्रेण सुव्रते ।

योज्य आत्मा परे तत्त्वे उन्मनातीतसर्वगे ॥९॥

निराभासे परे शान्ते ईशाने चाव्यये त्वजे ।

शिष्यदेहे पादान्ताद् गुल्फान्तं पृथ्वी, गुल्फान्नाभ्यन्तं जलादिप्रधानान्तानि त्रयोविंशतिः, ततस्तालवन्तं पुमादिमायान्तानि सप्त, ततो ब्रह्म-

बिलोपान्तं विद्यादिसदाशिवान्तं त्रयम्, तदुपरि समनान्तं शक्तितत्त्वसहितं शिवतत्त्वम्, इति तत्त्वानि विन्यस्य, दीक्ष्यस्य तानि सर्वाणि क्रमेण पूर्वोक्त-विधिना प्रोक्तनवास्मावयवैः शोधयित्वा, आत्मा परे तत्त्वे परमशिवे, मूलमन्त्रेणेत्यवयवापेक्षया समग्रेण नवात्मना योज्यः। कीदृशे ? उन्मनामतीते तदनुप्रवेशानन्तरलभ्ये शक्तिमदात्मनि सर्वगे व्यापके। ईषद्भासनाद् निष्क्रान्ते सर्वाभासोत्थापके च, निःशेषभेदोपशमात् परे शान्ते, ईशाने विश्वेश्वरे, अव्यये अजे चेति नित्ये ॥९॥

तदित्थमेकैकं शोधनीयत्वेन—

षट्त्रिंशत्तत्त्वमाख्यातं

पात्रादित्वात् समाहारे स्त्रीप्रत्ययाभावः ॥

अथ—

नवतत्त्वं प्रचक्ष्महे ॥१०॥

तत्र—

प्रकृतिः पुरुषश्चैव नियतिः काल एव च।
माया विद्या तथेशश्च सदाशिवशिवौ तथा ॥११॥

एतानि मुख्यानि नवतत्त्वानि नवभिर्नवात्मकैः प्रातिलोम्येन पूर्वोक्त-विधिना—

शोधयित्वा तु विधिवद्व्याप्त्यात्मानं नियोजयेत्।

शिष्यस्य, प्राधान्येन तु—

पञ्चतत्त्वी यदा शोध्या

तदा—

वक्त्रमन्त्रास्तु वाचकाः ॥१२॥

तैश्च सद्योजातादिक्रमेण—

धरित्र्यादि खपर्यन्तं शोधयेत् तत्क्रमेण तु।

तत्त्वपञ्चकस्याशेषाध्वशुद्ध्यनुगुणां निवृत्त्यादिकलाव्याप्तिमाह—

कलानां यावती व्याप्तिस्तत्त्वानां तावदेव हि ॥१३॥

एवं च वदन् कलादीक्षोक्तोऽत्र सर्वो विधिः, केवलं कलोपस्थापना-द्यवसरे सद्योजातादिमन्त्रैर्धरादितत्त्वोपस्थापनादि कार्यम्। अतश्च तत्त्व-

पञ्चकमेतद् भगवद्वक्त्रमन्त्रस्फारसारतया परभैरवमयमेवेति तदभेदव्याप्तिरेव परं शुद्धिसाधनमिति शिक्षयति ॥१३॥

अथ--

त्रितत्त्वमधुना वक्ष्ये यथा शोध्यं वरानने ।

आत्मविद्याशिवाख्यं मेयमानमातृरूपम् ॥

अस्य वाचकव्याप्तिमाह—

अकार आत्मतत्त्वस्य वाचकः परिकीर्तितः ॥१४॥

मायान्तं तद्विजानीयात्

अकार इति प्रणवसत्कः। मायान्तमेकत्रिंशता तत्त्वैरपरिवर्जित आत्मा शिवशक्तेर्मेय इति तावत्येवास्य व्याप्तिः ॥

विद्याख्यस्याप्युकारकः ।

सकलावधि तज्ज्ञेयं

विद्या ज्ञानक्रियात्मा शक्तिः शुद्धविद्येश्वरसदाशिवव्याप्तिका । सकलः सदाशिवः ॥

तदुपरि शक्तिव्यापिनीसमनाशक्तिव्यापकस्य—

शिवस्य तु मकारकः ॥१५॥

यस्तु तदूर्ध्वगो बिन्दुरुन्मनाव्याप्तिसतत्त्वः—

खस्वरः

खं पराकाशं स्वरयति शब्दयति सः पराकाशात्मा ॥

अत एव—

खस्वरूपस्य शिवतत्त्वस्य वाचकः ।

तदित्थमेतदनुसंधाय प्राग्वदध्वोपस्थापनपूर्वम्—

शोधयित्वा क्रमेणैव

शिष्यात्मानम्—

परे तत्त्वे नियोजयेत् ॥१६॥

खस्वरोक्तव्याप्तिसारेण प्रणवेन ॥१६॥

तदित्थमत्र—

तत्त्वदीक्षा समाख्याता चतुर्भेदव्यवस्थिता ।

पूर्वं तु योजनिकाग्रन्थान्ते एकतत्त्वदीक्षायुक्तेति दर्शितमेव ॥

एवं प्रश्नितां तत्त्वदीक्षामुक्त्वा, अनुजिघृक्षोर्भगवत्या आशयपरितोषायाप्रश्नितामपि पदादिदीक्षां निरूपयिष्यन् भगवानाह—

पददीक्षां प्रवक्ष्यामि यथावदनुपूर्वशः ॥१७॥

वर्णमन्त्रदीक्षाभ्यां तुल्येतिकर्तव्यतां भुवनदीक्षां तदवसर एव संक्षेपेण प्रतिपादयिष्यति, विस्तरेण तु दशमपटले । ततः पददीक्षामेव तावदाह ॥१७॥

तत्र—

विद्याराजे तु ये वर्णा नवसंख्योपलक्षिताः ।
पृथग्भेदेन तेषां तु विन्यासं कथयामि ते ॥१८॥

तत्र—

नवनाभं पुरं कृत्वा नवपद्मोपलक्षितम् ।

कथम्—

नवहस्तं लिखेद्वेश्म अष्टपर्वाधिकं बुधः ॥१९॥

वेश्म मण्डलक्षेत्रम् । अष्टभिः पर्वभिरङ्गुलैराधिक्ये सर्वमेतत् क्षेत्रमङ्गुलशतद्वयं चतुर्विंशत्यधिकं भुवनाध्वप्रतिबिम्बरूपं भवति । तस्मिन् सर्वतः सप्तभागकल्पनयैकैकस्य भागस्य द्वात्रिंशदङ्गुलत्वं जायते, इति तदर्थमङ्गुलाष्टकाधिक्यदानम् ॥१९॥

अथ—

सप्तभागीकृतं तत्तु

कुर्यात् ॥

किं कृत्वा—

दक्षिणोत्तरभाजितम् ।

चतुरश्रं विभज्यादौ मत्स्यैश्चैवात्र चिह्नितम् ॥२०॥

भाविनीत्या ब्रह्मस्थानात् पूर्वापरदिशौ अङ्कयित्वा, किंचिदूनेन चतुर्भागेन क्षेत्रमानेन सूत्रेण पूर्वापराङ्कयोर्वामहस्तप्रतिबद्धेन दक्षकरगताग्रभागेन पार्श्वयोर्मत्स्यबन्धाकारं रेखाद्वयमुत्पाद्य, तन्मध्ये सूत्रमास्फाल्य दक्षिणोत्तरभाजितं क्षेत्रं कृत्वा, क्षेत्रार्धमानेन सूत्रेण पार्श्वगतमध्याङ्कप्रतिबद्धेन कोणेषु मत्स्यबन्धचतुष्कमुत्पाद्य, तत्र सूत्रास्फालनेन चतुरश्रं विभजेत्यत्र पिण्डार्थः ॥२०॥

एवं चतुरश्रे क्षेत्रे पूर्वापरायतैः सूत्रैः सप्तधा विभक्ते—

कोष्ठकैकोनपञ्चाशत् सूत्रेण तु समालिखेत् ।

दक्षिणोत्तरायतैर्मध्यगतैः षड्भिः सूत्रैरेकोनपञ्चाशतं कोष्ठकानुत्थापयेत् ॥

एवं कृत्वा—

मध्यमे कोष्ठके सूत्रं द्वात्रिंशाङ्गुलसंमितम् ॥२१॥
समालिख्य महादेवि चतुर्भागविभाजिते ।

ब्रह्मस्थानाच्चतुर्भिः समभागैर्भ्रमैः पर्यन्तभाविव्योमरेखावकाशं परिकल्प्य विभक्त इत्यर्थः ॥

तत्र भागचतुष्टयमध्यात्—

प्रथमे कर्णिकां कुर्यात् केसराणि द्वितीयके ॥२२॥
तृतीये दलसंधींश्च दलाग्राणि चतुर्थके ।

यत्र दलानि तदग्रैः संधीयन्ते ते दलसंधयः॥

पूर्वोक्तेषु चतुर्षु भागेषु वृत्तवर्तनविधिमाह—

दिक्षु रेखाष्टकं दत्त्वा प्रतिदिक्षु तथैव च ॥२३॥
भ्रामयेच्चतुरो वृत्तांश्चतुरङ्गुलसंमितान् ।

दिक्षु अष्टस्वष्टौ, तन्मध्ये चाष्टौ सूत्राणि दत्त्वा, ब्रह्मस्थानात् पूर्वविभागाङ्केषु चतुरो भ्रमान् कुर्यात् ॥२३॥

अथ—

द्वाभ्यां प्रतिदिग्रेखाभ्यां मध्ये सूत्रं निधाप्य तत् ॥२४॥
सूत्राग्रं तु ततो भ्राम्यमर्धचन्द्रविधानतः ।

प्रतिदलसंधि अर्धचन्द्रद्वयविधानाय पूर्वदिग्रेखायाः पार्श्वरेखाभ्यामुपलक्षिते मध्ये मध्यद्वये वामेन करेण सूत्रं रुद्ध्वा, दक्षिणेन सूत्राग्रं पार्श्वरेखाभ्यां मध्यरेखान्तं भ्रामयेत् । अत्र चैकैकपार्श्वरेखा आयामतो मध्यात् विभक्तव्यायामेन संसक्तदला भवति ॥२४॥

अर्धचन्द्रयोरुत्पत्तिहेतुप्रतिदिग्रेखयोर्मध्यद्वये मध्यग्रहणाय केसरसिद्ध्यर्थम्—

मध्यसूत्रं च दातव्यं किञ्जल्कस्थं विपश्चिता ॥२५॥

किंजल्के केसरे तन्निमित्तं तिष्ठन्ति । तेनैकैकार्धचन्द्रमध्यानुसारदलमध्यसूत्रोत्पन्नकिंजल्कस्य पार्श्वयोः किंजल्कद्वयोत्पादनाय अर्धचन्द्रद्वयोत्पत्त्यर्थं मध्यलाभे चादावेव सूत्रद्वयं देयम् । एवं साकल्येन द्वात्रिंशत् सूत्राण्येतानि भवन्ति ॥२५॥

एतदुपसंहरन्नन्यत्राप्यतिदिशति—

पूर्वपत्रं प्रसाध्यैवमितराण्यवमेव हि ।

प्रसाधयेत् ॥

तत्र च—

केसराणि च संलिख्य चतुर्विंशतिसंख्यया ॥२६॥

पत्राग्रतो न्यसेल्लेखां वर्तुलां तु सुशोभनाम् ।

प्रतिदलं त्रीणि केसराणि । पत्राग्रत इति दलान्युत्पाद्य तद्बहिः सुशोभनां संपूर्णाम् ॥२६॥

किं च—

तस्यान्तं चतुरश्रं तु कर्तव्यं तत्प्रमाणतः ॥२७॥

तस्येति वृत्तरेखान्तस्य पद्मस्य । तत्प्रमाणत इति वर्तुलरेखाप्रमाणरेखम् ॥२७॥

सर्वस्यास्य विधेर्भित्तिभूतमाद्यं विधिं वक्तुमाह—

पूर्वं ब्रह्म प्रसाध्यं तु विषुवत्स्थेन हेलिना ।

ब्रह्म मध्यस्थानम् । हेलिः सूर्यः ॥

तत्रादौ—

पूर्वपश्चात्ततं सूत्रं शङ्कुना साधयेत् प्रिये ॥२८॥

द्वादशाङ्गुलमानेन

शङ्कुः कीलकम् ॥२८॥

कथम्—

मध्ये शङ्कुं प्ररोप्य तम् ।

पार्श्वेषु भ्रामयेद्रेखां षोडशाङ्गुलसंमिताम् ॥२९॥

शङ्कुक्षेत्रात् षोडशाङ्गुलं भ्रमं द्वात्रिंशदङ्गुलपद्मार्थं दद्यात् । एतच्च घिॄजतिक्षक्षेत्रोपलक्षणपरम् ॥२९॥

तत्र च—

पूर्वाह्णे ग्राहयेच्छायामपरस्थां सुचिह्निताम् ।
अपरस्थेन सूर्येण प्राक्छायां लाञ्छयेत् प्रिये ॥३०॥

एवं भ्रमरेखाच्छायापृष्ठे पूर्वापरदिगङ्कनां कृत्वा—

ध्रुवेणोत्तरदक्षस्थां लाञ्छयेत्तु वरानने ।

ध्रुवेण शङ्कुना हेतुभूतेन पूर्वनिर्णीतदिशोः स्थापितमत्स्यद्वयमध्यसूत्रेण उत्तरदक्षस्थां भ्रमरेखां लाञ्छयेत् । यद्वा क्वचिद्रात्रावेव विधातव्ये यागे ध्रुवेणेति चतुर्दशतारकारब्धशरीरेण ध्रुवनाम्ना निश्चलेन तारकेणादौ उत्तरदक्षिणदिक्सिद्धिं कुर्यात् । तत्र चैवमामनन्ति – सुषिरनाडिकामुखेन ध्रौव्यीं मुखतारामुत्तरदिक्संस्थां लक्ष्यीकृत्य तन्नाडिकानुसारेणोत्तरां दिशमङ्कयित्वा ध्रुवनाडितारानुसारेण मध्यम्, तत्पुच्छतारानुसारेण च दक्षिणामङ्कयेत् । ततो मध्यरन्ध्रानुसारं पूर्वापरेऽप्यङ्कयेत् । अत एवान्यत्र—

'ध्रुववेधेन वोदीचीम्'

इत्युक्तम् । यत्तु तत्र—

'प्राचीं वा ध्रुवतारया'

इत्युक्तम्, तत्र ध्रुवतारासाम्येन मध्यं कल्पयित्वा तदनुसारं प्राचीं गृहीत्वा तदनुसारमितरां व्यवस्थापयेदिति योज्यम् । ध्रुवं ध्रुवस्थानग्रहणचतुरश्रीकरणपूर्वमेकोनपञ्चाशद्भागानां मध्यभागे पूर्वोक्तक्रमेण पद्मं कुर्यादिति ।

उपसंहरति—

ततः समालिखेत् पद्ममष्टपत्रं सकर्णिकम् ॥३१॥

अथ –

दिक्कोष्ठकांश्च संगृह्य अष्टसंख्योपलक्षितान् ।
शेषा लोप्या वरारोहे एकान्तरितयोगतः ॥३२॥

चतुर्दिक्कद्वारार्थं बहिःकोष्ठकपङ्क्तिं त्यक्त्वा मध्यपद्मानुसारं दिक्षु प्रतिदिक्षु चैकैककोष्ठकलोपान्तरितकोष्ठकाष्टकं पद्माष्टकार्थं गृह्णीयात् । एवं च मध्यवीथ्या पद्माष्टकक्षेत्रस्य द्वारवीथ्याश्चैकेनैव ग्रन्थेन स्वीकार उक्तः ॥३२॥

एवं चाष्टसु कोष्ठेषु—

पद्माष्टकं ततो दिक्षु

कुर्यात् ॥
अथ—

बाह्ये द्वाराणि चालिखेत् ।

कथम्—

वीथ्यर्धसंमितां देवि शोभां चैव प्रकल्पयेत् ॥३३॥
उपशोभां च तन्मानां कपोलान्तं समालिखेत् ।
तथा कण्ठं च तन्मानं द्वारमेतत् प्रकीर्तितम् ॥३४॥

बाह्यवीथ्या मध्ये दैर्घ्ये सूत्रं दत्त्वा, आद्येऽर्धे वीथीं कृत्वा, परार्धं कल्पितवीथिक्षेत्रादूर्ध्वतोऽर्धमानां शोभां द्वारीयकण्ठपार्श्वोत्पद्यमानं विपुलमवयवमुपशोभां च तदधोगतं सूक्ष्मं भागं कल्पयेत् । कपोलो द्वारस्याग्रे विपुलो भागः । कण्ठस्तु कपोलपुरःसरो भागः तं च तन्मानमिति निरूपितवीथ्यर्धमानं दैर्ध्यादिचैव वैपुल्याच्च कल्पयेत् । कपोलस्यात्र मानं यद्यप्यर्थसिद्धत्वान्नोक्तम्, तथापि तद्दैर्घ्यात् वीथिमानं वैपुल्यात्तदर्धमानमिति संहितान्तरादवसितम्, इत्येतद्भागनिष्पत्त्या द्वारं निष्पद्यत इत्यर्थः ॥३४॥

तदित्थम्—

द्वाराष्टकविभागेन नवनाभं पुरं स्मृतम् ।

विदिशि द्वारस्याम्नातत्वात् प्रतिदिशं पद्मत्रयान्तरालद्वारद्वयं कुर्यात् । एवं च द्वाराष्टकविभक्तं नवनाभं नवनाभिस्थानस्थनवपद्ममेतत् पुरमण्डलम् । अत्र च देवसंमुखं द्वारद्वयमपिहितं कार्यम् । यथोक्तं लक्ष्मीकौलार्णवे—

'द्वारत्रयं पिधातव्यं पश्चिमं न पिधापयेत् ।
तच्च पूर्वं विजानीयाद्देव्या देवस्य संमुखम् ॥
पूर्वं तु पश्चिमं ज्ञेयं पश्चिमं पूर्वसंज्ञितम् ।
उत्तरं दक्षिणं ज्ञेयं दक्षिणं चोत्तरं तथा ॥
सामान्यः सर्वमन्त्राणां क्रमोऽयं शिवभाषितः ।
गोपनीयः प्रयत्नेन शिष्याणां दुष्टचेतसाम् ॥'

इति : एतत्तु गुरुपारम्पर्येणायातम् । तद्यथा—

'मूलाद्यक्षिपरप्रतीततनुगद्वाराष्टकोर्ध्वोन्मिसा-
घोरादित्रितयत्रयात्मविकचज्योतिर्नवाब्जद्युतिम् ।
मूलादिग्रहतत्त्वपर्वभुवनाभेदप्रथं भैरवं
स्वं वन्दे नवनाभमण्डलरहः सारं नवात्मेश्वरम् ॥'

इति । अस्यायमर्थंन्यासोऽत्र—

'धाम्ना तु रजसां पातः सिताद्यश्चागमोदितः ।' (४।३५)

इति पूर्वमुक्तत्वादागमान्तरोक्तविभागोऽनुसर्तव्यः । स च—

'लेख्या चात्र सिता रेखा शालिपिष्टकृता पुरः ।
हरिद्रावर्णसंमिश्रा कर्णिका पीतपिञ्जरा ॥
सितपीतारुणानां स्यात् केसराणां त्रयं दले ।'
'तानि शुक्लानि वा कुर्याद्धरितान्यन्तराणि वा ।
कोणा रक्ताः सितं पीठं प्रतिरेखा सिताङ्गुलात् ॥'

इति । तथा—

'अङ्गुष्ठः शक्तिमान् विन्दुश्चतस्रोऽङ्गुलयः कलाः ।
तदाधारं रजः कृत्वा शक्तिस्पर्शा च बिन्दुना ॥
पातयेच्छक्तिगर्भं तत्तेन तच्छक्तिमण्डलम् ।'

इति श्रीपरायामस्ति । अथवा—

'सितं पद्मं विजानीयात् केसरांस्तु विचिन्तयेत् ।
सितान् पीतांस्तथा रक्तान् मूलमध्याग्रतः क्रमात् ॥
कर्णिका हेमसंकाशा पुष्करा हरिताः स्मृताः ।'

इति । इहान्तर्यागोक्तध्यानानुसारं रजःपातः कार्यः ॥

अथ—

स्नात्वा तु विधिवद् देवि प्रविशेद्भवनं

द्वारार्चां कृत्वा—

गुरुः ॥३४॥

ततः—

पूर्वोक्तेन विधानेन सकलीकरणादिकम् ।

कुर्यात् ॥

ततः संपूजयेद् देवं भैरवं परमेश्वरम् ॥३६॥

केन—

प्रणवेन

नवात्मसत्कबिन्दूपलक्षितसमग्रोर्ध्वव्याप्तिसतत्त्वेनेत्यर्थः ॥
किं कृत्वा इत्याह—

आसनं दत्त्वा शिवान्तं वरवर्णिनि ।

प्रणवेनेति काकाक्षिवदिहापि योज्यम्, तेन पूर्वोक्तानन्ताद्यनन्तमध्यानन्तान्तव्याप्तिना प्रणवेनासनं तेनैवोन्मनान्तव्याप्तिना तून्मनाभिन्नपरमशिववादिना भैरवं पूजयेदित्यत्रार्थः । वरमुत्कृष्टं परं तत्त्वं वर्णयति परामृशति तच्छीला वरवर्णिनी ॥

क्व किं कथं पूजयेदित्याह—

मध्ये संपूजयेद् देवं स्वच्छन्दं परमेश्वरम् ॥३७॥

पूर्वोक्तेन विधानेन अङ्गषट्कसमन्वितम् ।

मध्य इति पद्मकर्णिकायाम् । विधानमावाहनादिसुरार्घपर्यन्तं सर्वम् । अङ्गान्यप्यत्र प्रणवेनैव स्वनामजात्यन्तेन नवात्मनावयवभेदेन मन्त्रान्तरावकाशयोगात् । एवं पद्मान्तरेष्वपि वक्ष्यमाणकपालीशादिभैरवतदङ्गपूजा मन्तव्या ॥३७॥

तदेवं मध्यपद्मे कर्णिकायां वर्णतद्वाच्यदेवतान्यासावुक्तौ, तत्पत्रेष्वप्याह—

पत्राष्टके न्यसेद्वर्णान् पूर्वादीशांस्ततः क्रमात् ॥३८॥

तत्र—

सदाशिवं हकारेणेत्येवमादि वरानने ।

प्रकृत्यन्तं विजानीयान्मध्ये पीठेशकल्पना ॥३६॥

पीठेशं स्वच्छन्दनाथं मध्यकर्णिकायां शिवत्त्वाधिष्ठायकं विन्यस्य, सृष्टिक्रमेण नवात्मसंबन्धिहरक्षमलवयऊकारैः पूर्वादीशान्तदलाष्टके कपालीश - शिखिवाहन-क्रोधराज-विकरालमन्मथ-मेघनाद-सोमराज-विद्याराजान् सदाशिवेश्वरविद्यामायाकलानियतिपुरुषप्रकृतितत्त्वाधिष्ठायिनो विन्यस्यार्चयेदित्यर्थः ॥३६॥

मध्यपद्मे विधिमुक्त्वा पूर्वादिपद्मेषु संक्षेपेण निरूपयति—

दिक्पद्मकर्णिकासंस्थानष्टौ देवान् प्रपूजयेत् ।

मध्यपद्मे पूर्वादिदलेषु यैरेव हकारादिभिर्वर्णैर्ये कपालीशादयो भैरवास्तानेव तैरेव वर्णैः पूर्वादिदिक्पद्मकर्णिकासु पूजयेत् ॥४०॥

पूर्वादिपद्मेषु स्वच्छन्दनाथस्य स्थानमाह—

तत्स्थाने भैरवः पूज्यः

प्रणवेणैव पूर्वोक्तेन। पूर्वपद्मस्य मध्ये हकारेण कपालीशः, प्रणवेन तु पूर्वदले स्वच्छन्दः। आग्नेयपद्मस्य मध्ये रेफेण शिखिवाहनः, शिखिवाहन-स्थाने आग्नेयपत्रे प्रणवेन स्वच्छन्दनाथः। एवमन्यत् एवं चैकैकभैरवस्थाने पर्यायेण स्वच्छन्दनाथस्य विन्यस्तत्वात् तद्भेदव्याप्तिसारता सर्वभैरवाणां तदधिष्ठेयानां च सर्वतत्त्वानां शिवतत्त्वव्याप्तिमयतैव दर्शिता, इति परमाद्वयमयतया महारहस्यसारताऽस्यानुष्ठानस्य प्रकटिता, अतश्च 'सर्वतः सर्वेभ्यः' इति रूपविशेषेण मन्त्रपदार्थः स्फुटीभूतो जात इत्यलम् ॥

पूर्वादिदलानां कपालीशादिस्वपीठेश्वरदलव्यतिरिक्तेषु दलेषु मध्य-पद्मदलोक्त एव न्यासादिविधिरित्याह—

शेषा वर्णैर्यथाक्रमम् ॥४०॥

एष च वर्णन्यासः पूर्वमेवास्माभिः प्रस्तारेण दर्शितः। अत्र च पृथक्-पृथक् पद्मस्थित्या नव, सामस्त्येन चैक इति दश देवगृहा जाताः, भगवतो विद्याराजस्य बिन्दुसतत्त्वत्वात् तदवयवानामपि पूजाकाले बिन्दुयोगोऽवश्यं-भावी, एकैकोऽपि च वर्णः प्रदर्शितक्रमव्याप्त्या संपूर्णविद्याराजस्फार एव। यद्वक्ष्यति—

'यतः सर्वगतो देवः सर्वेष्वन्तर्गतः स्मृतः।
तत्सिद्धिमुक्तिदातासौ न वर्णाः परमार्थतः॥' (८।२५)

इति ॥

एवं सृष्टिक्रमेण न्यासमुक्त्वा संहारक्रमेण दीक्षामाह—

शोधयेच्च प्रकृत्यादिशिवान्तं सुरसुन्दरि।

प्रकृतिर्वाच्यरूपा आदिः शिवश्चान्ते यस्य पदजातस्य तच्छोधयेत् ॥ कथम्—

ईशानदिश आरभ्य मध्यपीठं विशोधयेत् ॥४१॥

ईशानदिक्पद्मगतेशानदिक्पत्रात् पूर्वोत्तरादिक्रमेण प्रणवाद्यूकारान्तं पदनवकं प्रणवविद्याराजोच्चारपूर्वकमुच्चार्य, प्रकृतितत्त्वस्य अन्तर्णीत-क्षित्यादिगुणतत्त्वान्ततत्त्वजातस्य पूर्ववदन्तर्भूतेतराध्वप्रपञ्चस्य चात्रैवान्तर्भावं भावयित्वा, 'पदनवकाय नमः' इत्यन्तेन मन्त्रेणोपस्थानादि पूर्वोक्तं सर्वं विधिं कुर्यात्। एवमनेन क्रमेण पदानि तावद्विशोधयेत् यावच्छिवतत्त्व-

व्यापकं मध्यपद्मगतमूकारादिप्रणवान्तं पदनवकम्। यस्तु 'प्रकृतितत्त्वरूपादिपदनवकाय नमः' इति केनचित् क्रमो दर्शितः, स न युक्तः, कलादीक्षोक्तपदक्रमस्य नवात्मवर्णगतप्रातिलोम्यक्रमोच्चारस्य च प्रसिद्धस्यावृत्त्यामापत्तेः, पूर्वस्य संहारक्रमस्य चोपेक्षणात्। अत्र पददीक्षायां नवतत्त्वदीक्षावन्नाभ्यन्ताद्यनाश्रितान्ते स्थाननवके पद्मनवकगतवर्णैकाशीतेर्न्यासः कार्यः ॥४१॥

एवं पदाध्वानं शोधयित्वा—

योजयेत्तु परे तत्त्वे शिवे परमकारणे।

वर्णादिदीक्षामप्यतिदेशेनातिदिशति—

एवं वर्णांस्तथा मन्त्रान् भुवनानि विशोधयेत् ॥४२॥

किमवधीत्याह—

कालाग्न्यादि शिवान्तं तु

कथं वर्णमन्त्रभुवनदीक्षाः कुर्यादित्याह—

कलाविधिसमाश्रयत्।

कलादीक्षोक्तप्रघट्टकपञ्चकानुसारेण वर्णादीन् प्रत्येकं विभज्येत्यर्थः। अत्र कलादीक्षावन्मन्त्रा अधिक्रियन्ते। इह च वर्णानाम्—

'शब्दराशिसमुत्थस्य' (स्पन्द ४।१५)

इति नीत्या बन्धकत्वम्, पदमन्त्राणां तु तत्तद्भिन्नाभिन्नतत्त्ववाचकत्वेन। यथा च मन्त्राणां शोध्यत्वेऽपि शोधकत्वम्, तन्निर्णीतमेवेति तदेवेह स्मर्तव्यम्। तदेवमिह त्रिपञ्चनवषट्त्रिंशद्भेदेन चतुष्प्रकारा तत्त्वदीक्षा पदमन्त्रवर्णभुवनदीक्षाश्चोक्ताः। तत्र पञ्चदीक्षायां 'कलानां यावती व्याप्तिः' (५।१३) इत्यतिदेशात्, वर्णमन्त्रभुवनदीक्षासु च 'कलाविधिसमाश्रयात्' (५।४३) इत्युक्तत्वात् कलावदध्वपञ्चकान्तर्भावश्चिन्त्यः।

पददीक्षायां तु नवधा विभवतायाः प्रथमे प्राकृते प्रणवाद्यूकारान्ते पदानां नवके निवृत्तिप्रतिष्ठे कले, पृथिव्यादीनि प्रधानान्तानि पञ्चविंशाततत्त्वानि, भुवनानां कालाग्न्यादियोगाष्टकान्तं शतं चतुष्षष्ट्यधिकम्, क्षादिटान्ताश्चतुर्विंशतिर्वर्णाः, सद्योजातवामदेवहृदयशिरःशिखाः पञ्च मन्त्राश्चान्तर्भूताः ॥१॥

पौरुषे ऊकारादियकारान्ते नवके विद्या कला, पुरुषरागौ तत्त्वे, तुष्टिसिद्धी भुवने, अणिमादिगुरुशिष्यपङ्क्तित्रयनाडीविग्रहाष्टकदेहपाशागन्तुगणेशविद्येशपाशभुवनानि दश सुहृष्टादिरुद्रदशकस्य कल्याण्यादेर्गुरुशिष्यदशकस्य

भुवनमिति चतुर्दश भुवनानि, ञभौ वर्णौ, मन्त्रावघोरकवचौ ॥२॥

ऊकारादिवकारान्ते नैयते नवके कलामन्त्रौ प्राग्वत्। एवमुत्तरत्रापि नियतिविद्ये तत्त्वे, वामदेवाद्यष्टकभुवनं वामादिनवकभुवनं च, जछौ वर्णौ ॥३॥

ऊकारादिलकारान्ते कालीये नवके कालकले तत्त्वे, शुद्धादिदशकभुवनं महादेवादिभुवनत्रयं च, चङौ वर्णौ ॥४॥

ऊकारादिमकारान्ते मायीये नवके माया तत्त्वम्, गोपत्यःद्यनन्तान्तानि सप्त भुवनानि, घ-वर्णः ॥५॥

ऊकारादिक्षकारान्ते विद्यापदनवके विद्यातत्त्वम्, त्रिगुणादिविद्याराज्ञी-भुवनमेकं, शान्ता कला, तत्पुरुषास्त्रे मन्त्रौ, ग-वर्णः ॥६॥

ऊकारादिरेफान्ते ऐश्वरे नवके कलमन्त्रौ प्राग्वत्, ऐश्वरं तत्त्वम्, ईश्वरभुवनादिज्ञानक्रियाभुवनान्तं भुवनपञ्चदशकम्, ख-वर्णः ॥७॥

ऊकारादिहकारान्ते सादाशिवे नवके सादाशिवं तत्त्वम्, सादाशिवमेव सुशिवाद्यनन्तभुवनव्यापकमेकं भुवनम्, क-वर्णः ॥८॥

ऊकारादिप्रणवान्ते शैवे नवके शान्त्यतीता कला, 'शक्तितत्त्वाभिन्नं शिवतत्त्वम्, शान्त्यतीताभुवनादिकानि शिवभुवनान्तानि षोडश भुवनानि, नेत्राभिन्नमूर्तिः ईशानमन्त्रः, विसर्गाद्या हकारान्ताः षोडश वर्णाः ॥६॥

पददीक्षावत् नवतत्त्वदीक्षा। तत्र पदस्थाने प्रकृत्यादितत्त्वान्युपस्था-प्यानि, तत्त्वस्थाने तु पदान्यन्तर्भावयानीति विशेषः।

त्रितत्त्वदीक्षायां त्वात्मतत्वे क्षित्यादिमायान्तान्येकत्रिंशत्तत्त्वानि, निवृत्तिः प्रतिष्ठा विद्या कलाः, कालाग्न्याद्यनन्तान्तं भुवनानां शतमेकनवत्यधिकम्, प्रकृतिकोष्ठकेशदिग्गतप्रणवात् प्रभृति पूर्वपद्मगतयाम्यक्षकारान्तं पदान्येकोन-सप्ततिः, सद्योजातवामदेवाघोरहृदयशिरःशिखाकवचाः सप्त मन्त्राः, क्षादिघान्ता एकत्रिंशद्वर्णाः ॥१॥

विद्यातत्त्वे शान्ता कला, विद्येश्वरसदाशिवाख्तत्त्वानि, विद्याराख्या-दिसदाशिवभुवनान्तानि सप्तदश भुवनानि, पदानि पूर्वपद्मात् र-ओं-ह इति त्रीणि, मध्यपद्मादूकाराद्या हकारान्ता अष्टौ इत्येकादश, तत्पुरुषास्त्रे मन्त्रौ, ग-ख-क-वर्णाः ॥२॥

शिवतत्त्वे शक्तिशिवौ तत्त्वे, पदं प्रणवः, भुवनादि प्राग्वत् ॥३॥

षट्त्रिंशत्तत्त्वदीक्षायां तु पृथिव्यां निवृत्तिः कला, अष्टोत्तरशतं भुवनानाम्, प्रकृतिपद्मान्नव पद्मादि प्रकृत्यन्तं तेषामेव नियुक्तत्वात्, सद्यो-हृदये मन्त्रौ, क्ष-वर्णः ॥१॥

जले प्रतिष्ठा कला, वामदेवशिरःशिखास्त्रयो मन्त्राः, पदानि पूर्वोक्तानि नव । एतानि मन्त्रकलापदानि प्रकृत्यन्तं यावत् एवमेव ह-वर्णः भुवनानि लकुलीशादीन्यमरान्तान्यष्टौ ॥२॥

३ तेजसि स-वर्णः, भैरवादीनि हरिश्चन्द्रान्तान्यष्टौ भुवनानि ।

४ वायौ ष-वर्णः, भीमादिगयान्तान्यष्टौ भुवनानि ।

५ खे श-वर्णः, स्थाण्वादिवस्त्रापदान्तानि भुवनान्यष्टौ ।

६ गन्धे व-वर्णः, शार्वं भुवनम् ।

७ रसे ल-वर्णः, भुवनं भवस्य ।

८ रूपे र-वर्णः, भुवनं पशुपतेः ।

९ स्पर्शे य-वर्णः, ईशानभुवनम् ।

१० शब्दे म-वर्णः, भीमभुवनम् ।

११ उपस्थे भ-वर्णः, कश्यपभुवनम् ।

१२ पायौ ब वर्णः, मित्रस्य भुवनम् ।

१३ पादे फ-वर्णः, विष्णोर्भुवनम् ।

१४ पाणौ प-वर्णः, इन्द्रस्य भुवनम् ।

१५ वाचि न-वर्णः, अग्नेर्भुवनम् ।

१६ घ्राणे ध-वर्णः, पृथ्व्या भुवनम् ।

१७ जिह्वायां द-वर्णः, वरुणस्य भुवनम् ।

१८ चक्षुषि थ-वर्णः, रवेर्भुवनम् ।

१९ त्वचि त-वर्णः, वायोर्भुवनम् ।

२० श्रोत्रे ण-वर्णः, दिशां भुवनम् ।

२१ मनसि ढ-वर्णः, चन्द्रस्य भुवनम् ।

२२ अहंकृतौ ड-वर्णः, स्थलेश्वरादिछगलाण्डान्तानि भुवनान्यष्टौ ।

२३ बुद्धौ ठ-वर्णः, देवयोनिक्रोधतेजोयोगाष्टकानि चत्वारि भुवनानि ।

२४ अन्तर्भूतगुणतत्त्वे प्रधाने ट-वर्णः, गुरुपङ्क्तित्रयादाद्यानां शिवशक्तियोक्तृणां त्रीणि भुवनानि क्रोधेश्वराष्टवभुवनं प्रकृतिभुवनं चेति पञ्च भुवनानि । एतावत्पर्यन्तं कलामन्त्रपदानि प्राग्वत् ।

२५ पुंसि विद्या कला, अघोरकवचौ मन्त्रौ, मायान्ते षट्के कलामन्त्रौ एवमेव, ऊकारादियकारान्तमुत्तरदिक्पद्मगतं पदनवकम्, ञ-वर्णः, तुष्टिसिद्धिगुरुशिष्यपङ्क्तित्रयनाडीविग्रहाष्टकदेहपाशागन्तुगाणेशवैद्येशपाशभुवनानि द्वादश ।

२६ नियतौ वायव्यपद्मगतमूकारादिवकारान्तं पदनवकम्, झ-वर्णः, वामदेवाद्यष्टकभुवनम् ।

२७ कालतत्त्वे ऊकारादिलान्तं वारुणपद्मगतं पदनवकम्, ज-वर्णः शुद्धादिशंभुराडन्तशिवदशकभुवनानि ।

२८ रागे पौरुषमेव पदनवकम्, छ-वर्णः, सुहृष्टादिरुद्रदशकस्य, भुवनम्, कल्याणादेश्च गुरुशिष्यदशकस्य भुवनम् ।

२९ अशुद्धविद्यायां नैयतमेव पदनवकम् च-वर्णः, वामादिमनोन्मनान्तं भुवननवकम् ।

३० कलायां पदनवकं कालीयमेव, ङ-वर्णः, महादेवमहातेजोमहाज्योतिषां भुवनत्रयम् ।

३१ मायायां निवृत्तिपद्मादूकारादिमान्तं पदनवकम्, घ-वर्णः, गोपत्याद्यनन्तान्तानि सप्त भुवनानि ।

३२ शुद्धविद्यायां याम्यपद्मादूकारादिक्षान्तं पदनवकम्, शिष्टं पददीक्षावत् ।

३३ ईश्वरतत्त्वे आग्नेयपद्मादूकारादिरेफान्तं पदनवकम्. शिष्टं पदरीक्षावत् ।

३४ सदाशिवतत्त्वे प्राक्पद्मादूकारादिहान्तं पदनवकम्, शिष्ट पददीक्षावत् ।

३५ शक्त्यभिन्ने शिवतत्त्वे मध्यपद्मादूकारादिप्रणवान्तं पदनवकम्, शिष्टं पददीक्षावत् ।

अध्वव्याप्तिरियं ग्रन्थे सूचिता न स्फुटीकृता ।
सम्यग् दीक्षाविधिष्वत्र धीः सुधीभिर्निधीयताम् ॥

एवमीदृगेकतमप्रकारकृतदीक्षं निर्बीजदीक्षादीक्षितवर्जं शिष्यम्—

समयान् श्रावयेत् पश्चात् तन्त्राम्नायोत्थितान् प्रिये

तन्त्ररूपादित आम्नायादुत्थितानित्यनेन स्रोतोभेदेन समयानां भिन्नाभिन्नरूपतैवेति सूचयति ॥४३॥

तानाह—

न निन्देद् भैरवं देवं शास्त्रं वान्यसमुद्भवम् ।

लौकिकीं भेददर्शनवासनां च हित्वा तत्समुद्भवान्यान्यन्यपि तत्तदाचाराण्यपि भैरवशास्त्राणि तदुक्तं तत्तदुपासोपास्यं च तं तं देवविशेषं परभैरववद्वन्द्यतयैव पश्येदित्यर्थः ॥

किं च —

सांख्यं योगं पाञ्चरात्रं वेदांश्चैव न निन्दयेत् ॥४४॥

तद्दर्शनस्थांस्तदनुपपत्तिदर्शनेन प्रयोजकव्यापारेण न तन्निन्दायां प्रयुञ्जीतेत्यर्थः ॥४४॥

अत्र हेतुः—

यतः शिवोद्भवाः सर्वे ह्यपवर्गफलप्रदाः ।

तत्तत्स्वोचितमुक्तिकारिणः, तावन्मात्रविश्रान्तानां वाक्यैकवाक्यतया परिपूर्णव्याप्तिविदां सद्योमुक्तिदा अपि—

'अदृष्ठविग्रहाच्छान्तात्' (८।२७)

इति भाविनीत्या नानारूपाच्छिवात् सर्वशास्त्राणामुत्पन्नत्वेनतदभिन्नव्याप्तिकत्वात् । अनेनैवाशयेन—

यतः शिवोद्भवं सर्वं शिवधामफलप्रदम् ।

इति पाठं पुराणपुस्तकदृष्टमिह केचित् पठन्ति । पूर्णव्याप्त्यवेद्यभिप्रायेण तु—

'सर्वान् भ्रमयते माया ह्यमोक्षे मोक्षलिप्सया ।' (१०।११४१)

इत्याद वक्ष्यति ॥४५॥

किं च—

स्मार्तं धर्मं न निन्देत्तु आचारपथदर्शकम् ॥४५॥

तदाचाररतानां न बुद्धिभेदं कुर्यादित्यर्थः ॥

ब्रह्मादिदेवता याश्च मातरश्चुम्बको गिरिः ।
वीराश्चैव भगिन्यश्च गावो भूतगणास्तथा ॥४६॥

ब्रह्मादीन्युल्लङ्घनीयान्यपि कारणानि, मातरो लौकिकाचारतो ब्राह्मयाद्याः, चुम्बति वक्त्रपारम्पर्येण शिष्यं प्रबोधयति रहस्यार्थं यः स गुरुः, गिरिरिव गिरिः मंत्राराधनादावविचलः साधकः, वीरा रहस्यचर्यानिष्ठाः, भगिन्यो मातृभक्ता योगिन्यो, गावः पशुशास्त्रप्रतिपादितपवित्रभावाः भूतानि पिशाचापस्मारादीनि, गणाः प्रमथाः । एतान् सर्वान्न निन्देदिति संम्बधः ॥४६॥

किंच—

देवद्रव्यं न हिंस्यात्तु सिद्धान्ते यद्व्यवस्थितम् ।

सिद्धान्ते निश्चये यद्वयवस्थितं तद्देवार्थमेवेदं द्रव्यमिति तन्न हिंस्यात् ॥

किंच—

गुरोरन्नं न भुञ्जीत अदत्तं परमेश्वरि ॥४७॥

गुरुणा यन्न प्रसादीकृतं तत्तदीयमन्नमपि नाश्नीयात् ॥४७॥

मद्यं मांसं तथा मत्स्यानन्यानि च वरानने ।
साचारांश्च निराचारांल्लिङ्गिनो न जुगुप्सयेत् ॥४८॥

अन्यानीति वीरद्रव्याणि, निराचारानिति तद्रूपेण निह्नुततत्स्वरूपाणां सिद्धानामपि भावाद् न जुगुप्सीत ॥४८॥

चरुकं प्राशयन्नित्यं

स्वेष्टदेवतायै दत्तम् ॥

गुरून् संपूजयेत् सदा ।

अन्यथा नित्यार्चाधिकाराभावात् ॥

उपस्करान् महादेवि पादेन तु न संस्पृशेत् ॥४९॥

उपस्करान् दृषदुलूखलमुसलादीनि गृहोपकरणादीनि, तेषां मतङ्ग-शास्त्रेषु नवयागविधौ देवतासंकेतस्थानत्वेनाम्नातत्वात् ॥४९॥

संहितां चिन्तयेन्नित्यं

संहितां शैवं शास्त्रम् ॥

भक्तानां श्रावयेत् सदा ।

गुरुस्तदनुज्ञातोऽन्योऽपि वा, अतः प्राधान्येनायं गुरोरेव समयः ॥

आह्निकं न विलुम्पेत्तु संध्याकर्म वरानने ॥५०॥

आह्निकं पूजादिनित्यकर्म, संध्यां संध्याकालसंपाद्यां मन्त्रोपासाम् ॥५०॥

अदीक्षितानां पुरतो नोच्चरेच्छास्त्रपद्धतिम् ।

शास्त्रपद्धतिं पारमेशशास्त्रप्रक्रियाम् ॥५०॥

साधकविषयमाह—

त्रिकालं पूजयेद् देवं जपध्यानरतः सदा ॥५१॥

प्रातर्मध्याह्ने सायं च ॥५१॥

तदेतान्यथायोगं पुत्रकादिः—

समयान् पालयन्नित्यमुभयार्थफलेप्सयः ।

उभयार्थमैहिकमामुष्मिकं च फलं भोगो मोक्षश्च ॥५१॥

तदित्थं समयश्रवणान्तां क्रियादीक्षामुक्त्वा, ज्ञानदीक्षां निरूपयितुमाह—

अतो विज्ञानदीक्षां तु प्रवक्ष्याम्यनुपूर्वशः ॥५२॥

अध्यात्मगतिचारेण केवलेन विशोधिकाम् ।

अनुपूर्वशो वक्ष्यमाणोद्घातक्रमेण । अध्यात्ममात्मनि गत्या ज्ञानेन यश्चारः सौषुम्नमार्गारोहः, तेन । केवलेन होत्रादिहीनेन ॥

तत्र—

शिष्यात्मानं गृहीत्वा तमात्मप्राणे नियोजयेत् ॥५३॥

अभिमानं तथोच्चार्य कुर्याद्वै पूर्ववत्तदा ॥

अभिमानम्—

'अहमेव परो हंसः' (४।२९९)

इत्युक्तरूपम् ॥५३॥

एतत्सर्वं पूर्वोक्तमनूद्य, विशेषमाह—

उद्घातैश्च ततोऽध्वानं शिष्यस्य तु विशोधयेत् ॥५४॥

ततः समुच्चरंस्तत्त्वं पृथिव्याद्यं तु सुव्रते ।

तत्त्वं निष्कलस्वरूपं पूर्वोक्तमुद्राबन्धयुक्तया सम्यगुच्चरन् पृथिव्याद्यमध्वानं भावनया विन्यस्तं विशोधयेत् ॥५४॥

कथमित्याह—

भिन्नाभिन्नस्वरूपेण एकैकं तु यथाक्रमम् ॥५५॥

सस्वरं ह्यक्षरोच्चारं देवताभिः समन्वितम् ।

मन्त्रकलाव्याप्त्या भिन्नेनाविकल्पविमर्शैक्याच्च अभिन्नेन स्वरूपेणोपलक्षितम्, तत एव देवताभिर्ब्राह्म्याद्याभिः सम्यगभेदव्याप्त्यान्वितम्, एकैकमकारोकारमकारादिरूपमक्षरम्, सस्वरमित्यान्तरोच्चारवत् पश्यन्तीविमर्शप्रधानम्, अत एव चाक्षरोच्चारमविचलितमन्त्रध्वनिरूपं कुर्वन्निति शेषः ॥५५॥

तदत्र –

'आब्रह्मरन्ध्रं भ्रूमध्यात् सन्ति पञ्च धरादयः ।

ग्रन्थयः कारणैः सार्धं तान् भित्त्वा प्राप्यते शिवः ॥'

इत्याम्नायान्तरोक्तस्थित्या भ्रूमध्यादिपदावस्थितसूक्ष्मपृथिव्यादिग्रन्थपञ्चकभेदमुद्घातयुक्त्याऽऽदिशति देवः—

बिन्दुना शक्तिसंयोगादुद्घातः प्रथमः स्मृतः ॥५६॥

देवतात्रयनिर्मुक्तः

पूर्ववच्छिष्यचैतन्यं स्वप्राणे लीनं कृत्वा, पूर्वोक्तकरणबन्धपुरःसरं हृदयान्मध्यशक्तिप्रसरयुक्त्याकृतकविमर्शसारं मन्त्रमुच्चरन्, मान्त्रविमर्शप्रधानायास्तस्याः शक्तेर्बिन्दुना संयोगादिति भ्रूमध्ये वज्रलाञ्छितपीतवर्णचतुरश्रपार्थिवमण्डलमध्यध्यातबिन्दुतेजसा सम्यगित्यूर्ध्वोच्चारक्रमेण योगात् तदनुभवात् प्रथमोऽयमुद्घातो ब्रह्मविष्णुरुद्राख्य देवतात्रयेण निर्मुक्त ईश्वराख्यमन्त्रदेवतासमापत्त्यात्मा पञ्चगुणपृथ्वीतत्त्वगतगन्धाख्यमुख्यगुणसंशोधनरूप इत्यर्थः ॥

रसाख्यगुणशुद्ध्यर्थं द्वितीयमाह—

चतुर्थान्तसमन्वितः ।

उद्घातः स तु देवेशि द्वितीयः परिकीर्तितः ॥५७॥

चतुर्थस्य बिन्दुस्थानस्यान्तोऽर्धचन्द्रः, तेन प्राग्वत् सम्यगन्वितः, तदनुभवावेशरूप इत्यर्थः ॥

रूपगुणशुद्धयर्थं तृतीयमाह—

हंसाक्षरसमुच्चारः सुदीर्घो बिन्दुसंयुतः ।
अर्धचन्द्रान्निरोधिन्यामुद्धातस्तु तृतीयकः ॥५८॥

हंसपथस्य हंसरूपस्य चाक्षरस्य निष्कलमन्त्रस्य सम्यगिति पूर्वोक्त-युक्त्या उच्चारः, सुदीर्घो

'ह्रस्वं दीर्घं प्लुतं सूक्ष्मम्' (६।४)

इति भाविनीत्या मकारान्ते प्लुतः, ततोऽपि प्रथमोद्धातावधिना बिन्दुना सूक्ष्मरूपेण सम्यग् युतस्तद्विश्रान्तः, तथार्धचन्द्राद् द्वितीयोद्धातविश्रान्त्यवधे-र्निरोधिकास्थानान्तं प्रसरंस्तृतीय इति पार्थिवरूपगुणशुद्धिकृदित्यर्थः ॥५८॥

स्पर्शगुणशुद्धयर्थमाह—

भिन्नोद्धातौ यदा देवि नादान्तस्तु तदा भवेत्
उद्धातः स तु दवेशि चतुर्थः परिकीर्तितः ॥५९॥

भिन्ना उद्धाता इति प्रोक्तानि त्रीण्युद्धातस्थानानि येन मन्त्रोच्चारेण स पुनर्यदा नादान्तो नादानुभवविश्रान्तो भवति, तदा स चतुर्थगुणशुद्धयर्थं उद्धात उक्त । तदाशब्दो भवेच्छब्दानन्तरं योज्यते ॥५९॥

शब्दगुणशुद्धयर्थं पञ्चममाह—

स एव चाक्षरोच्चारो व्यापिन्यन्ते व्यवस्थितः ।
उद्धातः स तु देवेशि पञ्चमः परिकीर्तितः ॥६०॥

स चैवेति नैष्कलः । व्यापिन्यन्त इति तद्विश्रान्तिरूढः । पञ्चम इति पञ्चमस्य शब्दगुणस्य शुद्धयर्थम् ॥६०॥

तदित्थम्—

पञ्चोद्धातांस्ततो दत्त्वा पृथिवीं शोधयेद् बुधः ।

तत इति यतः पञ्चगुणा पृथ्वी, बुध इति ज्ञानी, अत्र पञ्चस्वप्युद्धा-तेषु बिन्दुस्थाने पृथिवीं धारणां प्रत्येकं धृत्वा, उद्धातानुसारं बिन्द्वर्धचन्द्र-निरोधिनादव्यापिन्यन्तेषु विश्रान्तीः कुर्वन्, शिष्यात्मनो गन्धादिशब्दान्ते गुणपञ्चके भोग्यभोक्तृभावं शोधयेत् ॥

इत्थं च व्यापिन्यन्ताश्रयणेऽपि सूक्ष्मव्याप्त्या पार्थिवतत्त्वभोगस्थानं बिन्दुधामैव शुद्धं भवतीत्याह—

अकारोकारमकारान्तमेवं शुद्ध्यति नान्यथा ॥६१॥

अकारोकारमकाराणामन्तं बिन्दुस्थानम्, एवमिति व्यापिन्यन्तानुप्रवेशात्मकोद्धातपञ्चकात् शब्दान्तगुणपञ्चकसंशुद्धियुक्त्या पृथ्वीतत्त्वशोधनादित्यर्थः। नान्यथेति हुतिदीक्षायामेव तत्त्वशुद्धिर्भवतीति भेदवादिवन्नास्यां ज्ञानदीक्षायां संशयितव्यम्, हुतिदीक्षायामपि ज्ञानस्यैव प्राधान्यादिति निर्णीतत्वात्। उक्तं च श्रीमतङ्गपारमेश्वरेऽपि—

'यस्य ज्ञानान्न संप्राप्तिः क्रिया तस्य विधीयते।'

इति ॥६१॥

तदित्थम्—

शुद्धेऽथ पार्थिवे तत्त्वे चिन्तितव्यं तु योगिभिः।
जलीभूतं तदेवैतदात्मना सह योगतः ॥६२॥

अथशब्दः क्रमं सूचयति, स च शुद्धतत्त्वाच्छिष्यचैतन्यस्योद्धरणम्, ततस्तत्स्थीकरणम्, तत आत्मप्राणे योजनं मन्त्रप्राणशिष्यात्मस्वात्मनां सामरस्यभावनमित्यादिरूपः। तदेवेति पार्थिवं तत्त्वम्, जलीभूतमित्युक्त्या शुद्धाशुद्धतत्त्वानुसंधानमुक्तम्, योगिभिर्योगत इत्यनेनायोगिनोऽत्र नाधिकारो जातुचिदिति दर्शितम्। एतदात्मना सहेति शिष्यात्मानमपि जलतत्त्वभोगाय तदेकात्मतामिव प्राप्तं चिन्तयेत्। अत्र चावसरे अर्धचन्द्रस्थाने पद्मलाञ्छितसितवर्णार्धचन्द्रमण्डलमध्यगतजलबिन्दुरूपां जलतत्त्वधारणां बध्नीयादित्याम्नायः ॥

अथ पार्थिवे तत्त्वे शिष्यात्मनि च यथोक्तभावनया—

जलीभूते पुनर्मन्त्री तदेव चतुरुच्चरेत्।

बिन्द्वन्तं धारणायुक्तं

तदेवेति निष्कलस्वरूपम्, मन्त्रीति लब्धसामरस्यः, बिन्द्वन्तमर्धचन्द्रस्थानम्, धारणा व्याख्याता। चतुरिति पूर्वोक्तयुक्त्यार्धचन्द्रनिरोधिनादव्यापिनीपदेषु क्रमेण विश्रान्तिरूपांश्चतुरुद्धातान् दद्यादित्यर्थः। पुनरुच्चरेदिति पाठे चतुष्टयसंख्यार्थाद्योज्या ॥६३॥

तदित्थं जलतत्त्वं संशोध्य, पूर्वोक्तं सामरस्यान्तं क्रमं श्रित्वा तज्जलतत्त्वात्—

शिष्यादात्मनि चिन्तयेत् ॥६३॥

अतश्च —

शोधिते तोयसंघाते तेजोभूतं विचिन्तयेत् ।

अर्थात्तदेव तोयं शिष्यात्मना सहेत्यादि प्राग्वत् ॥

अत्र च निरोधिकास्थाने शक्तिलाञ्छितरक्तवर्णत्रिकोणमण्डलादिरूपां तेजस्तत्त्वधारणां बद्ध्वा निरोधिनादव्यापिनीस्थानेषु मान्त्रविश्रान्तिरूपाः —

तेजोद्घातास्त्रयस्तेषु निरोध्यन्तमवस्थिताः ॥६४॥

तेजोद्घाता इत्यैशः पाठः । निरोध्यन्तं कृत्वा तत्र तेजोधारणां वद्ध्वेत्यर्थः ॥६४॥

तदेवं त्रिभिरुद्घातैस्त्रिगुणे तेजसि पूर्ववदन्तर्भूतेतराराध्वपञ्चके शुद्धे —

नास्ति तेजस्ततो वायुरुद्घातद्वयशोधितः ।

पूर्ववत् तत्स्थात्मस्थत्वादि कृत्वा, तेजः शान्तं विभाव्य, नादस्थाने षट्कोणबिन्दुलाञ्छितनीलवर्णमण्डलादिरूपां वायुधारणां बद्ध्वा, नादव्यापिनीस्थानयोर्मान्त्रविश्रान्त्यात्मनोद्घातद्वयेन वायुतत्त्वं शिष्यात्मनो भोगस्थानं शोधयेत् ॥

अथ —

अकाशे लीयमानं तमुद्घातेन तु चिन्तयेत् ॥६५॥

तं वायुम् ॥६५॥

एतद्व्यनक्ति —

नष्टे वायौ ततः शून्यमुद्घातैकेन योजयेत् ।

नष्ट इति आकाशशेषीभूतत्वात् शिष्यात्मनो बन्धकत्वाच्चलिते, तत इति सुसूक्ष्मतममाकाशतत्त्वमन्तर्भूतेतराध्वपञ्चकमुद्घातैकेनेति, आकाशस्यैकगुणत्वात् ॥

यच्चैतत्सुसूक्ष्मतमं शून्यम् —

व्यापिनी सा तु विज्ञेया पञ्चमान्ते व्यवस्थिता ॥६६॥

पञ्चमे व्योमतत्त्वात्मन्यन्ते व्यवस्थिता, तेनात्रान्तःशून्यसुसूक्ष्मशब्दशक्तिलाञ्छितपरिवर्तुलमण्डलाकारां व्योमधारणां बद्ध्वा, मन्त्रोच्चारणाभिज्ञो गुरुः शिष्यात्मना सहात्रैव विश्राम्यन् परतेजोमयतामनुसंदध्यात् ।६६।

एवं चात्र ज्ञानदीक्षामाहात्म्येन चरितार्थतया पुनर्भोगप्रदत्वाभावेनाबन्धकत्वात् सर्वैव भोग्यभूः शिष्यस्य शोधिता भवति, यतश्चिदानन्देच्छाज्ञानक्रियाख्यशक्तिपञ्चकसामरस्यसतत्त्वः श्रीस्वच्छन्दभट्टारकश्चिदादिशक्तिप्रधानशिवशक्तिसदाशिवेश्वरविद्याख्यतत्त्वपञ्चकात्मतामुट्टङ्कितामपि व्यापिन्यादिबिन्द्वन्तग्रन्थिपञ्चकस्वरूपगोपनात्मकमहामायाशक्त्याच्छादयन्, मायादिक्षित्यन्तां क्रमात् क्रममधिकाधिकसंकोचां तत्त्वत्रिंशतं षड्भिः पञ्चकप्रघट्टकैरन्योन्यं शक्तिव्यक्त्यात्मकव्याप्यव्यापकभावभाग्भिरासूत्रितवान् संकुचितप्रमातृभूमिकायामिति । तदनुग्रहप्राप्ततत्स्वरूपेण योगिना गुरुणा शिष्यात्मनैकीभूय यथोक्तोद्घातव्याप्तियुक्त्या शिष्यचैतन्यस्य समग्रां भोगभूमिं विलाप्य, ज्ञानदीक्षया चिदादिशक्तिपञ्चात्मकत्वमेवापादयितव्यम् । अत एव पञ्चत्रिंशत्तत्त्वव्याप्तिसारसुसूक्ष्मपृथिव्यादीनीत्थं संशोध्यापि तत्संस्कारमयं समनापदमपि शोधयितुमाह—

समनायां ततो ह्यात्मा

सुसूक्ष्मतमतत्त्वप्रपञ्चमननमात्ररूपायां समनाशक्तौ गुरुणा शिष्यात्मा तावन्मात्रभेदसंस्कारनिवृत्त्यर्थं योज्य इत्यर्थः ॥

एवं च—

तत्त्वव्यापी स उच्यते ।

अशेषतत्त्वप्रथमासूत्रणरूपं यत्समनाख्यं तत्त्वं तद्व्यापक इत्यर्थः ॥

इयति च संस्कारपर्यन्ते तत्त्वजाते संशुद्धे शुद्धात्मतामाप्नोतीत्याह—

आत्मव्यापी ततश्चोर्ध्वे

भवतीति शेषः ॥

एवमासादितपरशुद्धात्मस्वरूपोऽपि शिष्यात्मा ततोऽपि परां चिदादिशक्त्यभेदसारां परभैरवरूपतां समनन्तरवक्ष्यमाणयोजनिकाक्रमेणैतीत्याह—

सर्वव्यापी ततः पुनः ॥६७॥

भवतीति शेषः ।। ६७ ।।

अत्र योजनिकामासूत्रयितुमेकोद्घातरूपां युक्तिमाह—

तत्त्वान्तसंस्थितो ह्यात्मा उद्घातैकेन योगवित् ।
योजयेत् परमे तत्त्वे उन्मनातीतसर्वगे ।।६८।।

तत्त्वानामन्तः समनाया ऊर्ध्वं पदम् । उन्मनातीत इति तदनुभवानुप्रवेशेन शक्तिमत्स्वरूपासादनम् ।। ६८ ।।

योजयेदित्युक्तिं स्फुटयति—

योजनां तु परे तत्त्वे शृणु देवि वदाम्यहम् ।

अनयोक्त्यास्यार्थस्यावधानगम्यत्वं दर्शयति—

मन्त्रमुच्चारयेद् देवि ह्रस्वं दीर्घं प्लुतं परम् ।।६९।।
परापरविभागेन यावत्तत्वं परं गतम् ।

ह्रस्वं दीर्घं प्लुतं सूक्ष्ममतिसूक्ष्ममिति समनन्तरमेव पञ्चप्रणवाधिकारेऽकारोकारमकारबिन्दुनादमात्राणां प्रत्येकं प्रणवैकदेशभूतानामपि—

'प्रदेशोऽपि ब्रह्मणः सार्वरूप्यमनतिक्रान्तः ।'

इति स्थित्या प्रणवत्वमिति वक्ष्यति, ततो ह्रस्वं मन्त्रमुच्चारयेदित्यादि सामानाधिकरण्यं युक्तमेव । परापरविभागेनेति सूक्ष्मातिसूक्ष्मभेदेनेत्यर्थः । परमुन्मनातीतं गतं प्राप्तम् ।।

तदत्र—

त्रिदेवं बिन्दुसंयुक्तमर्धचन्द्रं निरोधिकाम् ।।७०।।
नादं च शक्तिसंयुक्तं व्यापिनीसमनोन्मनाः ।

जानीयादिति शेषः । त्रयाणां ब्रह्मादीनां देवानां समाहारो यत्र अकारोकारमकारात्मनि कलात्रये तत्तथा ।। ७० ।।

किं च—

उन्मना च परश्चैव सर्वव्यापी शिवोऽव्ययः ।।

ज्ञातव्य इति शेषः । यथा चात्र ज्ञानं यादृशं च तत्सर्वं पूर्वमेव वितत्य निर्णीतम् ।।

तदित्थम्—

ज्ञात्वा सर्वमशेषेण विधिमेषां यथाक्रमम् ।

तदा तु योजयेन्मन्त्री अन्यथा नैव योजयेत् ॥७२॥

सर्वमिति पूर्वोक्तचारप्रमाणादिपरिष्कृतमेषां मान्त्रप्रमेयानां विधिं सम्यगुच्चारणमशेषेण निश्चयनिरूढ्यनुभवैः । अत एव मन्त्री सम्यङ्मन्त्रसतत्त्ववित् ॥ ७२ ॥

तमेव विधिं स्फुटयति—

बिन्दुस्थं त्रितयं शब्दे

मन्त्रप्रमेयानां यन्मकारान्तं त्रितयं तद्बिन्दुस्थं विद्वदनुभवात्मतामापादितं सत् शब्दे नादात्मनि कुर्यात् तन्मयत्वमापादयेत् ॥

यस्मात्—

चतुर्थो बिन्दुरेव हि ।

तस्मात् तद्विश्रान्तिपुरःसरमेव नादविश्रान्तं मकारान्तं त्रयं कुर्यात् ॥

तदेतत्त्रयम्—

ब्रह्मा विष्णुस्तथा रुद्रः

वाच्यभेदात् ॥

एतच्च—

त्रिमाणं वर्ण उच्यते ॥७३॥

मात्रात्रयमेतदुच्चारणक्रियात्मकतया, वर्ण इत्यक्षररूपतया, स्थूलमित्यर्थः ॥ ७३ ॥

चतुर्थस्तु—

ईश्वरो बिन्दुदेवस्तु

तत्परामर्शमय इत्यर्थः ॥

तदित्थं मन्त्रोच्चारं यः करोति—

कण्ठे शब्दः प्रवर्तते ।

तस्य हृदयादुच्चरन्नादकलात्मकमन्त्रसतत्त्वरूपः शब्दः कण्ठे प्रकर्षेण वर्तते, ततः प्रभृति पञ्चप्रणवाधिकारवक्ष्यमाणनीत्या उच्चार्यतामासादयतीत्यर्थः ॥

स च—

तत्र शब्दः क्रियान्तस्थः

उच्चारणक्रियान्तर्गतः पश्यन्त्यात्मकशब्दरूपः, न तु मध्यावैखरीव्यङ्ग्य इत्यर्थः ॥

अत एवासौ—

क्रियाशक्तिरिति स्मृता ॥७४॥

तदित्थमुच्चारणप्रयत्नगतः—

स शब्दस्तालुके देवि ईरितः संप्रवर्तते ।

तस्य—

ततोऽपि—

किंचिद्गतः शब्दो नासिकान्ते प्रवर्तते ॥७५॥

नासिकान्तो भ्रूमध्यम् । तदेतावत्पर्यन्ता मान्त्री क्रियाशक्तिव्याप्तिः ॥ ७५ ॥

अथ—

ज्ञानशक्तिस्तु विज्ञेया यत्नतः परमेश्वरि ।
मूर्धस्थानगतः शब्दो ललाटान्तमवस्थितः ॥७६॥

यदा स एव शब्दो योगिनः पूर्वोक्तात् नासापुटादिप्रयोगरूपाद्यत्नान्मूर्धस्थानतोऽर्धचन्द्रादिस्थानान्युक्तोद्घातयुक्त्यारोहँल्ललाटान्तमवस्थितो भवति, तदा सूक्ष्मरूपतोपसंहारादनुभवप्रकर्षमापन्नो ज्ञानरूपतामेतीत्यर्थः ॥

तदित्थं बिन्द्वादिरूपतामासाद्याकारोकारमकारात्मा—

वर्णः शब्दगतः

शब्दं नादात्मतां गतस्तद्रूपतामाप्तः ॥

तथाभूतश्च—

तेषामुद्घातः स तु कीर्तितः ।

तेषामिति बिन्द्वन्तानाम्, स एव नादकलानुभवात्मा शब्दः पञ्चादि-भेदेन भिन्न उद्घातः पूर्वमुक्तो न त्वन्यः कश्चित् ॥

एवमियतीं भूमिं मान्त्रीमाश्रित्यापि—

तत्रस्था विनिवर्तन्ते

ये ऊर्ध्वां शक्त्यादिसोपानमालिकामनारुह्य तत्रैव संतुष्यन्ति, ते—

शिवज्ञानविवर्जिताः ॥७७॥

नादतुष्टाः परमानन्दमयशिवज्ञप्तिसाधकतमां मान्त्रीमिच्छाशक्तिमेव नाविशन्ति, कुतस्तु शिवम्, अत उत्तरोत्तरपदारोहे यत्नः कार्य इत्यर्थः। ७७ ।

अथात्रैव बिन्द्वादिपदेषु सूक्ष्मतमानुभवगम्यं भाविनमेवान्तरं प्रविभागं दर्शयितुमाह—

पञ्चधावस्थितो बिन्दुरर्धचन्द्रो निरोधिका ।

भुवनाध्वनि बिन्द्वावरणस्य निरूपणावसरे वक्ष्यति—

'निवृत्तिश्च प्रतिष्ठा च विद्या शान्तिस्तथैव च ।
परिवारः स्मृतस्तस्य शान्त्यतीतस्य सुव्रते ॥
तस्य वामदिशो भागे शान्त्यतीता व्यवस्थिता ।' (१०।१२१७-१८)

इति । तथा

'ज्योत्स्ना ज्योत्स्नावती कान्तिः सुप्रभा विमला शिवा ।
अर्धचन्द्रे स्मृता ह्येता निरोध्यंशे तु सुव्रते ॥
रुन्धनी रोधनी रौद्री ज्ञानबोधा तमोपहा ।' (१०।१२२०-२१)

इति । एवमेषां पञ्चधावस्थितत्वम् ॥

अथ—

तस्यातीतो भवेन्नादः

तस्येति निरोध्यनुभवपर्यन्तव्याप्तिकबिन्दुदेवस्य, तं बिन्दुदेवमतीतः सन् स वर्णो नादो भवति नादामर्शरूपतामेति, तमिति वक्तव्ये तस्येत्युक्तिर्बिन्दोरेवेयं नादरूपतापत्तिरेवमुत्तरत्रापि पूर्वपूर्वावस्थैवोत्तरोत्तरं प्रकर्षमेतीत्याशयेन षष्ठी योज्या ॥

एतदनुभवे युक्तिमाह—

अवच्छिन्नस्त्वसौ भवेत् ॥७८॥

ईषत्प्रसारिते वक्त्रे

पूर्वोक्तदिव्यकरणबन्धेनावच्छिन्नतामेतीत्यर्थः ॥

एष च—

देवदेवः सदाशिवः ।

देवस्य द्योतनसतत्त्वस्य बिन्दोरपि, देवः सातिशयदीप्तः प्रभुश्च ॥

एष च नादरूपः—

चतुर्विधो भवेच्छब्दो यः सुवेगवहः स्मृतः ॥७९॥

नादावरणे वक्ष्यति—

'इन्दिका दीपिका चैव रोधिका मोचिका तथा ।' (१०।१२२६)

इति । एताभिः शक्तिभिरस्य चतुर्विधत्वम् ॥

ननु च—

'ऊर्ध्वगा तु समाख्याता कला त्वासां तु पञ्चमी ।' (१०।१२२८)

इति भविष्यति, तत्कथमस्य चातुर्विध्यम्, सत्यं तस्यास्तु न शब्दव्याप्तिरित्याह—

पञ्चमो न वहेच्छब्दः

यः पञ्चमः प्रकारो नासौ शब्दरूपतया वहतीत्यर्थः ॥

कथं तर्हि भवतीत्याह—

ऊर्ध्वगामिन्यसौ स्मृता ।

नादोर्ध्वगतेच्छाव्याप्त्यवस्थितो यः शक्तेः संस्पर्शस्तदभिन्नत एव नादान्तोऽव्यक्तध्वनिरिति चोच्यते इत्यर्थः ।।

अथ—

तस्यातीता भवेच्छक्तिः

तमपि नादयतीत्यर्थः ।।

सा च—

पञ्चधा तु व्यवस्थिता ।।८०।।

तद्वक्ष्यति—

'ऊर्ध्वे तु संस्थिता शक्तिः सुषुप्तभुजगाकृतिः ।' (१०।१२४१)

इत्युपक्रम्य

'सूक्ष्मा चैव सुसूक्ष्मा च तथा चैवामृतामिता ।।
व्यापिनी' (१०।१२४२)

इति ।। ८० ।।

अत्र शब्दव्याप्तेः क्षीणत्वात् कीदृगनुभव इत्याह—

स्पर्शस्तत्र भवेद्देवि

ह्लादात्मेति शेषः ।।

किं च—

आत्मवित्तत्र पूर्ववत् ।

तत्र शक्तिपदे य आत्मवित् शक्त्यनुभवतुष्टः स पूर्ववदिति शिवपदं प्राप्नोतीति यावत् । एवमुत्तरत्रापि योज्यम् ।।

अथातः—

व्यापिनी परतश्चैव पञ्चधा तु व्यवस्थिता ।।८१।।

सोऽपि स्पृशन्नूर्ध्वपदमारुरुक्षुर्योगिनो व्याप्तिमयान् व्यापिनीरूपो भवति । तत्र च—

'व्यापिनी व्योमरूपा चानन्तानाथाप्यनाश्रिता ।' (१०।१२५२)

इति वक्ष्यमाणसूक्ष्मतमशक्तिपञ्चकानुभवोऽस्ति ।। ८१ ।।

अत्र च—

वालाग्रमाश्रितं स्पर्शं कदाचिद्वेत्ति वा न वा।

कदाचिदिति तत्पदारोहावसरे त्वशेषस्पर्शं वेत्ति, न वेति तदारोहप्रकर्षे व्याप्तिमात्रमेवानुभवति, न तु पृथक् स्पर्शमित्यर्थः ॥

तदित्थम्—

व्यापिनी सा समुद्दिष्टा न ज्ञानं परमेश्वरि ॥८२॥

यदेतत् स्पर्शं वेत्ति न वेत्युक्तम्, सा व्यापिनीत्युपसंहृतं न ज्ञानमिति, नैषा ज्ञानशक्तिरपि तु इच्छाशक्तिरित्यर्थः ॥८२॥

अथ—

तस्यापि समनातीता

तदपि व्यापिनीज्ञानमतिक्रम्य स्थितेत्यर्थः ॥

'समनं क्रमविज्ञानमुन्मनं युगपत्' (४।३६४)

इत्युक्तत्वादुन्मनानुभवं प्रविविक्षुः—

मनस्तत्र न कारयेत्।

न तत्रैव तुष्येदित्यर्थः। तदियतीयमिच्छाशक्तिव्याप्तिर्मन्त्रीत्यवसेयम् ॥

समनायां भावभावात्मनो विश्वस्य भेदस्यासूत्रणाद् हेयत्वमस्तीति तामतिक्रम्य—

उन्मनापदमारोहन्

मध्ये केवलात्मतामनुभवतीत्याह—

शुद्धात्मा तु ततो भवेत् ॥८३॥

तदित्थं शुद्धचैतन्यस्वरूपसामरस्यापन्नम्—

शिष्यात्मानं गुरुवर उन्मन्यन्ते नियोजयेत्।

उन्मन्यामन्ते चेति समासः, स्वातन्त्र्यशक्तिसामरस्यात्मनि स्वतन्त्रभट्टारकसंवेदने विश्रमयेत् तत्समावेशाभिज्ञ इत्यर्थः ॥

एवं च—

तत्र युक्तः परे शान्ते महाशान्तिमवाप्नुयात् ॥८४॥

युक्त एकत्वं प्राप्तः। समस्तस्य भेदकलङ्कस्य गलनात् परं शान्तत्वम् ॥

तदित्थम्—

गुरुपारम्परायातः संप्रदायः प्रकाशितः।

परम्परैव पारम्परम्, गुरूणां शक्तिसदाशिवश्रीकण्ठादीनां पारम्परेणायातो रहस्यानुभवसंचारक्रमेण मया विदितः, सम्यग् दीक्षणादिपूर्वं शक्तिपातभाजां प्रदीयत इति संप्रदायः, प्रकाशितः, तवापि संक्रमणयुक्तिपूर्वं मया कथित इत्यर्थः। तदेवं गुरुतो लब्धोऽपि संप्रदायो यथारूढिमापन्नो गुर्वन्तरैः शिष्याणां संपाद्यते ॥

तत्र—

योजने तु परे तत्त्वे उपायः कथितस्तव ॥८५॥

'ज्ञात्वा चारप्रमाणं तु प्राणसंचारमेव तु' (४।२३१)

इत्यादिना चतुर्थपटल एवेत्यर्थः ॥ ८५ ॥

तदित्थं सर्वोत्तममिमं संप्रदायम्—

एवं ज्ञात्वा वरारोहे सर्वकर्माणि कारयेत्।

सर्वासु व्यवहारदशासु परिमाणमाहात्म्य एव तिष्ठेदिति यावत्। आचार्यसाधकादींश्च स्वोचितेषु कर्मस्वेतज्ज्ञानपूर्वकमेव प्रयुञ्जीतेत्यर्थः। वरारोह इति प्राग्वत् ॥

एवं तत्त्वदीक्षाप्रसङ्गोक्तेयं ज्ञानदीक्षा अन्याध्वदीक्षास्वपि कर्तव्या इति भङ्ग्या शिक्षां ददाति—

तत्त्वाध्वानं कलाध्वानं भुवनाध्वानमेव च ॥८६॥
वर्णमन्त्रपदाध्वानं कृत्वैवं शुध्यति प्रिये।

यथान्तर्भावितापराध्वपञ्चकं तत्त्वाध्वानमेवं कृत्वा इत्युद्घातपूर्वं परे तत्त्वे योजयित्वा, शुद्ध्यति परभैरवतामाप्नोति, गुरुः शिष्यात्मना सह, तथान्यमप्यध्वानमेवमेव कृत्वा शुद्ध्यतीत्यर्थः ॥

उपसंहरति—

एषा वै धारणादीक्षा

विज्ञानदीक्षामित्युपक्रम्यापि प्रोक्तधारणाक्रमेण क्रियमाणत्वाद् धारणादीक्षेत्युपसंहारेऽपि न दोषः ॥

नैषा सर्वेण गुरुणा कार्येत्यभिदधद्भाविपटलमप्यवतितारयिषुः पाटलिकीं संगतिं करोति—

कर्तव्या योगिनात्र तु ॥ ८७ ॥

मन्त्रसिद्धेन वा देवि

योगिना परसमावेशाभिज्ञेन, यदि वा अत्र तन्त्रे समनन्तरपटलवक्ष्यमाणसाधनक्रमेण यो मन्त्रसिद्धस्तेन कर्तव्या, द्वयोरप्यत्र सामर्थ्याविशेषात्, तदन्यस्य त्वनधिकारात् ॥

इत्थमियम्—

कृता वै सुकृता भवेत् ।

सम्यङ्निवृत्तिमासादयत्येव ॥

[तदेवं चतुर्थपटले कलादीक्षोक्ता, अस्मद्दर्शितयुक्त्या एकतत्त्वदीक्षा च, इह तु त्रिपञ्चनवषट्त्रिंशद्भेदाश्चतस्रस्तत्त्वदीक्षाः, पददीक्षा च नवतत्त्वदीक्षावत्, वर्णमन्त्रभुवनदीक्षाश्च तिस्रः कलादीक्षावत्, दशमे च वितता भुवनदीक्षा भविष्यतीत्येता एकादश अध्ववैचित्र्येण दीक्षाः । ज्ञानदीक्षा चोद्घातयुक्त्या द्वादशी इति । एताः सबीजनिर्बीजसद्योनिर्वाणभेदात् पुत्रकविषये षट्त्रिंशद्भवन्ति । आचार्ये तु सबीजैव द्वादशभेदा । साधके शिवधर्मिलोकधर्मिभेदाद् द्विविधे पूर्ववच्चतुर्विंशतिभेदा । समयिनि तु अध्वन्यासस्यानुक्तत्वात् ज्ञानक्रियाभ्यां हृदादिग्रन्थिभेदनतो द्विविधा, इति चतुःसप्ततिरिह संक्षेपतो दीक्षाभेदाः । तत्रापि सकलनिष्कलाघोरेश्वर्याद्यनुष्ठानभेदाद् लोकधर्मिसाधकस्य चावान्तरवैचित्र्याद् भौतिकनैष्ठकाचार्यभेदाच्च बहुप्रकारा भवन्ति]।

तदत्र दीक्षायामेव प्रत्यवतिष्ठन्ते सौगताः—इह दीक्षया किमात्मनः संस्कारः क्रियते, बुद्धेर्वा ? किमात्मग्रहादीनां मलानाम्, किं वा कर्मणाम् ? आत्मन आयातशक्तिपातस्य, तदितरस्य वा ? शक्तिपातोऽक्षीणमलस्य, अन्यस्य वा ? कश्चात्मनः संस्कारः ? कर्मनिवृत्तिः, सुखदुःखसंविन्निवृत्तिः, प्रकृत्यादिविवेकदर्शनम्, स्वस्वरूपज्ञानमद्वैतदृष्टिर्वा ? बुद्धेरपि कः संस्कार ? किमिन्द्रियप्रेरणासामर्थ्यम्, रागादिहान्याधानम्, उन्मूलनं वा ? मलानामपि किं तदैव कार्यप्रसवासामर्थ्यम्, मरणापेक्षं वा संस्कारः ? एवं च

कर्मणाम्? स च किमागमैकप्रमाणको युक्तिसिद्धोऽपिवा? तत्र शक्तिपातादात्मग्रहादिमलक्षयः, मलक्षयाच्च शक्तिपात इत्यन्योन्याश्रयः। अक्षीणमलस्य शक्तिपाते सर्वस्यासौ स्यात्, मलक्षयोऽन्यतः कुतश्चिद् यदि तत एव तर्ह्यात्मनः संस्कारो भविष्यतीति किं शक्तिपातहेतुकेन दीक्षाविधानेन? आत्मनश्च नित्यैकस्वभावस्य कर्मतद्भोगनिवृत्त्यनिवृत्त्योरविशिष्टस्य कः संस्कारः? वैशिष्ट्ये नित्यताहानिः। कर्मभोगयोः व्यतिरिक्तयोर्नाशे तस्य किं वृत्तम्? तत्समवायोऽस्य निवृत्त इति चेत्, सोऽपि कर्मादिवत् स्वात्मन्येवेत्यात्मनो न भोक्तृत्वकर्तृत्व, नापि तदुपशमात्मा मुक्तिः स्यात्। प्रकृत्यादिविवेकस्वरूपदर्शनपक्षौ प्रागतत्स्वभावतयास्य भेदमानयतः। आत्मदर्शनमात्मीयादिदर्शनस्य तन्मूलानां रागादीनां च हेतुरिति ततोऽस्य बन्ध एव। अद्वैतदृष्टौ अपरस्य कस्याप्यभावात् क्रिया(भागा? बोधा) नुपपत्तौ कर्तृत्वज्ञातृत्वतत्त्वैश्वर्यप्रविलोपो मुक्तात्मनां स्यात्। बुद्धेरक्षप्रेरणासामर्थ्याध्याने दीक्षितस्य करणवैकल्यं स्यात्। रागादिदोषाश्च सवासनाका दीक्षितस्य न निवर्तन्ते। बुद्धेरुन्मूलने दीक्षानन्तरं देहपातप्राप्तिः। मलानां तदैवासामर्थ्यसाधने प्रवृत्तिस्त्रुट्येत्। मरणापेक्षमसामर्थ्याधानमिति पलायनमार्गः। मृत्यवसरे च दीक्षितस्यात्मादिग्रहः प्राग्वदेवोपलभ्यते। एवं कर्मस्वपिवाच्यम्, आरब्धकार्यकर्मसंशोधने दीक्षाया न सामर्थ्यमिति चेत्, अन्यत्रापि क आश्वासः। आगमप्रमाणकमेतदिति चेत्, आगमस्य तदर्थं कः प्रतिबन्धः? मन्त्रप्रतिबन्धाद् यथा बीजमङ्कुरं न सूते, तद्वत् कर्मबीजान्यपि न संसारं सुवते इति। बीजादिसंसिद्ध्युक्त्या बीजादिवद् दीक्षितस्य तैलभ्यङ्गदाहादयोऽप्यसामर्थ्याधानहेतवः क्रियन्ताम्। अमूर्तत्वात् कर्मणामभ्यङ्गादयो न सन्तीति तानि दीक्षैव क्षपयति, तथा च घटदीक्षादीक्षितस्य लाघवमप्युपलभ्यत इति चेत्, नामूर्तस्य पापादेर्गुरुत्वाभावात्। तस्मात् क्षणिकत्वादिभावनापूर्विका नैरात्म्यदृष्टिरेव मोक्ष इति।

अत्रोच्यते-इहात्मसंस्कार एव दीक्षा। तथाहि— अयमात्मा संकोचाभासतत्त्वापूर्णम्मन्यतात्मनेहाभिलाषशब्दोक्तेनाणवेन मलेन, शुभाशुभवासनात्मना विविधजन्मायुर्भोगदेन कार्मेण, तत्प्रभवेन च कञ्चुकपुर्यष्टकस्थूलभूतात्मनानाजातिकत्रिविधदेहतदाश्रयविचित्रभुवनभोक्तव्यार्थसार्थप्रतीतिभाजा मायाख्येन मलेन च वलितः। यतः सर्वस्यैव संकुचितोऽभिष्वङ्गादिमयोऽन्तरुल्लेखशताकीर्णः कृशगौरादिरूपोऽमुत्रेदं जानामीत्यादिप्रतीतिसिद्ध एवायमर्थः। तदीदृशस्यास्यानन्तजन्मसहस्राभ्यस्तेदृगवसानस्याप्याकस्मिकगुरुयियासाभक्त्यादिवशोन्नीतशक्तिपातानुसारिनिर्वर्त्यमानया दीक्षया

'दीयते ज्ञानसद्भावः क्षीयते पशुवासना।
दानक्षपणसंयुक्ता दीक्षा तेनेह कीर्तिता॥'

इत्याम्नायनिरूपितस्थित्या आणवादिपाशप्रशमनशिवत्वाभिव्यक्तियोग्यतात्मा संस्कारः क्रियते। पाशानां च प्रशमनमचिन्त्यमन्त्रशक्तिवशाद् बीजानामिव पुनः प्ररोहाधानासामर्थ्यम्।

यत्तु—

'नालं बीजादिसंसिद्धौ विधिः पुंसामजन्मने।
तैलाभ्यङ्गाग्निदाहादावपि मुक्तिप्रसङ्गतः॥'

इत्युक्तं तैः, तत्तेषामेवोपहास्यतामाविष्करोति, यतः स्थावरजङ्गमकृत्रिमाद्यात्मनो विषस्य स्वकार्यकरणशक्तिप्रशमनं बीजवद्यन्मन्त्रैः क्रियते, तत्रापि एतद्वक्तुं प्राप्तम्। अथ तैलाभ्यङ्गादेर्बीज एव शक्तिनिरोधकृत्वं न तु विशेषकृत्वं, मन्त्राणां तु तत्रापीत्युच्यते, तर्हि अचिन्त्यप्रभावत्वात् तेषां पाशप्रशमनेऽपि सामर्थ्यं किं न सह्यते।

अथ दोषाः सबीजसंतानां दीक्षितेऽप्यनिवारिता दृश्यन्त इति किमस्य मन्त्रैः कृतमित्युच्यते। तदत्राप्युच्यते प्रोक्तपाशशक्तिप्रतिबन्धनं मन्त्रैः क्रियते, अस्य न तु रागद्वेषादिप्रशमनम्। यथाहि— विरूपस्य वैरूप्यमनिवर्त्यापि लोकोत्तररमणीवशीकरणं मन्त्रैः क्रियते, तद्वद्देहारम्भिकर्माशोधनाद् वर्तमानदेहे रागाद्यनिवृत्तावपि भाविप्ररोहप्रतिरोधनं पाशानां कुर्वतां मन्त्राणां किमायातम्। तीव्रतमशक्तिपातपूतानां च दीक्षानन्तरं रागद्वेषादिप्रशमः शतशोऽपि दृश्यन्ते। सद्योनिर्वाणदीक्षायां च त्रैकालिकपाशशोधनात् तदैव देहादिविगलनं शिवत्वाभिव्यक्तिश्च भवत्येव। शिवत्वाभिव्यक्तावत्र किं प्रमाणमिति चेत्, मन्त्रप्रभावसंपादिततात्कालिकदेहदर्शनप्रशमनोद्भूतमनुमानं यथा च शान्त्याप्यायवशीकारदाहोच्चाटनशोषणमारणादि मन्त्रसामर्थ्याद्भवत्येव तथा दीक्षाफलमपि भवत्येवेति चेतसि निवेश्यताम्। तत्कालमेव दीक्षातः शिवत्वाभिव्यक्तिः किं न भवतीति चेत्, प्रकृष्टज्ञानशालिभिः क्रियमाणायां सहस्रशो भवन्ती असावपि दृश्यते एव।

अथोच्यते-नित्यस्यात्मनो दीक्षातः संस्कारोत्पत्तौ संस्कृतत्वासंस्कृतत्वभेदाद् भेदः स्यादितिचेत्, न। तत्तत्प्रतिभासभेदेऽस्याकृतकाहंविमर्शैक्येन एकत्वसिद्धिः, दूरासन्नादौ देवकुलादेरिव तद्विमर्शैक्यात्। विमर्शनवशादेव च सर्वव्यवस्थेति प्रत्यभिज्ञायां निर्णीतम्। एतेन भोक्तृत्वकर्तृत्वाद्यप्यस्य समर्थितमेव, तत्तद्विषयभेदेऽप्यात्माव्यतिरेकेणास्य स्फुरणात्।

यत्तु उक्तमात्मदर्शनं न मुक्तिरपि तु बन्ध इति तच्छरीरप्राणपुर्यष्टक-शून्येष्वनात्मस्वेवमेव। यत्तु सत्यरूपे चिदात्मन्यहंविमर्शपरमार्थतया स्वीकृताशेषज्ञानक्रियापरमार्थे तत्रात्मदर्शनं सैव सत्यतो मुक्तिः। न च केवलमनात्मन्यात्मदर्शनं मिथ्याज्ञानरूपो बन्धः, यावदात्मन्यपि पूर्णप्रकाशाहं-विमर्शपरमार्थाशेषविश्वमये विश्वत्रापि च चिदात्मयैक्यपरमार्थे यदनात्मतया ज्ञानम्, तदपि बन्ध एवेति सर्वथा विगलितसंकोचचिदेकघनविश्वैकात्म्य-मयशिवत्वाभिव्यक्तिरेव मुक्तिः। तत्र चाभेदसारं सर्वं ज्ञात्वा समाप्तमेवेति तत्प्राप्त्यर्थमेव दीक्षाप्रवृत्तिः। तदेवमुक्तनीत्या मलानां भेदेन प्रतिपादित-त्वात् पृथग् न तत्संस्कारपक्षः कश्चित्, इत्यात्मन एवोक्तरूपः संस्कारो दीक्षया क्रियते। अद्वयमेवास्य स्वरूपमिति स्वरूपदर्शनाद्वयदर्शनपक्षयोर्नास्ति भेदः। सद्योनिर्वाणदीक्षायां त्वस्य कर्मसुखादिसंविन्निवृत्तिरपि क्रियत इति प्रतिपादितम्। असद्योनिर्वाणदीक्षासु देहारम्भिकर्मशुद्धिर्भगवदाज्ञातो न क्रियते, न त्वसामर्थ्यात्। अतोऽत्रापि यदुक्तम्—

'गतिप्रतीत्योः कारणान्याश्रयस्तान्यदृष्टतोऽदृष्टनाशान्न
गतिर्दीक्षितस्य ।।'

इति, तदप्यदूषणमेव। प्रकृत्यादिविवेकदृष्टिबुद्धिसंस्कारपक्षौ अनभ्युपगम-पराहतौ। ततो यदुक्तम्—

'धारणप्रेरणक्षोभनिरोधाश्च तेनावशाः ? ।
न स्युस्तेषामसामर्थ्ये तस्या दीक्षाद्यनन्तरम् ।।'

इति तददूषणमेव।

यदुक्तं पापस्य गुरुत्वाभावात् प्रत्ययवती तुलादीक्षा नोपपद्यते इतिः तदविदिताभिप्रायतया न सम्यक्, यतस्तमोमयपापावृतिहेतुकं देहे गुरुत्वं तुलादीक्षया घटशुद्धिवत् कारणनिवृत्तिद्वारेण निवर्त्यते। तथाच स्मृति-कारः—

'अधर्मात्तमसो देहे गुरुत्वं यत्क्षयोऽस्य तु ।
धर्मतो लघुतोत्पादाद्धटतः संप्रतीयते ।।

इति। तथैवैतत्। यत्पुनरुक्तमनायातशक्तिपातस्य दीक्ष्यत्वाभावात् शक्तिपातवत एव दीक्षा, शक्तिपातो मलक्षयात् स च शक्तिपातादितीतरेत-राश्रयः, अक्षीणमलस्य शक्तिपाते सर्वस्यासौ स्यात्, अथ मलक्षयस्य शक्ति-पातादन्यो हेतुः कश्चित् स एव तर्हि शक्तिपाते हेतुरस्तु किं मलक्षयेणेति। सत्यमेतत्, किंतु निरर्गलपारमेशविचित्रशक्तिपातवतो दीक्ष्यत्वमस्माभिरि-

ष्यते, न तु मलपरिपाकादियुक्तस्येति न कश्चिदुक्तचोद्यावस्करसंस्पर्श इत्युपपन्नमेव दीक्षयात्मसंस्करणम्। अपि च, सकलव्यवहारप्राणितभूतसर्वाभ्युपगमाविगीतप्रसिद्धिसिद्धसर्वज्ञमहेश्वरप्रणीतत्वप्रतीतप्रामाण्ये प्रेक्षापूर्वकार्याचार्यपरम्परानुष्ठीयमानानुष्ठानप्रकटिततत्तत्सर्वनिर्वाणाद्याप्यायनादिनानाफललब्धसंवादे पारमेश्वरे शास्त्रे यद्यथाभिधीयते तत्तथैव। ततश्च यदुक्तम् —

'आगमस्य तथाभावनिबन्धनमपश्यताम्।
मुक्तिरागममार्गेण वदनपरितोषकृत्॥'

इति, तदसदेव। यत्पुनः —

'तस्मादनादिसंतानतुल्यजातीयबीजिकाम्।
उत्खातमूलां कुरुत सत्त्वदृष्टिं मुमुक्षवः॥'

इत्युक्त्या आत्मदृष्टेरहन्ताविकल्पवासनामूलत्वमुक्तम् तत्प्रतारणमात्रमेव, यतः शिरोनिर्देशप्रकृत्याकृतकाहंविमर्शमयत्वमात्मन्यङ्गुलिनिर्देशप्रख्यासांकेतिकेदंविमृश्यत्वमिव विषयेषु स्वसंवेदनेन प्रतीयत एव, अन्यथा प्रथमसंकेतग्रहणमेव न कस्यापि घटेत।

नन्वहंप्रतीतेर्विकल्पवासनामूलत्वमुक्तम्, तत् कथम्, यतो यो विकल्पो ज्ञानसंतानमहन्तयाभिमन्यते, स किं स्वात्मनो भेदेन तं तथाध्यवस्यति, स्वात्माभेदेन वा। भेदपक्षे इदमिति ज्ञानसंतानस्याध्यवसायः स्यान्नत्वहमिति। अभेदपक्षे तु विकल्पस्य स्वात्मापि विकल्पः प्रोक्तः, न च तद्युक्तं स्वात्मन्यविकल्पकत्वाद्विकल्पानाम्। अथ विकल्पः स्वात्मनो ज्ञानान्तरैः सह भेदं नाध्यवस्यति, न त्वभेदमध्यवस्यतीत्युच्यते, तर्हि अध्यवसाये प्रतिषेधः पतित इत्यनध्यवसायव्यापार एष स्यात्। अथात्मनो ज्ञानान्तरैः सह भेदमनध्यवस्यन्नवान्तराण्यभेदेनाध्यवस्यति, तर्हि येनात्मना सह येषां ज्ञानानां भेदो नाध्यवसितः, तेषामभेदाध्यवसाये तस्यात्मनोऽप्यभेदाध्यवसायः प्राप्तः, आत्मवद्वा तेषामप्यप्राप्तः, अन्यथात्मना सह कस्तेषां भेदः। न अध्यवसायः, भेदाध्यवसाय एव ह्ययमित्थं स्यात्। किं च, अनुभवसंस्कारोत्थमात्मनो रूपवैचित्र्यमनुभवतापि विकल्पेन निवृत्तपूर्वाण्यनुभवान्तराण्यवसातुं शक्यन्ते, तत्रास्य नारिकेलद्वीपनिवासितुल्यत्वात्। न चास्य प्रकाशातिरिक्तोऽध्यवसायसमारोपाभिमाननिश्चयादिपदवाच्याभिप्रायेणाभेदवाच्यः कश्चिदन्यो व्यापारो व्यवस्थापकः परदर्शने संगच्छत इत्यास्तामतिगहनमेतत्। प्रत्यभिज्ञायां विततमस्तीह तु प्रतन्यमानं सुकुमारहृदयानायासयेत्। तत्स्थितमेतत् तत्तदाभासभेदेऽप्यकृतकाहंविमर्शसिद्धैक्यपरमार्थोऽयमात्मा इति।

ननु च श्रीमत्खेटपालाचार्येण मलपरिपाकहेतुकः शक्तिपातोऽभ्युपगतः स्वतन्त्रशक्तिपातपक्षश्च दूषितः, तत्कथं स्वतन्त्रशक्तिपातपक्षाश्रयणेनैतत् प्रतिसमाहितम् ।

अत्रोच्यते—अत्रार्थे यदि विविदिषास्ति तदेतदपि निर्णीयते । श्रूयताम्—

'अथानादिर्मलः पुंसां पशुत्वं परिकीर्तितम् ।
तुषकम्बुकवज्ज्ञेयं मायाजमङ्कुरस्य तु ॥'

इति श्रीस्वायंभुवसूत्रे मल इति पुंसामिति चोक्तिपर्यालोचनया एकोऽप्यसौ बहुशक्तिकः अन्यथा बह्वावारकत्वमस्य न घटते, एकमुक्तौ च सर्वे मुच्येरन्, कर्मभिश्च सह परिणमति, अमिश्रस्य परिणामायोगात् । परिणमंश्च कालविशेषात् कंचित्प्रति कथंचित् तीव्रमध्यादिभेदाद् यदा परिपच्यते, तदा पुंसां कर्मपरिपाकमिवापेक्ष्य शक्तिपातं करोति महेश्वरः, यावच्च मलस्य परिपाको न जातः, तावत् तत्पुंबन्धकत्वेनैव तं परिणमयति, यदा तु कृतकार्यत्वादात्मनि पक्वं पश्यति स्वशक्तिपातान्मलशक्तिं निरुणद्धि असौ । यथा च स्वतन्त्रशक्तिपातवादिपक्षे प्रतिपुरुषं किंचिदेव कर्म कदाचिदेव देवः परिपाच्य भोगयोग्यं करोति, न तु सर्वान् प्रति सर्वं युगपत्, तत्वानि च नियतकार्यकारणभावभाञ्जि दर्शयति, माया प्रकृत्यादि च स्वापप्रबोधयोरौचित्येन परिणमयतीति नास्य सर्वत्राविशेषेण कर्तृत्वम्, तथा मलपरिपाकपक्षेऽपीति कर्मणो मलस्य च विचित्रं परिपाकमपेक्ष्य निग्रहानुग्रहौ पुंसां करोति परमेश्वरः, न त्वेवमेव तस्याप्रेक्षापूर्वकारित्वप्रसङ्गादिति तावच्छ्रीमत्खेटपालाचार्यमतम् । यदाह भोगकारिकासु—

'अनाद्यनादिसंबद्धो मलः साधारणोऽक्षयः ।
प्रतिपुंनियतः स्वस्वकालव्यापृतशक्तिकः ॥' (श्लो० १२८)

इति । तथा

'मुक्त्वा निरोधिकाः शक्तीर्नान्यो धर्मोऽस्य विद्यते ।
कर्माशयसमेतस्य हेतुत्वं च भवार्णवे ॥' (श्लो० १४०)

इति । तदत्र यदि स्वातन्त्र्यान्मलो बन्धकः, शिवमुक्ताणून् प्रत्यपि स्यात् । अथ शिवेच्छा (तः) तच्छिवस्य वीतरागद्वेषत्वाद् मुक्ताणून् प्रत्यपि मलशक्तिप्रेरकत्वं स्यात् । तेषां स्वस्वरूपाभिव्यक्तेर्न तथा इति चेत्, नेतरेषामपि स्वस्वरूपस्य तथात्वात् । अनादिमलनिरोधान्न तथात्वमित्ययुक्तम् तन्निरोधस्यैव विचारयितुं प्रक्रान्तत्वात् । यदि चानादिर्निरोधः,

कृतं शिवशक्त्यधिष्ठानेन। तदप्यनादि चेत्, किमुभाभ्याम्, मलशक्तिकृत-निरोधस्यानादित्वमात्रेणैव सुलभेनोत्तरेण नियतपुंविषयत्वमुच्यताम्। एवमस्त्विति चेन्न, शिवस्य सर्वत्राधिष्ठातृत्वं स्यात्, ततश्च—

'मलसंसर्गात्तद्वत्तेषामकृतो हि शिववशीकारः।

पत्युस्त्वेते रोध्या................................॥'

(त० त्र० नि०, का० ९)

इति किमर्थमुक्तम्। अत एव शिवस्य मलशक्त्यधिष्ठातृत्वमपीष्यते इति चेत्सत्यम्, इष्यते, न तु सिद्ध्यति, द्वयोरनादित्वेनान्वयव्यतिरेकाभावात्, प्रयोजनमात्रवशेन च भावव्यवस्थानुपपत्तेः। अस्तु, नैवं तथापि यान् प्रति निरोधाय शिवो मलं प्रयुङ्क्ते, ते शिवतुल्यत्वाद् बहुत्वाच्च प्रत्युत शिवमेव प्रति तं प्रयुञ्जीरन्, भूयसामेकापेक्षया सामर्थ्यातिशयात्। किं च मल-शक्तिर्यदि संनिधिमात्रेण निरोधिका तच्छिवमुक्ताणून् प्रत्यपि स्यात्। अथ ज्ञातृत्वकर्तृत्वात्मकस्वरूपावारकत्वेन, तर्हि आत्मनां विकारिता प्राप्ता, स्वरूपनाशो वा तेषाम् तदतिरिक्तस्य धर्मिरूपस्य वैशेषिक इव शैवेऽनभ्युपग-मात्। न च मूर्तेन मलेनात्मनाममूर्तचित्स्वरूपाणामावरणं घटते। चक्षुः-सूर्यादिरश्मीनां तु भौतिकत्वात् पटलादिभिस्तद्युज्यत एव। यदपि मद्यविषा-देर्जीवं प्रत्यावारकत्वम्, तत्सिद्धसंकोचं प्राणादिमयं प्रति न शुद्धचिदात्मानम्। मलसंकोच एव त्वयं प्राथमिको विचार्यो वर्तते, इति स कथं शुद्धचिदात्मन आवारकः स्यात्। प्रत्युता (वरा? रणा) यायातो मलोऽस्य वेद्यः स्यादिति सर्वः सर्वज्ञो भवेत्। मलश्च यद्यव्यापकस्तस्य व्यापकात्मावारकता न स्यात्। व्यापकत्वे तु शिवमुक्ताणूनप्यावृणुयात्तेषां जीवानां च सर्वदेशा-क्रान्त्यात्मनो व्यापकत्वस्याविशेषात्तस्य च प्रत्यंशं व्यापकेन मलेनाच्छा-दनात्। आत्ममलयोश्च न संयोगः संबन्धस्यस्य व्याप्यवृत्तित्वात् तयोश्च व्यापकत्वात्, न समवायो नित्यद्रव्ययोस्तदयोगात्। अत एव न कार्यकारण-भावः। नापि तादात्म्यं भिन्नत्वात्। आवार्यावारकतापि घटपटादौ न संयोगात् व्यतिरिक्ता भवितुमर्हति। किं च, मलस्य नित्यत्वं व्यापकत्व-मेकत्वमनेकशक्तित्वं शिवस्वभावात्मदृक्क्रियानिरोधनेनैतन्निरोधपरिपचने च स्वातन्त्र्यम्, शिवस्य च मुक्तशिवेभ्योऽणुभ्यश्च भिन्नत्वमत एवातद्व्या-पकत्वमविश्वशक्तित्वं च कर्ममलपरिपाकादिमुखप्रेक्षितया च पारतन्त्र्य-मित्यादि भेदवर्दिकृतं शिलमलयोः विपर्यस्तस्वरूपप्रतिपादनमतिसुभा-षितम्। यच्च मलस्य परिणामित्वमुच्यते तैस्तदमिश्रस्यास्य कथं स्यात्। कर्मभिः सहितस्य भविष्यतीति चेन्न, तानि मलस्यान्तर्विशन्तीति कास्य तैः सह मिश्रता। यद्यपि—

'मायाविकारयोगे कर्मयुतः कारणं मलो भविनाम्'
(त० त्र० नि०, का० ११)

इत्युक्तं भवद्भिः, तथापि विज्ञानकेवलिनां मलस्य कर्मसाहित्याभावात् परिणामायोगे मुक्त्यभावः स्यात्। मन्त्रमन्त्रेश्वरादीनां च योऽयमधिकारबन्धः, नासौ सहजमलकृतस्तस्य मायोर्ध्वेऽभावादिति तदर्थं मलान्तरमभ्युपगन्तव्यम्। तेषां माहेश्या महामायाशक्त्यैव तावतांशेन बन्धत्वम्, न तु व्यतिरिक्तेनान्येन मलेनेति चेत्, अणूनामपि मायाशक्त्या संकुचितत्वाभासनं बन्धनमस्तु, किमनुपपन्नव्यतिरिक्तमलाभ्युपगमेन। अननुबन्धे मन्त्रादीनामपि तादृशो व्यतिरिक्तो मलोऽभ्युपगम्यताम्।

किञ्च, अयं मलोऽध्वनि न क्वाप्यनुप्रविष्ट इति कथमस्य षडध्वदीक्षायामन्तर्भाव्य शुद्धिः क्रियते? कर्मवत् पुंस्तत्त्वान्तर्भावोऽस्येति चेन्न, कर्त्रात्मनः पुंसः कर्माणि संस्कारात्मतयाऽन्तर्भवन्तीति युक्तम्, कर्तृनिष्ठत्वात् क्रियाणाम्, मलस्य तु व्यतिरिक्तस्य कथं तदन्तर्भावः।

किञ्च, नावारकेण पटादिना घटादेः स्वरूपं विशिष्यते, अपि तु तद्विषये ज्ञातुर्ज्ञानं विहन्यते, तथा शिवमुक्ताणूनामेव स मलः स्यात्, तेषां मलेन पुंविषयज्ञानावरणादिति मलस्यावारकत्वं तावदयुक्तम्। यश्च मलस्य परिपाकोऽभिधीयते, स किं तस्य तच्छक्तेर्वा विनाशः, उत निरोधप्रतिबन्धः। आद्ये पक्षे एकत्र तत्परिपाके सर्वे शुद्धाः स्युः, तच्छक्तेरनेकत्वाभ्युपगमेऽपि सदृशत्वाच्छक्तिमदव्यतिरेकाच्चैष एव प्रसङ्गः। फलभेदादारोपितभेदो हि पदार्थात्मैव शक्तिरिति सूरयः। न चानादेर्वस्तुभूतस्य मलशक्तिनिरोधस्य नाशो युक्तः, प्रागभावस्य वस्तुत्वात् स भवतु नाम। शक्तिनिरोधप्रतिबन्धोऽपि विषवह्निशक्तिप्रतिबन्धवत् सर्वानेव प्रति स्यात्। तद्वदेव च प्रतिबन्धकनिवृत्तौकः पुनरुन्मज्जेत्। परिपाकश्चास्य यद्यहेतुतन्निरोधः प्रथममेव स्यात्, यदि कालहेतुकः तत्कस्तदवधिः, सर्वेषां च मलानादित्वस्य तुल्यत्वात्। वृक्षफलानामिवर्तौ मलशक्तीनां सममेव वा सामनन्तर्येण वा परिपाकः स्यात्, नात्यन्तदूरकालव्यवधानेन। अथ—

'पुंबलरोधं कुर्वन् पश्यति हि स शक्तिसाफल्यम्।
दृष्ट्वा च तन्निवृत्त्यै योग्यं युङ्क्ते नृमुक्तये करणम्॥'
(त० त्र० नि०, का० २१)

इत्युक्तनीत्या मलः स्वकार्यं कृत्वा पच्यते, तत् पुन्निरोधानन्तरमेव पच्येत। अथ यदर्थं पुन्निरोधः, तस्मिन् कलादिक्षित्यन्ततत्त्वोदये भोगे भुक्ते सति

पच्यते, तदत्र भोगो यदि सामान्येन, तदेकत्र शरीरे कलादिक्षित्यन्तमये तत्कार्यस्य भोगस्य संपन्नत्वात् तदनन्तरमेव मलपरिपाकः स्यात्। अथ विशेषेण, तन्न कदाचिदपि, भाविकलात्मनो विशेषस्य कर्मजभोगवैचित्रस्य तदुत्थत्वात्। अथेश्वरेच्छातो मलस्य परिपाकः, तदीयेच्छा यद्यनियन्त्रिता, हेतुः सर्वांणूनां स्यादित्युक्तमेव। अथ भोगपर्यायतः कदाचिद्विरुद्धे समबले कर्मणी परिपक्वे अपि विरोधादुदासाते, कर्मान्तराणि चापरिपक्वत्वाद्भोगाय नोन्मुखीभवन्ति, इति तं कालमपेक्ष्य भगवान् मलं रुणद्धि, स च कालो दुःखसुखरहितः स्वयमुपलभ्येतापि कैश्चिदिति पक्षः। तदत्रापि ब्रूमहे—कर्मणां क्रमानुष्ठितानां क्रमिकफलानां कथं तावद्युगपत्फलदानौन्मुख्यम्, कथं वा तन्निरोधावसरे ततोऽन्यत् कर्म फलं न दद्यात्। तस्य स्वकाल एव फलदानोन्मुखत्वं न तु तत्काल इति चेत्, तयोरपि तर्हि न तदेककालं युक्तम्। ईश्वरेच्छात एवेति चेत्, सा यदि स्वतन्त्रा, तद्युगपत् सर्वस्य सर्वकर्मपरिपाकात् तद्भोगं दत्त्वा मुक्तिं वितरतु, कर्मानपेक्षया वा सर्वस्य मलं रुणद्धु। अथास्वतन्त्रा, तदत्रापि तस्य हेत्वन्तरं वक्तव्यम्। यस्य च तुल्यबले कर्मणी भोगोन्मुखे रुद्धे तस्य तत्कालं देहपातः स्यात्। अथ न जात्यायुष्प्रदयोः कर्मणोर्निरोधोऽपि तु भोगप्रदयोरेव। ननु जात्यायुष्प्रदकर्मानिरोधेऽपि यदीशो मलं रुन्धे, तद्भोगप्रदात् किमिति बिभेति, यत्तन्निरोधमवश्यमपेक्षते। यदि च रुद्धशक्तिकर्मदशायामेव मलं रुन्ध्यात्, तत्स प्रलयावस्थायां सर्वेषां तथा कुर्यात्। तत्रापि च तेषां तादृग्भोगप्रदकर्मसङ्गोऽस्तीति चेत्, विरुद्धकर्मद्वयसङ्गे तादृग्भोगदं कर्मास्तीति किं वक्तुं न शक्यते। किञ्च, विज्ञानाकलानां कार्ममलशून्यानामीश्वरो युगपन्मलं रुन्ध्यादित्यष्टौ बोधितवानिति शास्त्रेषु संख्यानियमानुपपत्तिः। अथ सत्यपि कर्मसाम्ये परिपक्वमेव मलमीशेच्छा रुणद्धीति कैरणव्याख्यातृमतमाश्रीयते, तर्हि उक्तदूषणावृत्तिरनुपपन्ना व्यर्थकर्मसाम्याभ्युपगमदोषश्चापतति। एतेन तदपि प्रत्युक्तं यदाहुः केचित्—

'वैराग्यं भोगवैरस्यं धर्मः कोऽपि विवेकिता।
सत्सङ्गः परमेशानपूजाद्यभ्यासनित्यता॥

आपत्प्राप्तिस्तन्निरीक्षा देहे किञ्चिच्च लक्षणम्।
शास्त्रसेवा भोगसङ्गपूर्णता ज्ञानमैश्वरम्॥

इत्यादिहेतुके चेच्छा मलं रुन्धे हठादिति।'

यत एतदुदयेऽपि यदीशेच्छैव कारणं तदन्योन्याश्रयः। कारणान्तरं च वक्तुमशक्यम्, तस्यापि नियमायोगात्। न चैते सर्वे हेतवः, ईशेच्छाया आयातशक्तिपातानां तथारूपत्वादृष्टेः, नाप्येकैकस्येशेच्छाहेतुत्वम्, वैराग्यादेः

शतशो व्यभिचारदर्शनात्, परमेशपूजाज्ञानादेश्च मलपरिपाकपूर्वकत्वात्, न त्वीशेच्छाप्रचोदकत्वं युक्तम्। यत्पुनरन्यदुक्तं पुंसां मुक्तेः क्रमिकत्वं दृष्ट्वा ईशेच्छाया अपि मलपरिपाकहेतुत्वं क्रमिकमनुमीयते, यथा भोगस्य क्रमात्तद्धेतुकर्मपरिपाकहेतुत्वं क्रमिकमिति, तदसत्, मुक्तेः क्रमो मलपरिपाकक्रमात्, सोऽपि ईशशक्तिकृतपरिपचनक्रमादिति। सत्यम्, ईशशक्तेस्तु मलपरिपाचनक्रमे हेतुर्न लभ्यते, स्वातन्त्र्ये त्वलं मलपरिपाकापेक्षया। तस्मान्न कथञ्चिदपि भेदवादिभिर्मलपृथक्त्वं तच्छक्तिनिरोधतत्परिणामतत्परिपाकशक्तिपातादयः प्रतिपादयितुं शक्यन्ते, इति यथोक्तमेव साधु। यद्यपि चतुर्थपटले—

'अभिलाषो मलोऽत्र तु' (स्व० ४।१०५)

इत्यत्र मलस्वरूपविचारस्यावसरोऽभूत्, तथापीह एकप्रघट्टकेन पश्चात्तद्विचारितम्, मा भूत्तत्र दीक्षातन्त्रनिभालनोद्यतानां सुकुमारहृदयानां व्यामोह इति। किञ्च, भेदवादे जीवानामानन्त्येऽपि पुनरन्येषामुदयाभावत ईश्वरेणेयत्तया परिच्छेद्यमानत्वाच्च नैयत्यं संसारस्य चानादित्वमतो यदि प्रतियुगमेकैकोऽणुर्मुच्यते, तदुच्छेद एव संसारस्य प्रसक्तः। अथ जीवानां तादृगानन्त्यमस्ति, यदीशेनापि न परिच्छिद्यते, तर्हि ईशस्यासर्वज्ञता स्यात्। तदुक्तं शारीरके मुनिना—

'अन्तवत्त्वमसर्वज्ञता वा' (२।२।४१)

इति। आस्तामेतत्। यत्तु तैः स्वतन्त्रशक्तिपातवादिपक्षे चोदितमीश्वरस्य निर्निमित्ते निग्रहादिकारित्वेऽप्रेक्षापूर्वकारित्वं युगपत्सर्वतत्त्वस्रष्टृता सर्वं प्रति च युगपत्सर्वकर्मफलप्रदता जीवानां च मुक्तौ स्वरूपनाशः पुनर्भवाविर्भावश्च स्यादागमेषु च मलस्य वस्तुत्वाभिधानानुपपत्तिरिति, तदेषामपर्यालोचिततन्मतसतत्त्वमभिधानम्, यतस्तन्मते पारमेशचित्प्रकाशव्यतिरेकेण न किञ्चिदप्युपपन्नमिति स एव स्वातन्त्र्यात् शिवादिक्षित्यन्तानन्तविश्वात्मना स्वरूपमवबिभासयिषुस्तथा तथा भातीति न कश्चिदनुग्रहनिग्रहादिभाजनं जनोऽशुद्धिपरीतो वाऽस्ति। अथ च निगृहीतानुगृहीततत्तत्प्रमातॄंस्तत्तत्प्रमेयजातं च स्वभित्तौ दर्पणनगरवत् स एवोट्टङ्कयन् पञ्चकृत्यकारितां निर्भासयन्नपि न मनागप्यतिरिच्यते, अतिरिच्यते वा दर्पणवदेवेति स एव परं प्रेक्षापूर्वकारी यश्चित्रचमत्कारमयत्वाद् यथा च विश्वमाभासयति तथा तन्मध्ये नियतपौर्वापर्यक्रममपि यत्र यत्र प्रथयति तत्र तत्र कार्यकारणभावनैयत्यात्मना कर्मफलादिवैचित्र्येण निमीलितरूपतया तदुपसंहारेण चोन्मीलितरूपतयेति

तावत्यंशे बद्धमुक्तरूपतया वस्तुतस्तु स एव तावद्विश्वात्मना स्फुरतीति न कश्चिदन्यो बद्धो मुक्तो वास्ति। न चैवं स्वरूपापत्त्यात्मनि मोक्षे स्वरूपनाशोऽस्ति। संकोचनाशस्त्विष्ट एव। न च प्राप्तशिवाभेदस्य सर्वसर्वात्मतया सर्वत्र सर्वदा स्फुरतः पुनर्भवोऽस्ति। परमशिवस्यैव सतत्त्वस्य शिवादिसकलान्तेनापि महता स्वस्वरूपेण सरतस्तावतांशेन तत्तद्रूपतोच्यताम्। तत्त्वतस्तु परिपूर्णविश्वस्फारः परमेश्वर एवासौ। अतश्च पुनर्भवप्रसङ्गः स्यादिति यदुक्तं तदयुक्तमेवेति—

'अनाद्यशुद्धिशून्यत्वात् प्राप्नोति न भवान्तरम्।'

इत्यादौ आगमोक्तौ न काचिद्विमतिः। न चास्येयद्विमर्शात्मताप्तौ परिणतिब्रह्मवादिपक्षोक्तदूषणावकाशः कश्चित्, विश्वात्मकस्वस्वरूपविजृम्भामयत्वेन विवर्तपरिणामपक्षयोरनभ्युपगमात्। तदित्थम्—

संकोचविकासवता तदुभययुक्तेन तद्विमुक्तेन।
सर्वात्मना च सततं स्वच्छन्दश्चिद्घनः स्फुरति ॥ १ ॥

यद्यत्स्फुरति च तत्तद्वस्तु धरण्यादि तद्वदेवं च।
पौर्वापर्यनियत्या तत्त्वानां क्रमिकतापि युक्तैव ॥ २ ॥

संकुचितजीवरूपं तत्तत्कर्माभिमानतत्फलभुक्।
भासयति क्रमशोऽसौ दीक्षादावक्रमेणापि ॥ ३ ॥

इत्थं संकोचात्माप्यभिलाषो लौलिकेति गदितो यः।
सोऽपि तथात्वस्फुरणाद्वस्त्वेव मलोऽस्तु शास्त्रेषु ॥ ४ ॥

दीक्षायोगज्ञानैर्ध्वंसेऽपि मलस्य नात्मनाशोऽस्ति।
स्वच्छस्वच्छन्दात्मकचिद्घनताव्यक्तिरेव यन्मोक्षः ॥ ५ ॥

जलमिव जले विनिहितं पयसि पयो यद्वदर्पितं तद्वत्।
यान्त्येकत्वं दीक्ष्या दीक्षाक्रमेण दीक्षिता इति हि ॥ ६ ॥

रौरवशास्त्रेऽप्युक्तं प्रायस्तं वृथैव वृत्तिकृता।
येनार्थव्याख्याभिस्तस्मिन् देवस्तथा तथा प्रथितः ॥ ७ ॥

तदलं भेदविकल्पैरनर्गलेशानशक्तिपातोत्था।
स्वच्छन्दशिवैक्यमयी मुक्तिर्दीक्षादितो घटते ॥ ८ ॥

इत्थं दीक्षोपायो यो यो यैर्यैर्यथा यथा विहितः।
सोऽपीत्थमेव सर्वः समर्थ्यतां शक्तिपातेद्धैः ॥ ९ ॥

युक्त्यस्त्रैर्धार्मिकीतं दलितमिह मतं दूषणोद्गारि सम्यग्
विध्वस्तं खेटपालैः कथितमपि मलं भेदसंधानदक्षम् ।
प्रोक्तं दीक्षासतत्त्वं प्रविगलितमलप्रोन्मिषच्चिन्मयैक्य-
स्वच्छस्वच्छन्दधामप्रथनवशभवत् सर्वसर्वात्मरूपम् ॥१०॥

इति भद्रम् ॥

———

इति स्वच्छन्दोद्द्योते
श्रीक्षेमराजविरचिते तत्त्वादिदीक्षाप्रकाशनं नाम
पञ्चमः पटलः ॥ ५ ॥

———

षष्ठः पटलः

ह्रस्वाकारविरिञ्चिजागरधरित्र्याद्या हि ये पञ्चकाः
शक्त्याद्याश्च तथैव शङ्करनुतेः पूर्णाविमर्शात्मनः ।
ये प्राप्तप्रणवाभिधाः कुशलवल्लेशेऽपि विश्वप्रथा-
स्तं पञ्चप्रणवं स्मरामि सततं स्वच्छन्दधामाप्तये ॥

प्रश्नग्रन्थे कालस्य साधनानां च स्वरूपं निर्णेतुमवशिष्टम् । तत्र समनन्तरपटलेन कालो निर्णेष्यते, स च बाहुल्येन सिद्धचक्रम्, सिद्धयो मन्त्रसाधनपूर्विका इति साधनानां स्वरूपनिर्णयाय पञ्चमपटलान्ते 'मन्त्र-सिद्धेन वा' इति यदासूत्रितं तद्विभक्तुमाह—

समयाचारयुक्तस्य साधकस्य वरानने ।
जायते विविधा सिद्धिः

समयाः पूर्वोक्ताः । आचारो वक्ष्यमाणो मन्त्राराधनप्रकारः । वरमुत्कृष्टं शाक्तस्फारमयम्, आननं भोगापवर्गप्रदपरपदप्रवेशो यस्याः ॥

आचारं क्रमेण स्फुटयति—

गिरिगह्वरमाश्रिते ॥१॥
सुशुद्धे भूप्रदेशे तु सर्वशल्यविवर्जिते ।
प्रच्छन्ने विजने रम्ये भैरवं तत्र पूजयेत् ॥२॥

सर्वशल्यविवर्जितत्वमहिकण्टकपरुषवातोपद्रवप्रस्रवादिहीनत्वम् । प्रच्छन्नेऽदृश्ये । पूजयेदिति कामनोचितेन संभारेण ॥ २ ॥

अथ—

जपित्वाक्षरलक्षं तु बहुरूपस्य सुव्रते ।
पञ्चप्रणवसंयोगाज्जपतः सिद्ध्यति ध्रुवम् ॥३॥

बहुरूपस्य पूर्वंनिर्णीतपरमार्थस्य अक्षराणां द्वात्रिंशतः परिमाणेन, लक्षमिति द्वात्रिंशल्लक्षाणि, पूर्वसेवार्थं जपित्वा, ध्रुवं निश्चितम्, सिद्ध्यति यथेष्टां सिद्धिमेति साधकः । कथं जपित्वेत्याह— पञ्चप्रणवसंयोगाज्जपतः ।

प्रकर्षेण नूयते स्तूयते, अभेदपरमार्थतया विमृश्यते, अशेषविश्वनिर्भरं पारमेश्वरं स्वरूपं येन स प्रणवो निष्कलनाथः, तदभिन्नव्याप्तिक ओंकारोऽपि। तस्य च मृगमदकुलकैकदेशलेशवद्विश्लेष्यमाणाकारादिकलाः, तद्वाच्या ब्रह्मादिदेवताः, तदधिष्ठातॄणि धराप्रकृतिमायादितत्त्वानि, वर्णोच्चारकला ह्रस्वादिरूपाः, तदुच्चारयित्रवस्थाश्च जाग्रदाद्याः प्रत्येकं पञ्चसंख्याः, स्थूलाः शक्तिव्यापिन्यादिकलास्तद्वाच्यतदुच्चारणकलादिरूपाश्च सूक्ष्मदशाः,

'प्रदेशोऽपि ब्रह्मणः सार्वरूप्यमनतिक्रान्तश्चाविकल्प्यश्च'

इति स्थित्या परिपूर्णचमत्कारपूर्णत्वात् प्रणवशब्दवाच्याः। अत एवैतन्मन्त्रशरीरनिविष्टत्वादेतेऽकारादयो ब्रह्मविष्णुरुद्रशक्तिशिवप्रणवाभिधेयपिण्डबीजविशेषा भिन्नस्फारा इति कृत्वा, एते पूर्वोक्ताः सर्वं एव पञ्च प्रणवा विद्यन्ते यत्र स पञ्चप्रणवो निष्कलस्तदभिन्नव्याप्तिरोङ्कारश्च। तस्मिन् पञ्चप्रणवे सम्यग्योगादुच्चारोन्मीलितहंसपदानुलग्नतात्मकत्वात् पूर्वनिर्णीतनिष्कलव्याप्त्यभिन्नसतत्त्वसकलमन्त्ररहस्यार्थभावनारूपश्च यो जपस्तस्माज्जपतो न त्वक्षरपाठमात्रादित्यर्थः ॥३॥

न केवलमित्थं जपात् सिद्ध्यति यावत्—

मुच्यते न तु संदेहो भेदनात् प्रणवस्य तु।

पञ्चप्रणवसंयोगाज्जपत इति यदुक्तं तद्वक्ष्यमाणवर्णकलादिविश्लेषेण व्याप्तिरूपं भेदनं विना न भवति। भेदनं परतत्त्वावेशप्रदमिति मुक्तेर्निःसंशयत्वमुक्तम् ॥

तत्र मन्त्रोच्चाराङ्गभूतकालकलाज्ञानपूर्वंकालातीतपदप्रवेशार्थं तावद्भेदनमादिशति देवः—

ह्रस्वं दीर्घं प्लुतं सूक्ष्ममतिसूक्ष्मं परं शिवम् ॥४॥

प्रणवं पञ्चधा ज्ञात्वा भित्वा मोक्षो न संशयः।

प्रणवमकारोकारमकारबिन्दुनादकलोच्चारेषु क्रमेण ह्रस्वाद्यतिसूक्ष्मान्तोच्चारणकालकलाप्रपञ्चरूपं भित्वा तत्तद्दशानुभवानुप्रवेशक्रमेणाध्यास्य परं भावमुन्मनापदासादनेन ज्ञात्वा मोक्षमाप्नोत्येवेत्यर्थः। अत्र च ह्रस्वादिनादान्ताः परस्परानुषक्ततयोच्चार्याः, सूक्ष्मातिसूक्ष्मयोर्बिन्दुनादयोरुपरि अर्धचन्द्रादिनादनादान्तादिदशास्तारतम्यभाजोऽप्यनुसर्तव्याः। यथोक्तं प्राक्—

सूक्ष्मसूक्ष्मतरैर्भावैरेवमेवं त्यजेत् प्रिये। (४।२६७)

इति। ह्रस्वादीनां यथा प्रणवत्वं यथा निर्णीतम्, इति सामानाधिकरण्यं युक्तमेव। न संशय इत्युक्त्या स्वानुभवसिद्धतामस्य दर्शयति ॥ ४ ॥

तदित्थं ह्रस्वादिकालकलाक्रमेण वक्ष्यमाणवाचकादिक्रमेण चैकोऽप्ययं महामन्त्रात्मा—

प्रणवः पञ्चधावस्थः

पूर्वम्—

'प्रदेशोऽपि ब्रह्मणः सार्वरूप्यमनतिक्रान्तः'

इति स्थित्या ह्रस्वादयः पञ्च प्रणवा इत्यभिहितमधुना त्वेक एव महाविमर्शात्मा मन्त्र इत्थं पञ्चधाऽवतिष्ठत इत्येवमभिहितम्, इत्युक्तिभेदमात्रमेतत्, निर्णीतदृशा वस्तुतत्त्वैक्यात् ॥

किमित्थं पञ्चधावस्थितिमात्रात्मैवायम् ? नेत्याह—

हंसेन सह संयुक्तः ॥५॥

पूर्वं

'हंसोच्चारस्त्वथोच्यते।
हकारस्तु स्मृतः प्राणः सुप्रवृत्तो हलाकृतिः' ॥ (४।२५७)

इति ग्रन्थेन हंसोऽनाहतध्वनिरिति निर्णीतम्। अतस्तेन स्वप्रवृत्तत्वादेवाकृतकमध्यमप्राणस्फुरत्तारूपेण समनन्तरवक्ष्यमाणनीत्याशेषविश्ववाङ्मयस्फारमयेन सह संयुतस्तद्विमर्शविश्रान्तिपरमार्थोऽयमत्रत्यो महामन्त्ररूपः प्रणवः ॥५॥

तथा च—

यत्किञ्चिद्वाङ्मयं लोके शिवज्ञाने प्रतिष्ठितम्।
शिवज्ञानं च तत्रस्थं

यत्किञ्चित् षडध्वनो मध्याल्लोकेऽस्ति, तत्सर्वं शिवज्ञानं च शिवो ज्ञायतेऽनेनेति शिवज्ञानं शिवज्ञाने ज्ञानस्फारमये पारमेशोक्तव्याप्तिसारे प्रणवे प्रोक्तवक्ष्यमाणदृशा प्रतिष्ठितमभेदेनान्तःस्थितम्, यतस्तद्वाङ्मयं परावाक्प्रसररूपम्। यथोक्तं श्रीसारस्वते स्तोत्रे—

'त्रयीं तिस्रो वृत्तीस्त्रिभुवनमथो त्रीनपि स्वरा-
नकाराद्यैर्वर्णैस्त्रिभिरभिदधत्तीर्णविकृति।
तुरीयं ते धाम ध्वनिभिरनुरुन्धानमणुभिः
समस्तव्यस्तं त्वां शरणद गृणात्योमिति पदम् ॥'
(म० स्तो० २७)

इति। प्रणव इति वक्तव्ये शिवज्ञान इत्युक्तेरयं भावः—यद् वेदगारुडवैष्णवादिषु रूपसाम्येऽपि प्रणवस्य पारमेश्वरे प्रोक्तवक्ष्यमाणज्ञानव्याप्तिसारताकृत उत्कर्षः। अत एव एतद्व्याप्तिज्ञानानुसारेण सर्वत्राप्यसौ पूर्णस्फारमयत्वेन परसिद्धिप्रदः। यथोक्तम्—

'यतः शिवोद्भवं सर्वं शिवधामफलप्रदम्' (स्व० ५।४५)

इति। तत्तत्परिमितव्याप्त्यनुसारेण तु स एव मितसिद्धिप्रदः। यदभिप्रायेण वक्ष्यति—

'भ्रमयत्येव तान् माया ह्यमोक्षे मोक्षलिप्सया' (१०।११४१)

इति। आस्तां तावदेतदिह। यच्चैतदेवंविधप्रणवात्मकं शिवज्ञानं तदपि, तत्रेति निरूपितसतत्त्वे हंसे, तिष्ठति॥

तदित्थमस्मिन्निष्कलनाथे पञ्चप्रणवे नित्योच्चरन्नादावमर्शरूपः—

हंसः प्रणवसंयुतः ॥६॥

प्रणवे प्रोक्तसतत्त्वे सम्यग्युतः प्राणरूपतया स्थितः, अत एवाशेषविश्वक्रीडाकारिहंससम्बन्धादेव शास्त्रान्तरोक्तब्रह्मविष्णुरुद्रशक्तिशिवप्रणवाभेदव्याप्तिरयं महामन्त्र इत्युक्तमेव। अतश्च यदुक्तम्—

'पञ्चप्रणवसंयोगाज्जपतः सिद्ध्यति ध्रुवम्' (६।३)

इति। तत्रानाहतविश्रान्तिसतत्त्वो निष्कलोच्चारप्रगुणीकृतमध्यधामसंलीनतया जपः कार्यः, इति परमार्थः पर्यवसितः॥६॥

अथ प्रणवसंयोगं विना कीदृगयम्? इत्याशङ्क्याह—

विना प्रणवसंयोगाज्जीव एको व्यवस्थितः।

जीवो विश्वस्य प्राणभूतो हलाकृतिरेव। यथोक्तम्—

'हकारस्तु स्मृतः प्राणः सुप्रवृत्तो हलाकृतिः' (४।२५७)

इति। अत्र प्राण इत्यकारादिकलात्मकप्रणवसंयोगं विना। एक इत्यद्वितीयः। सर्वमन्त्रवीर्यान्तर्व्यवस्थित इत्यविचलद्रूपतयानुच्चार्यः, अथ चाव्यवस्थितो न केनचित् प्रतिनियतेन रूपेण स्थितोऽनियन्त्रितस्फार इत्यर्थः। जीवशब्देन व्यवहरन्नयमेव महास्फुरत्तारूप आत्मा मन्तव्य इति ध्वनति। कश्चित्तु मन्त्रस्वरूपनिरूपणपरे ग्रन्थेऽस्मिन् मुख्यं च शब्दार्थमुत्सृज्य हंसशब्देन हंस-

पथः, प्राणशब्देन च स एव, यदि वा प्रणवप्राणयोरैक्यात् प्राणयोगं विना जीवः पुरुषः, एक इत्यनभिव्यक्तज्ञानक्रियास्वभाव, इति व्याचष्टे। तद्युक्तमयुक्तं वेति सचेतसो जानन्ति ॥

यतोऽयं प्रणवसंयोगं बिना स्वरूपमात्रावस्थितो जीवस्ततः—

यथाप्रकृति संयुक्तो न च तिष्ठति चैकतः ॥७॥
तथा षष्ठेन संभिन्नो देहे जीवः प्रवर्तते ।

जीवो हंसः प्रकृत्यनतिक्रमेण स्वभावानुल्लङ्घनेन संयुक्तः स्वभावानुल्लङ्घनेन चास्य—

'विभक्तिर्नानयोरस्ति' (४।३५०)

इत्युक्तनीत्याऽकारसंगत एव भवतीत्यकारेण संयुक्तोऽसौ। एकत इत्येकस्मिन्नद्वितीये सामान्यस्पन्दात्मनि रूपे न तिष्ठति, अपि तु किञ्चित् स्पन्दाधिक्यमिव भजते यथा, तथा षष्ठेन ऊकारेण संभिन्नो मिश्रितो देहे प्रवर्तते, सर्वेण स्वाभाविकेन प्राणवाहेन वहँल्लक्ष्यते एव। तथाशब्दापेक्षया यथाशब्दोऽप्यत्राध्याहार्यः ॥

पूर्वोक्तकरणबन्धानुसारिणा—

चोदितस्तु यदा तेन तदा चोर्ध्वं प्रवर्तते ॥ ८ ॥

तेनेति षष्ठेन ऊकारेणार्थाद् बिन्द्वादियुक्तेन। तदा चेति तदैवेत्यर्थः। ऊर्ध्वमिति तात्वादिस्थानम्। एतच्चोदनां विना त्वस्याकारयुक्तस्यापि नोर्ध्वप्रवृत्तिर्भवतीत्यर्थः ॥८॥

तदित्थम्—

प्रत्यक्षमपि तत्तत्त्वं महामायाविमोहिताः ।
कथितं नाभिजानन्ति विना शास्त्रेण चोदनाम् ॥९॥

तदेतन्नादावमर्शसारं मन्त्रतत्त्वं सर्वस्य प्रमातृरूपं सदोच्चरद्रूपत्वात् स्वप्रकाशमपि, तथा शास्त्रेणेत्यागमवाक्यैः कथितमपि, महामायया सदाशिवेशादीनपि मोहयन्त्याऽपूर्णताख्यातिपरमार्थया विशेषेण चिद्रूपत्वादात्मस्वरूपे विश्वत्रानन्त्यात्मतावभासनपुरःसरमनात्मनि देहादावात्मतामवभासयन्त्या मोहिताः सङ्कुचतां ग्राहिताः। चोदनामिति महामायातिरस्कारिपरमेशानुग्रहकारिशक्त्युद्बोधनं विना न अभीत्याभिमुख्येनाश्वासरूढ्या जानन्ति।

अतः सर्वथैतत्तत्त्वपरिज्ञानमेव परमोपादेयमिति तात्पर्यम् । उक्तं च ज्ञानगर्भे—

'तवाम्ब परमाक्षरी भवति रूपमेतद् बहि-
र्विशत्प्रणवरूपतां समुपयाति हृत्कोटरे ।
अवेद्यमकृतात्मभिर्जननि बिन्दुनादात्मय-
द्विदन्ति तदहेलया त्वदनुसंस्मृतेर्योगिनः ॥'

इति ॥९॥

तज्ज्ञप्त्यर्थमाह—

षष्ठश्चोर्ध्ववहो ज्ञेयः स्वभावमुखसंस्थितः ।

षष्ठ ऊकारः, 'चोदितस्तु यदा तेन' (६।८) इत्यत्र य ऊर्ध्ववह ऊर्ध्वप्रवर्तक उक्तः, स्वभावो विश्वानुप्राणको मध्यमार्गः, स एव मुखं शिवपदप्राप्त्युपायस्तत्र सम्यक्पूर्वोक्तकरणबन्धक्रमेणोच्चरन् ज्ञातव्यः ॥

अतश्च—

अप्रकाशः स्वदेहस्थो गुणभूतः प्रवर्तते ॥१०॥

योऽयं स्वप्रवृत्तत्वात् प्रकाशयितुमशक्यो रहस्यरूपश्चानाहतनाथः, स्वे आत्मीये उपचितरूपे मध्यधामात्मनि देहे तिष्ठति, नित्यावस्थितः स गुणप्रकारं भूतः प्राप्तस्तेन युक्तः सन् प्रवर्तते ऊर्ध्वमारोहतीत्यर्थः ॥१०॥

अन्यथा—

निर्गुणस्तु यदा देव एकाकी कालवर्जितः ।
विज्ञातव्यं न किञ्चित् स्यात् केवलो निष्कलस्तु सः ॥ ११ ॥

स्वतन्त्रचित्स्फारमयत्वाद् देवः, तदतिरिक्तस्याभावादेकाकी, नित्यत्वात् कालवर्जितः, ईदृग्योऽनाहतनाथः । च न च तद्विज्ञातव्यं किञ्चित्, नासौ केनापि प्रकारेण ज्ञेयो भवति, ज्ञात्रेकरूपत्वादत एव केवल इत्यद्वितीयः । कलाभ्योऽकारादिवर्णेभ्यो ह्रस्वादिकालकलाभ्यो मेयत्वरूपपरिच्छेदेभ्यश्च निष्क्रान्तः, ताश्च कला यस्मान्निष्क्रान्ताः स एव चिद्घनपरमार्थ इति यावत् । एतत्सारत्वादेव च चतुष्कलनाथोऽपि निष्कल इत्युच्यते ॥११॥

अतश्च—

तस्य रूपं शरीरं च नास्ति वर्णः क्रिया तथा ।

रूपं शुद्धस्फटिकाभत्वादि । शरीरं पञ्चवक्त्रादि वाच्यगतम् । वर्णः अकारादिर्वाचकरूपः । क्रिया उच्चारादिरूपा । कश्चित्तु वर्णो ब्राह्मणादिः, क्रिया तदुचिता चेष्टेति ॥

तदित्थं ज्ञेयपक्षादुत्तीर्णः—

स कथं गृह्यते सूक्ष्म अग्राह्यो नित्यमव्ययः ॥१२॥

सूक्ष्मो विश्वकारणम् । अग्राह्य इन्द्रियागोचरः । अव्ययोऽपरिणतिधर्मा ॥१२॥

यतोऽयमीदृक्—

एतस्मात् कारणाद् देवि षष्ठं बीजं नियोजितम् ।

अस्य परमेशेन मन्त्रराजरूपताप्राप्त्या । पुंसामनुग्रहायेति शेषः ॥

तन्नियोजनाच्च—

पञ्चपञ्चकसंयुक्तो देहे सकलनिष्कलः ॥१३॥

ह्रस्वादिरूपमुच्चारणकालकलानां पञ्चकमेकम्, अकारोकारमकारबिन्दुनादाख्यवाचककलानां द्वितीयम्, तद्वाच्यब्रह्मविष्णुरुद्रेशसदाशिवानां तृतीयम्, तदधिष्ठेयधराप्रकृतिमायेश्वरसदाशिवतत्त्वादीनां चतुर्थम्, वर्णोच्चारयित्रवस्थानां जागरस्वप्नसुषुप्ततुर्यतुर्यातीतानां पञ्चममिति पञ्चभिरुक्तवक्ष्यमाणैः पञ्चकैः परापररूपतया स्थितैर्यदा देहे हृत्कण्ठादिक्षेत्रे संयुक्तस्तदानाऽहतभट्टारको निष्कलोऽपि विचित्रेदृक्कलायोगात् सकलनिष्कल उच्यते इत्यर्थः ॥१३॥

तेनैतदुच्चारणेऽपि निष्कलतत्त्वविश्रान्तावेवावधातव्यमित्याह—

ग्रहणं तु यदा तस्य योगी योगविचिन्तकः ।
योगेनावाहितस्यापि भावमात्रं तु भावयेत् ॥१४॥

अत्र श्लोक इच्छतीत्यध्याहार्यम् । तेनोक्तरूपपञ्चपञ्चकव्याप्तिरूपं योगं यो विकल्पपूर्वकाविकल्पविमर्शात्मकं चिन्तयति, स योगी यदा तस्य ग्रहणमुच्चारणमिच्छति, तदा योगेन पूर्वोक्तदिव्यकरणबन्धाद्यात्मना, आ समन्ताद्वाहितस्य मध्यधाम्नाऽभीष्टं पदं प्रापितस्यापि, भावमात्रमिति—

'सत्तामात्रं परं शान्तम्' (४।२९३)

इति योजनिकाग्रन्थनिर्णीतमनाहतध्वनिपरमार्थपूर्णस्फुरत्तां भावयेदुक्तव्याप्तिकमन्त्रोच्चिचारयिषाविमर्शपुरःसरं तद्ग्रहणेनैव मन्त्रभूमिमारुह्य तदपरकोटौ विश्राम्यन् मन्त्रवीर्यमनुशीलयेदित्यर्थः । तदुक्तं शिवसूत्रेषु—

'विद्याशरीरसत्ता मन्त्ररहस्यम्' (२।३)

इति, तथा—

'महाह्लदानुसन्धानान्मन्त्रवीर्यानुप्रवेशः' (१।२२)

इति । महाह्लदस्य विद्याशरीरस्य परसंवित्स्फारस्य सत्ता स्फुरत्ता मन्त्राणां रहस्यं वीर्यम्, तत्र चानुप्रवेशो महाह्लदस्य मध्यमार्गस्यानुगततया मन्त्रव्याप्त्यनुसरणपूर्वकतदुच्चिचारयिषाविमर्शानुप्रवेशात्मनः सन्धानान्मन्त्रविश्रान्त्यारोहादित्यर्थः ॥१४॥

एवं मन्त्रवीर्यानुप्रवेशयुक्तिमुक्त्वा साधकोचितं तदनुप्रवेशक्रममाह—

यदा करोति सृष्टिं च ऊर्ध्वे बिन्दुः प्रवर्तते ।

आराधको यदा सिद्धिकामो भवति, तदास्योक्तयुक्त्यैव कृतोर्ध्वपदविश्रान्तेराराधकसंविदनुसारेणोन्मिषितशाक्तबलो मन्त्रः, ऊर्ध्वे सर्वाध्वमूर्धनि समस्तभावाभावरूपशिवादिकालाग्न्यन्तजगदासूत्रणात्मकाविभागप्रकाशरूपः प्रवर्तते, ततः प्रभृति सृष्टिक्रमेण हृदन्नमस्यापूरयति, अभिलषितपदापूरणेनेत्यर्थः ॥

मुमुक्षोस्तु न प्रोक्तसतत्त्वबिन्द्ववष्टम्भप्राधान्येन मन्त्रोच्चारणम्, अपि तु—

बिन्दूपरि च यच्छान्तः शिवः परमकारणम् ॥१५॥

तत्र बिन्दुर्लयं याति

परमकारणत्वेन परमशिवाद्वैशिष्ट्यमुक्तं स्यादिति ॥१५॥

यस्मादेवम्, तस्मात्

तत्स्थानं दुर्लभं सुरैः ।

सुरैर्देवैः सर्वेन्द्रियैश्च, मननमात्रप्रधानसूक्ष्ममनोव्यापारं विषयसामरस्यपदातिक्रान्तत्वात् । स्थानमिति तिष्ठत्यस्मिन्नभेदेन विश्वमिति व्युत्पत्त्या ॥

एवंविधमप्येतत्—

षष्ठस्वरसमायोगादभ्यासादचिराल्लभेत् ॥१६॥

समवधानोद्यत इत्यनुषङ्गः । षष्ठः स्वरो बिन्द्वाद्युपलक्षणपर इत्युक्तमेव ॥१६॥

अत एव—

षष्ठश्च पञ्चमश्चैव तस्य देवि गुणाः स्मृताः ।

तस्येति महाविमर्शात्मनः परतत्त्वस्य, षष्ठ ऊकारः, पञ्चमस्तु तदन्तर्भूत एव उकारः, तावेवाध ऊर्ध्वं बहिःशक्त्यात्मकावस्येति पूर्वोक्तमेयार्थं चशब्दादेवकाराच्च प्रोक्तरूपा नियता मकारबिन्द्वादिप्रमेयपरिपाटी, गुणा ऊर्ध्वाधः प्रमरणहेतवो धर्माः शक्तिरूपा इत्यर्थः । स्मृता इत्यविच्छिन्नेन शिवादिश्रीकण्ठान्तेन गुरुपारम्पर्येणेत्यर्थः । कश्चित्तु चकारमेवशब्दं च अचेतित्वा गुणा इति बहुवचनं जपावृत्त्यपेक्षयेति व्याख्यातवान् ॥

यस्मादेवं ततः—

सगुणः सकलो ज्ञेयो निर्गुणो निष्कलः शिवः ॥१७॥

इत्थमुक्तनीत्या निष्कलनाथोऽपि सकलः सम्पन्नः । यस्तु पूर्वम्—

'हकारस्तु स्मृतः प्राणः सुप्रवृत्तः' (४।२५७)

इत्यनाहतनाथो निर्दिष्टः, स एव निर्गुणत्वात्तत्त्वतो निष्कलः ॥१७॥

अत एव—

सकलो ग्रहसंयुक्तो निष्कलो भावमाश्रितः ।

ग्रह उच्चारः । भावः सुप्रवृत्ता महास्फुरत्तात्मा स्फुरत्ता ॥

यतश्च पूर्वोक्तदृशा तात्त्विकनिष्कलामर्शसार एवायं सकलनिष्कलशब्देन पूर्वं व्यवहृतश्चतुष्कलनाथः, ततोऽस्मिन्

सकले जप्यमाने तु जप्तो भवति निष्कलः ॥ १८ ॥

यद्येवम्, अयमेव चतुष्कलभट्टारकरूपः सूक्ष्मः सकलपारमार्थिकनिष्कलतत्त्वविश्रान्त्यर्थं जपाद्युपासाभिराश्रीयताम्, किमिति द्वात्रिंशदक्षरात्मा स्थूलः सकलः—

'जपित्वाक्षरलक्षं तु बहुरूपस्य' (६।३)

इत्याद्युक्त्योपास्य उक्त इत्याशङ्क्याह—

सुरासुराणां देवेन यजनोपायहेतुना ।
रूपं तु सकलं तस्य द्विधावस्थं प्रकाशितम् ॥१९॥

आदिवाक्यनिर्णीतस्वरूपेण देवेन चिदानन्दपरमार्थेन स्वच्छन्दभट्टारकेण। सुराणामिति ज्ञानमार्गाश्वस्तहृदयानाम्, असुराणां च ज्ञानायोग्यत्वेनाज्ञानमार्गाश्वस्तानां मोक्षाद्यर्थं यागोपायत्वेन । तस्येति स्वस्वरूपस्यानाहतात्मनो रूपं द्विधावस्थम् । सकलमिति चतुष्कलबहुरूपात्मकं तत्तदनुग्राह्यानुग्रहोचितं प्रकाशितम् । एतदुक्तं भवति—एकमेवेदं पारमेश्वरं तत्त्वं स्थितमनुग्राह्यानुग्रहानुसारं स्फुरितम्, न त्वत्र वास्तवः कोऽपि भेद इति। यथोक्तम्—

'पुंसामनुग्रहार्थाय परोऽप्यपरतां गतः'

इति। अत एव योग्यजनाभिप्रायेण केवलचतुष्कलनाथभट्टारकाश्रयः साधनविधिरग्रे भविष्यति। यस्तु तात्त्विको निष्कलनाथो नासौ जातुचिद्धद्येयजप्यादिरूपो भवति, तस्याशेषविश्वात्मपरमातृस्फुरत्तैकघनत्वादित्युक्तम् । यत्तु द्विधावस्थं सकलमिति सकलनिष्कलं देवानां दैत्यानां च प्रकाशितमिति व्याख्याय दैत्यानां तामसत्वादनुचितमेतत्प्रकाशनम्, आयातशक्तित्वेनासुराणामिति पूर्वजात्युदीरणं विरुद्धमिति केनचिच्छङ्कित्वा पूर्वावस्थामात्रकथनमेतदिति परिहृतम्, तद्युक्तमयुक्तं वेति सचेतसः प्रमाणमित्यलं पूर्वैः सह पदे पदे निर्बन्धनेन ॥१९॥

तदेतस्य मूलमन्त्रस्य—

प्रथमं प्राकृतं रूपं विकृतं च द्वितीयकम् ।

प्रथममिति विश्वोच्चारभित्तिभूतत्वात् प्रधानं प्रकृतेः स्वभावादायातं स्वयमुच्चरद्रूपम् । विकृतं तु तत्प्रथमप्रसररूपमकारात्मकम्, न तु विपर्ययेण व्याख्येयम्,

'स्वयमुच्चरते हंसः' (७।५९)

इति,

'………तस्माद्वर्णास्तु प्राणतः ।
उत्पद्यन्ते लयं यान्ति………॥' (४।२४८)

इति,

'शास्त्रं शब्दात्मकं सर्वं शब्दो हंसः प्रकीर्तितः' (४।३४१)

इत्यादिवाक्यव्याघातापत्तेः ॥

तदित्थमेकत्रापि मन्त्रे युगपत्—

प्रकृतिर्विकृतिश्चैव उभे षष्ठन संयुते ॥२०॥

दर्शितमेवैतद्यथा मन्त्रे हलाकृतेः प्रकृतिभूतस्य शिरोरेखारूपा विकृतिशब्दवाच्याऽकारकलास्तीति युगपदेव प्रकृतिविकृती षष्ठकलायुक्ते ॥२०॥

अत एव—

ये पदार्थाः पुरा प्रोक्तास्तत्रासावुच्छ्वसन् मुहुः ।
प्रवर्तते च एतेन पुनस्तेन निवर्तते ॥२१॥

यः समनन्तरमेव

'निर्गुणस्तु यदा देवः' (६।११)

इत्युक्त्या निष्कलनाथ उक्तोऽसौ, उच्छ्वसन्नित्याकारोकारकलासम्भेदेनोर्ध्वं प्रसरन्, तत्रेति पूर्वोक्तेषून्मनान्तेषु पदार्थेषु, तेनैव पूर्वोक्तेन क्रमेण प्रवर्तते द्वादशान्तमारोहति । पुनश्च तेनेति प्रातिलोम्येन निवर्तते हृदयान्ते वर्णव्यक्तिमेति, अनाहतध्वनिमेवाविशति । मुहुरिति जपावसरे भूयो भूय इत्यर्थः ॥२१॥

तदित्थमयं पदार्थेष्वारोहावरोहौ कुर्वन्—

प्रणवः पञ्चधावस्थः

पञ्चधात्वमस्य वाचककलाक्रमेण वाच्यक्रमेण च प्रथयति—

त्रिवर्णश्च त्रिदैवतः ।
बिन्दुनादसमायुक्तः प्रणवः परिपठ्यते ॥२२॥

बिन्दुनादसंभेदं विना वर्णसङ्घट्टनामात्ररूपता भवति, न तु प्रकर्षेण नूयतेऽनेन परं तत्त्वमित्येदृक्प्रणवत्वमित्यर्थः । एवं चाकारोकारमकारबिन्दुनादभेदात् प्राग्वद्वाचकरूपाः पञ्च प्रणवाः, ब्रह्मविष्णुरुद्रा वक्ष्यमाणेश्वरसदाशिवसहिता वाच्यरूपाः पञ्च च ॥२२॥

तदाह—

अकारश्च उकारश्च मकारश्च तृतीयकः ।
वर्णत्रयमिदं प्रोक्तं ब्रह्माद्या देवतास्त्रयः ॥२३॥
बिन्दुनादसमायोगादीश्वरश्च सदाशिवः ।
एते वै प्रणवाः पञ्च

ब्रह्माद्या ये त्रयो देवता इति सम्बन्धः । वाच्यवाचकरूपा इत्यर्थात् ॥

ते चैते—

हंसः प्राणयुतः सदा ॥२४॥

'हकारस्तु स्मृतः प्राणः' (४।२५७)

इति यः पूर्वं हंसप्राणोऽनाहतध्वनिरुक्तस्तेन सदा युतस्तदनुलग्नस्तां महाविमर्शभित्तिं विना कस्याप्यस्फुरणादित्यर्थः ॥२४॥

अत एवात्र—

परमात्मा शिवो हंसस्त्वपरेण समन्वितः।

यो हंसः स्वरमुच्चरद्रूपो वाचकवृत्त्या, वाच्यवृत्त्या तु परमात्मा सर्वेषां ब्रह्मादीनामनुप्राणकः, परनिर्वाणात्मकश्रेयःप्रदत्वाच्छिवः वाच्यवाचकयोरत्राविभागेन प्रकाशानन्दघनत्वेन स्फुरणात् सोऽयमीदृशो हंसः, अपरेणेति प्रोक्तरूपवाच्यवाचकरूपेण प्रणवपञ्चकेन समन्वितः संबद्धः। अत्र चाकारादिरूपेषु प्रणवेषु ह्रस्वाद्युच्चारकला जाग्रदादयोऽवस्थाभेदाः, पृथिवीप्रकृतिमायेश्वरसदाशिवान्तानि च ब्रह्माद्यधिष्ठितानि तत्त्वानि, इति पञ्चकान्तराण्येतान्यन्तर्भूतानि निर्णीतदृशा प्रणवरूपाण्यनुसर्तव्यानि ॥

न केवलमित्थमपररूपाः पञ्च प्रणवा मन्त्रेऽस्मिन् स्थिता इति, यावत्—

परतः प्रणवान् पञ्च पुनरेव वदाम्यहम् ॥२५॥

अन्यतन्त्रसिद्धान्तवैलक्षण्येनेत्यर्थः ॥२५॥

तानाह—

शक्तिश्च व्यापिनी चैव समनात्मा च निष्कलः।

उन्मना च तथा देवि प्रणवाः पंच कीर्तिताः ॥ २६ ॥

अत्रापि वाचककलानां वाच्यानां तद्गर्भीकृतसुसूक्ष्मतमोच्चारकलोच्चारयित्रवस्थाशक्तितत्त्वाद्यावरणानां च पूर्वोक्तयुक्त्या प्रणवत्वम् ॥२६॥

तदेतावतो विश्वस्य भित्तिभूतः—

परतः परमो हंसः सर्वं व्याप्य व्यवस्थितः।

यो निर्णीतचरः परमो हंसः, स परतः प्रकृष्टतया परापरभेदभिन्नं प्रणवपञ्चकम्, तद्द्वारेण च विश्वं व्याप्य स्थित इति स एव परमोपादेयः। तदभेदविमर्शमयत्वेन निष्कलभट्टारकोऽपि ॥

तदत्र—

एते वै प्रणवाः पञ्च परापरविभागशः ॥२७॥

परापरेण हंसेन नित्यमेव प्रणामिताः ।

हंसो हलाकृतिः स्वशक्त्याद्यकारादिपरापरप्रणवयोगाच्चतुष्कलतां प्राप्तः परापर उच्यते । तेनोभयरूपेण प्रणामिताः प्रह्वीभावमापादिताः स्वप्रत्यवमर्शप्रवणाः कृताः । प्रणामिता इत्यैशः पाठः । अत एव प्रकर्षेण नूयते परं तत्त्वं यैस्ते प्रणवा इति प्रारम्भ एवोक्तमस्माभिः ॥२७॥

अतश्चैते—

प्रवर्तन्ते हि सर्वत्र भुक्तिमुक्तिफलप्रदाः ॥२८॥

सर्वत्रेति साधकपुत्रकादिविषये ॥ २८ ॥

तस्मादयं मूलमन्त्रः—

पञ्चभिस्तु युतस्त्वेभिः स पञ्चप्रणवात्मकः ।

यो निःस्वभावः परापरप्रणवभेदप्रथनद्वारेणैव विश्वत्र कारणं चतुष्कलनाथ इति निर्णीतमेवैतत् ॥

किं च—

तत्रस्थ एकरूपस्तु निष्कलस्तत्त्वतः स्मृतः ॥२९॥

तत्रेति पूर्वोक्तप्रणवविश्रान्तिधाम्नि चतुष्कलनाथे यस्तिष्ठति । एकरूप इति प्रोक्तप्रकृतिरूपोऽनाहतभट्टारकः । स एव तत्त्वतो निष्कल इत्यर्थः ॥२९॥

न केवलमसौ, यावत्—

तद्योगादपि तद्बीजं

प्रोक्तनिष्कलसंबन्धाद्बीजमपीति चतुष्कलनाथोऽपि निष्कल उच्यत इत्यर्थः ॥

किं च—

सर्वबीजप्ररोहकम् ।

सर्वेषां बीजानां ब्रह्मादिकारणानामङ्गब्रह्मादिमन्त्राणां च प्ररोहकं सामर्थ्यप्रदं तद्योगादेव ॥

अत्र हेतुः—

प्रवर्ततेऽयतो यस्माद् देवासुरनिकेतनम् ॥३०॥

अयते गच्छति स्वयमुच्चरति चित्प्रकाशाभेदेन स्फुरतीत्ययो हला-कृतिस्ततो यस्माद्देवासुराणां प्राङ्निरूपितनीत्या निकेतनं उपासास्थानं चतुष्कलबहुरूपात्म मन्त्रद्वयं प्रवर्ततेऽनुग्रहादौ प्रसरति, ततो युक्तमुक्तम्—

'तद्योगादपि तद्बीजं सर्वबीजप्ररोहकम् ।' (६।३०)

इति । देवसुरा इन्द्रियाणि, तन्निकेतनं प्राण इति केचित् ॥३०॥

अतश्च प्रथमपटलनिर्णीतव्याप्त्यनुसारं चतुष्कलबहुरूपाभ्यां विश्वस्य स्वीकारात्तयोश्च परस्फुरत्तासारानाहतध्वनिविश्रान्तत्वात्—

तत्र मन्त्राश्च वर्णाश्च प्रतिष्ठां यान्ति नान्यथा ।

मन्त्राः पिण्डबीजानि । वर्णा मालामन्त्रसम्बन्धिनो मातृकावर्तिनश्च सर्वेऽनाहत एव प्रतिष्ठिताः । नहि परां स्फुरत्तां विना कस्यापि स्फुरणं घटते । उक्तं च श्रीस्पन्दे—

'तदाक्रम्य बलं मन्त्राः ।' (२।१०)

इत्यादि ॥

अतश्च—

तस्य बोधाद्विमुच्यन्ते अहिकञ्चुकवत् प्रिये ॥ ३१ ॥

दीक्षिता इति शेषः ॥३१॥

एतत् स्फुटयति—

तावद्भ्रमति संसारे यावत्तत्त्वं न विन्दति ।
विदिते तु परे तत्त्वे न भूयो जायते क्वचित् ॥ ३२ ॥

यथाहिस्त्यक्तेन कञ्चुकेन न पुनः श्लिष्यति, तथा समनान्तेन बन्धेन त्यक्तेन तत्त्वज्ञो न भूयः स्पृश्यते ॥३२॥

तत्त्वं हंसरूपमेवेति दर्शयन्नेतदेव भूयः स्फुटयति—

अकृतार्थो नरस्तावद्यावद्धंसं न विन्दति ।

विन्दति लभते स्वत्वेन प्रत्यभिजानाति ॥

एतत्सोपायं वैधर्म्यदर्शनेन प्रकृते योजयति—

प्रणवेन समायुक्तं कृतार्थं इति निर्दिशेत् ॥३३॥

प्रणवेन चतुष्कलेन सम्यगायुक्तमिति निर्णीतवक्ष्यमाणतदुच्चारज्ञान-तदुच्चारणौपयिकमेव परनिष्कलस्वरूपविश्रान्तत्वान्नरः कृतार्थो भवतीत्यर्थः ॥ ३३ ॥

अतश्च—

उच्चारं च ततो ज्ञात्वा उच्चरेत्तं वरानने ।

उच्चरेदुच्चारयेत् ॥ तमिति परविश्रान्त्युपायभूतं चतुष्कलम् ॥

तत्र—

उच्चारस्त्रिविधो देवि हंसस्य समुदाहृतः ॥३४॥

उक्तरूपपरापरप्रणवाधिष्ठानाद्धंसस्यापि परापरः स्वरूपनिष्ठत्वेन तु परात्पर इति त्रिविधो य उच्चारः स, उदाहृतः—

'एते वै प्रणवाः पञ्च परापरविभागशः

परापरेण हंसेन' (६।२७)

इति, तथा

'परतः परमो हंसः सर्वं व्याप्य व्यवस्थितः' (६।२७)

इत्याद्युक्त्या समनन्तरमेवोक्तः ॥ ३४ ॥

तमेवोच्चारं स्फुटयति—

हकारोकारसंयुक्तबिन्द्वन्ते तु तृतीयकः ।

सृष्टिन्यासेन तूच्चारः संहारयोग उच्यते ॥ ३५ ॥

ह् इति लुप्तविभक्तिकोऽनाहतस्वरूपदर्शनाय । तेन ह् इति यः स्वयमुच्चरद्रूपो हंसः स अकारेण उकारेण च वर्णेन संयुक्तस्तदूपरि च बिन्दोरन्ते समीपे तृतीयक इत्यनुस्वाररूपो मकारोऽस्य सम्बद्ध एवमेतदन्तो य उच्चारः । सृष्टेरिति जागराद्यवस्थात्रयाधिष्ठातृसृष्टिस्थितिसंहारकारिभेदमयब्रह्मविष्णुरुद्रसर्गस्य यो न्यासः पृथक्पृथग्वाचकत्वेन विमर्शस्तेन, न त्वभेदेनेत्यर्थः । एतेषां तु त्रयाणामपि भेदमयानां संहारयोग इति तुर्यदशाप्रथमकोटिसंस्पर्शात्मकबिन्दुपदैक्ययोजनारूप उच्यते, न त्वत्र वर्णोच्चारव्याप्तिरस्ति ॥३५॥

यथा विभक्तः प्राक् तेन—

एवमादिक्रमेणैव मन्त्रमुच्चारयेद् बुधः ।

बुधो ज्ञानी, एवमित्युक्तरूपेण, आदीत्यकारादिक्रमेण, मन्त्रमित्येतत्सम्बन्धादेव मन्त्ररूपतां प्राप्तं हंसमुच्चारयेत् ॥

एतदनुवदन्नत ऊर्ध्वं मन्त्रोच्चारे इतिकर्तव्यतान्तरमाह—

बिन्दुस्थं त्रितयं कृत्वा वक्त्रमुद्धाटयेत्ततः ॥३६॥

त्रितयं मकारान्तम्, बिन्दुस्थं कृत्वेति तदभेदव्याप्तिसारं संपाद्य, नादोच्चारणार्थं वक्त्रमास्यमुद्धाटयेदित्येतदुच्चारावसरे दिव्यं करणं बध्नीयादित्यर्थः ॥३६॥

ततश्च—

ईषदुद्धाटिते वक्त्रे तदा नादं विजानत ।

अनयेतिकर्तव्यतया मन्त्रोच्चारावहितस्य नादनादान्ताभिव्यक्तिर्भवतीत्यर्थः ॥

किं च—

नादस्थं पञ्चधा चैव शक्तिस्थं पञ्चधा पुनः ॥३७॥

व्यापिन्यां पञ्चधा चैव

मन्त्ररूपं विजानतेति सम्बन्धः। पञ्चधात्वं च—

'ब्रह्मादिपञ्चकं यच्च' (६।४१)

इत्युपक्रम्य

'परापरविभागेन ते सर्वत्र व्यवस्थिताः' (६।४१)

इति समनन्तरवक्ष्यमाणस्थित्या मन्तव्यम्। तेन योजनिकाग्रन्थे नादस्य यदष्टकलत्वमुक्तम्, तद्वाचकस्वरूपविमर्शयुक्त्या। इदं तु पञ्चधात्वं तत्पदाधिरूढवाच्यरूपकारणविमर्शयुक्त्येति न पूर्वापरवैषम्यं किञ्चित् ॥३७॥

किं च—

समनानिष्कलात्मनोः ।

उध्वोर्ध्वमवस्थितयोः। पूर्वनिर्णीतं रूपं विजानतेत्यनुषङ्गः ॥

अथैतदुपरि—

उन्मना च परं तत्त्वं सर्वं व्याप्य व्यवस्थितम् ॥३८॥

पूर्वनिर्णीतं रूपं जानीतेत्यर्थः ॥३८॥

उपसंहरति—

एवं ज्ञात्वा विमुच्यन्ते शिवतत्त्वविदो जनाः ।

एवमुक्तक्रमेण, ज्ञात्वा उन्मनान्तानि पदान्यनुभूय, ये शिवतत्त्वमिति परमशिवमात्मानम्, विदन्ति प्रतिजानन्ति, ते विशेषेण सिद्धान्तवैलक्षण्येन मुच्यन्ते । तत्र हि—

'अवर्णोवर्णमकारबिन्दुनादाश्च तस्य सन्मन्त्राः ।'

इत्येवं मन्त्रव्याप्तिस्तद्गुरुभिर्दर्शिता ॥

अत्र वैधर्म्यमाह—

अन्यथा नैव मुच्यन्ते बिन्द्वन्ते ये व्यवस्थिताः ॥३९॥

बिन्दौ तदन्ते च नादादिपदे ये व्यवस्थिता विश्रान्तास्ते नैव मुच्यन्तेऽपि तु तत्तत्पदोचितविभूतिमेव भजन्ते ॥३९॥

यतः—

ज्योतीरूपं तु बिन्दुस्थं नादस्थं शब्दरूपकम् ।

शक्तिस्थं स्पर्शगं चैव तदूर्ध्वं शून्यरूपकम् ॥ ४० ॥

यदेतद्बिन्दुस्थं त्रितयमिति नादस्थं पञ्चकमित्याद्युक्तं तद्बिन्दुस्थं ज्योतीरूपमिति वेद्याविभागप्रकाशरूपम् । नादस्थं तु शक्तिरूपमिति विसर्गशक्तिमयम् । शक्तिपदावस्थितं तु स्पर्शगमानन्दस्पर्शसतत्त्वम्, तदूर्ध्वं व्यापिन्यां तु शून्यताभासरूपम् ॥४०॥

यतो व्यापिनीधाम—

ब्रह्मादिपञ्चकं यच्च तेषां शून्यं च तत्पदम् ।

चकाराद्ब्रह्माद्यधिष्ठेयानां तत्त्वानामपि । तैः शून्यमिति वक्तव्ये तेषां शून्यमिति षष्ठ्या ते सर्वे तत्र तदुचितप्रकृष्टसंविद्रूपतया स्थिताः, न तु क्वापि गताः, इति दर्शयति । अत एव पूर्वमशून्यं शून्यमित्याद्युक्तम् ॥

ननु ब्रह्मादयो हृदयादिललाटान्तपदावस्थितास्ते कथमियतीं भूमिमायाता इत्याह—

परापरविभागेन ते सर्वत्र व्यवस्थिताः ॥४१॥

परमेश्वरस्य हि चिदानन्देच्छाज्ञानक्रियाख्याः शक्तयस्तत्पदोचितप्रपञ्चव्याप्तिभाजो ब्रह्मादिपर्यन्तमाभासितवत्य इति तद्व्याप्तिसारा ब्रह्माद्याः स्थूलसूक्ष्मादि व्याप्त्या सर्वत्र स्थिताः । एतच्च एकादशे व्यक्तीभविष्यति । अथवैते तत्तत्पदौचित्येन तास्ताः सिद्धीर्ददति ॥४१॥

अथ—

शून्यातीता तु समना शुद्धात्मा तून्मना तथा ।

क्रमेण स्वोचितसंविद्रूपेत्यर्थः ॥

अथ—

सर्वातीतं परं तत्त्वं सर्वं व्याप्य व्यवस्थितम् ॥४२॥

सर्वातीतत्वेऽपि सर्वव्यापकत्वमस्य स्वच्छस्वच्छन्दचिदानन्दसुन्दरत्वात् ॥४२॥

यतश्च परं तत्त्वं सर्वं व्याप्य व्यवस्थितमत एवाकारोकारमकारवाच्या अतिस्थूला अपि—

मन्त्ररूपाश्च विज्ञेया बिन्दुधर्मात्तु देवताः ।

चकार एवार्थः । मन्त्ररूपा एव तदभेदव्याप्तिसारेणाविश्लेषेण ज्ञातव्याः ॥

एवं हि—

तत्रस्था सर्वकर्माणि साधयन्ति न संशयः ॥४३॥

तत्रेति व्याख्यातव्याप्तिसतत्त्वे मन्त्रे स्थिता उपारूढाः ॥४३॥

एवमुल्लासक्रमेण हृदयाद् द्वादशान्तं मुक्त्यङ्गमन्त्रोच्चारमुक्त्वा सिद्ध्यङ्गं तं प्रातिलोम्येनादिशति—

तत्त्वं च उन्मनात्मा तु समना शून्यमेव च ।
स्पर्शश्चैव तथा शब्दो रूपं च तदनन्तरम् ॥४४॥

मन्त्रात्मनि स्थिताः सर्वे ज्ञातव्या दैशिकेन तु ।

रूपमिति बिन्दुतेजः । तदनन्तरमिति मकारोकारात्मवर्णस्वरूपम् । त एते सर्व एव प्रमेया मन्त्रात्मनिष्कलस्वरूपेऽवस्थिता उल्लासप्रवेशक्रममविमृश्य मन्त्रावसर एव मुक्तिसिद्ध्यङ्गरूपेणोपलभ्यन्त इत्यर्थः । दैशिकेनेति प्राधान्यात्, तदुपदेशात्त्वन्येनापि ॥४४॥

न केवलमेते मन्त्रास्थाः सर्वकर्माणि साधयन्ति, यावत्—

तत्रस्था ज्ञानयोगं च प्रयच्छन्ति वरानने ॥ ४५ ॥

ज्ञानं तत्तज्ज्ञेयतत्त्वानुभवम्, योगं तदैकात्म्यप्राप्तिम् ॥

सर्वकर्माणि साधयन्तीति यदुक्तम्, तत्र कर्मानुरूपं मन्त्रदेवतानां ध्यानमाह—

कर्मकाले तु सकलान् शिरःपाण्यादिभिर्युतान् ।

कर्म अर्चाहोमादि ॥

क्रमेण—

जपेत्तु सकलान् देवि निष्कलेन समन्वितान् ॥४६॥

ध्यायेदित्यनन्तरस्थमनुषज्यते । निष्कलेन चिद्घनतापरमार्थेन, सम्यगन्वितांस्तद्विश्रान्तिसारान् ॥४६॥

यदा तु सर्वज्ञत्वादिरूपां सिद्धिमिच्छति, तदा बिन्दुविश्रान्तिसतत्त्वान्—

ध्यायेज्ज्योतिर्मयान् सर्वान्

उक्तं हि—

'ज्योतीरूपं तु बिन्दुस्थं' (६।४०)

इति । इह त्वेतत्फलनिरूपणपरत्वेनोक्तमिति प्रकरणतो ज्ञायत इति न पुनरुक्तम् ॥

अथ बिन्दुविश्रान्त्यूर्ध्वंनादपदे—

शब्दसिद्धिप्रदायकान् ।

नादविश्रान्तिमयत्वेन ध्यातास्तत्सिद्धिमेव वितरन्तीत्यर्थः । एवमुत्तरत्रापि तदुचितरूपध्यानात्तत्तत्सिद्धिप्रदत्त्वमेषाम् ॥

यदाह—

शक्तिस्थाः शक्तिदाः प्रोक्ताः शून्यस्था व्यापकाः स्मृताः ॥४७॥

क्रमाज्ज्ञानप्रदास्ते वै समनास्था वरानने ।
कैवल्यदास्ततश्चोर्ध्वे सर्वज्ञाश्चोन्मने पदे ॥४८॥

शक्तिः सर्वकरणसामर्थ्यम् । शून्यं व्यापिनी । व्यापका इत्याराधकस्य व्याप्तिप्रदाः । क्रमाज्ज्ञानं शिवादिक्षित्यन्ताशेषविषयम् । कैवल्यं शुद्धविज्ञानकेवलित्वम्, यद्रुद्रदेवादिशैवानां परं प्राप्यम् । ऊर्ध्वं इति शुद्धात्मपदे । सर्वज्ञा इत्यक्रमाशेषविश्वाभेदप्रथाप्रदाः । यथोक्तम् प्राक्—

'समना क्रमविज्ञानमुन्मना त्वक्रमम्' (४।३१४)

इति ॥

एते च मन्त्रावयवानुभवाः—

तत्त्वेन वेधिताः सर्वे ये मया परिकीर्तिताः ।

तत्त्वेन परशिवेन वेधिताः सर्वात्मना व्याप्ताः । वेधिता इत्यैशः पाठः, विध विधान इत्यस्यैवायं प्रयोगः ॥

अत एव—

तज्ज्ञात्वा सिद्धिदाः सर्वे मुक्तिदाश्च न संशयः ॥४९॥

तदिति तत्त्वम्, साधकानामपि ह्येतन्मन्त्रक्रमेण सिद्धिमुक्तिपर्यवसाने-नैवेति योजनिकाग्रन्थे निर्णीतम् । भिन्नकर्तृत्वेऽपि क्त्वेश्वरप्रामाण्यात्॥४९॥

उपसंहरति—

पञ्चप्रणवसंयुक्तं तत्त्वं ते कथितं मया ।

पञ्चप्रणवोच्चारोपायप्राप्तं तत्त्वं परमशिवात्मकपरमहंसस्वरूपम्, ते तवैव योग्यायाः शक्तेर्मया कथितम्, नान्यस्य कस्यचित् ॥

तदेतज्ज्ञात्वा—

पञ्चप्रणवपूर्वेण ओंकाराद्ययुतेन तु ॥५०॥

नमस्कारावसानेन बहुरूपेण सुव्रते ।

जपतः सिद्धिमाप्नोति लक्षेणाक्षरसंख्यया ॥५१॥

साधक इति शेषः । पञ्चप्रणवः चतुष्कल पूर्वो यस्य तेन । व्याख्यात-भिन्नतद्व्याप्त्यतद्व्याप्त्यनुसन्धानपूर्वं तदुच्चारोद्धटितमध्यमार्गाश्रयत्वा-त्तल्लीनेन बहुरूपेण यो जपस्ततः सिद्धिमाप्नोतीति सम्बन्धः । ओंकाराद्ययुते-नेत्यादिनेदमाह—यद्यपि प्रणवसमनाव्याप्तिश्चतुष्कलनाथो बहुरूपस्याघोर-शब्दादे रूपेभ्य इत्यन्तस्यादौ प्रयुक्तस्तथापि सर्वमन्त्राणां पूजाजपविषये प्रणवनमस्काराभ्यामाद्यन्तसम्बन्धो दीपकः कार्य इति शास्त्रसमयः । तेन द्वात्रिंशदक्षरस्य पूर्वं यौ नमस्कारप्रणवौ उक्तौ, तावेव चतुष्कलपूर्वस्य देयौ । यतः—

'तत्रस्था सर्वकर्माणि साधयन्ति' (६।४३)

इत्युक्तम् । अक्षरसंख्यया लक्षेणेति द्वात्रिंशता लक्षैरित्यर्थः ॥५१॥

एतदेवाधिकावापेन पूरयति—

प्रणवाद्येन संयुक्तं मन्त्रमेवं जपेत् सदा ।

प्रणव आद्यो यस्य चतुष्कलनाथस्य तेन सम्यग्युक्तं मन्त्रं जपेत् सदा इति यावत् । पूर्वमेव तावदस्यैकाग्रताया अविच्छेदेन जपः कार्य इत्यर्थः । सदेति अत्राधिकावापः ॥

अथ—

जपान्ते तु पुनर्होमं दशमांशेन कारयेत् ॥ ५२ ॥

'जपित्वाक्षरलक्षं तु बहुरूपस्य' (६।३)

इत्याद्युपक्रम्य पञ्चप्रणवस्वरूपं निर्णीय,

'प्रणवाद्येन संयुक्तं मन्त्रमेवं जपेत्सदा' (६।५२)

इत्युपसंहृत्य

'जपान्ते तु पुनर्होमं' (६।५२)

इत्युक्तम् । अतो जपोपक्रमेणाङ्गहोमस्तावत्कृतः । जपे तु मन्त्रदेवतासंमुखीकरणात्मनि निष्पन्ने, तत्तर्पणाय स्वाहान्तेन मन्त्रेण जपसंख्यातो दशांशेनेति लक्षत्रयेण सहस्रविंशत्या च होमः कार्य इति पुनः शब्दस्यार्थः ॥५२॥

अत्र होमे समुचितं द्रव्यमाह—

नृमांसं पुरसंयुक्तं घृतेन च परिप्लुतम् ।
ततः सिद्धिमवाप्नोति अधमां मध्यमोत्तमाम् ॥५३॥

पुरं गुग्गुलुः । एतत्त्रयं युगपद्धुत्वा तत्त्वेश्वरत्वाकाशोत्पतनपातालसिद्धीरुत्तमादिरूपाः सर्वाः प्राप्नोति, न तु यथासंख्यमशब्दार्थत्वादागमान्तरविरोधाच्च ॥५३॥

यदा तु—

त्रिगुणेन तु जप्येन स्वच्छन्दसदृशो भवेत् ।
ब्रह्मविष्ण्विन्द्रदेवानां सिद्धदैत्योरगेशिनाम् ॥५४॥

भयदाता च हर्ता च शापानुग्रहकृद् भवेत् ।
दर्पं हरति कालस्य पातयेद् भूधरानपि ॥५५॥

स्फोटयेद्बिल्वयन्त्राणि दिग्गजानपि चालयेत् ।

ब्रह्मराक्षसवेतालान् क्रूरग्रहविनायकान् ॥५६॥

स्मरणान्नाशयेद् देवि अवध्यस्त्रिदशैरपि ।

शापानुग्रहकृत्वाद्भूयस्य दाता हर्ता च, स्मरणादिति स्मृतमात्रः सन्नाशयत्येवेत्यर्थः ॥५६॥

अस्य च मन्त्रस्य—

प्राकृतान्यपि कर्माणि सिद्ध्यन्ति जपलक्षतः ॥५७॥

प्रकृतिसंभूतद्रव्ययोगसंपाद्यानि वश्यादीनि प्राकृतानि । जपलक्षतः इति पूर्वसेवार्थं दशांशहोमसहितान्निर्वर्तितात् । प्रयोगकाले कर्मोचितोहजात्यन्त-मन्त्राभिमन्त्रणं वक्ष्यमाणप्रयोगनिर्दिष्टानां द्रव्याणां तत्तदन्यकल्पप्रयोग-विषयाणां च स्थितमेव । यदुपसंहरिष्यति—

'एवं शतसहस्राणि अन्यकल्पोत्थितानि च ।

प्रयोगानां करोत्येष मन्त्रराजेश्वरेश्वरः ॥' (६।९४)

इति ॥५७॥

एवं पूर्वाराधितमन्त्रस्य यानि मुख्यसिद्ध्यङ्गभावेन कदाचिदवसरे प्रयोज्यानि—

तानि सम्यक् प्रवक्ष्यामि यथावदनुपूर्वशः ।

सम्यगिति यथा विसंवादीनि न भविष्यन्ति । यथावदिति ययेतिकर्तव्य-तया युक्तानि । अत्रामुको मे वशो भवत्वित्यूहान्तो मन्त्रस्य लक्षजपः कार्यः इति व्याख्यानमसत्

'ओंकाराद्ययुतेन तु ।

नमस्कारावसानेन' (६।५१)

इति पूर्वमेवासाधारण्येन मन्त्रस्वरूपस्य प्रतिपादितत्वात् । एतावता यथा-प्रतिपादनमस्य सामान्येन क्षुद्रसिद्ध्यभिसन्धिमता पूर्वसेवार्थं जपहोमौ कृत्वा विनियोगकाले कर्मोचितोहजात्यन्तस्य प्रयोगः कार्यः ॥

तत्र वश्यप्रयोगांस्तावदाह—

मोहना सहदेवा च भूधात्री चक्रलाञ्छना ॥ ५८ ॥

रामवल्ल्या सहैकत्र आत्मबीजेन पेषयेत् ।

भक्ष्ये पाने च दातव्यं वशीकरणमुत्तमम् ॥५९॥

मोहना बलामोटा । भूधात्री भूम्यामलकी । चक्रलाञ्छना चक्रायङ्का । रामवल्ली रामतरणिरिति प्रसिद्धौषधिः । आत्मबीजं स्वशुक्रम् । प्रदातव्यमिति मन्त्राभिमन्त्रितम् । एवं ह्यविसंवादि भवति ॥५९॥

उत्तवारणिमूलं तु पुष्यर्क्षेण तु ग्राहयेत् ।
आत्मेन्द्रियेण संयुक्तं वशीकरणमुत्तमम् ॥६०॥

उत्तवारणी विशाला । पुष्यर्क्षेण त्विति पुष्यनक्षत्रेण सौम्यग्रहयुक्तेन । शुक्लपक्षे रात्रौ ओषधिग्रहणं कार्यमित्योषधिकल्पेष्वस्ति । आत्मेन्द्रियं स्वशुक्रम् । यथोक्तम्—

'नृबीजमिन्द्रदैवत्यं तस्मादिन्द्रियमुच्यते'

इति । उत्तमत्वमस्यैकौषधियोगात् । भक्ष्ये पाने चेति स्थितमेव ॥६०॥

श्रवणाक्षिमलं लाला रुधिरेन्द्रियसंयुतम् ।
भूकदम्बसमोपेतं दातव्यं पयसा निशि ॥ ६१ ॥

श्रवणाभ्यामक्षिभ्यां मले लाला चेति पञ्च, रुधिरं वामानामिकासंबन्धि, इन्द्रियं शुक्रमित्यात्मीयं सप्तकम्, भूकदम्बं भूतीकमष्टमम् । एतदेकीकृत्य रात्रौ मन्त्राभिमन्त्रितजलपानमध्ये देयं वशीकाराय ॥६१॥

एतच्च—

अप्रवासे प्रदातव्यं

दत्त्वा न प्रोषितव्यम् ॥

अन्यथा—

म्रियते विरहेण सा ।

इयानस्य प्रयोगस्य महिमेत्यर्थः ॥

षष्टिं कनकबीजानि षोडश मणिचन्द्रिकाः ॥६२॥
नरगोदन्तसंयुक्ताः प्रदद्याद्यस्य भामिनी ।
एष कापालिको योगो गच्छन्तमनुगच्छति ॥ ६३ ॥

सा तमिति शेषः । कनकं धत्तूरकम् । मणिचन्द्रिका रवितका । नरगोदन्तयोर्नात्र संख्यानियमः । एतच्चूर्णं भक्ष्ये पाने वा देयमिति प्राग्वत् । कपालैरस्थिभिर्निर्वृत्तः कापालिकः ॥६३॥

श्वेतार्कमूलं मञ्जिष्ठा चटकस्य शिरस्तथा ।
गृह्योद्भवस्य कुष्ठं च स्वरक्तेन्द्रिसंयुतम् ॥६४॥
भक्ष्ये पाने प्रदातव्यं वशीकरणमुत्तमम् ।

अर्कतरोः श्वेतत्वं श्वेतपुष्पत्वात् । गृहोद्भवश्चटको मूषकः । स्वरक्तेन्द्रियं प्राग्वत् ॥ ६४ ॥

मोहना चैव कान्तारी मयूरशिखया युता ॥६५॥
आत्मलालेन्द्रियैर्युक्तं वशीकरणमुत्तमम् ।

कान्तारी प्रियङ्गुः । मयूरशिखा तदाकारैवौषधिः । आत्मलालेन्द्रियैरिति बहुवचनादिन्द्रियद्रव्ये उभयोर्ग्राह्ये । उत्तममविसंवादि ॥६५॥

लज्जालुका च गोरम्भा चण्डालीकर्मकं तथा ॥६६॥
नागेन्द्रपदमिश्रं तदात्मबीजसमन्वितम् ।
एष योगवरो दिव्यो दीयते यस्य सुव्रते ॥६७॥
मधुरेण समायुक्तो यावदायुर्वशी स तु ।

लज्जालुका लज्जालुका । गोरम्भा छत्रा । चण्डाल्याख्याया ओषधेः कर्मकं प्रधानमूलम् । मधुरेण विषेण, तस्य च द्रव्यान्तरसंयोगान्मारणशक्तिनिरोधः ॥ ६७ ॥

चणका माषमुद्गाश्च अपानेन विनिर्गताः ॥६८ ॥
वान्तं घृतं तथा रेतः स्त्रीरजो हृन्मलं तथा ।
मूत्रं रक्तं तथा केशो लाला चैव वरानने ॥६९॥
पुत्रजानिःकृताह्वा च नागेन्द्रपदसंयुता ।
मोहना विष्णुक्रान्ता च धात्री चैवैकतः स्थिता ॥७०॥
पुष्यर्क्षेण नियुञ्जीत गर्वितानां वरानने ।
भक्ष्ये पाने प्रदातव्यो योगस्त्रिदशपूजितः ॥७१॥

अपानेन निर्गताः शकृद्भावमागताः । वान्तं घृतादि । आत्मीयं हृन्मलं नाभिमलम् । पुत्रजानिरोषधिविशेषः । कृताह्वा कृताञ्जलिः । विष्णुक्रान्ता प्रसिद्धा । धात्री आमलकम् । त्रिदशपूजित इत्यविसंवादी । एवमष्टौ वशीकारे प्रयोगा उक्ताः ॥ ७१ ॥

अथ—

उच्चाटनं प्रवक्ष्यामि शत्रूणां गर्वितात्मनाम् ।

तत्र —

काकोलूकस्य पक्षांश्च खरोष्ट्रमूत्रमृत्तिका ॥७२॥

एभिर्द्रव्यैः—

कृत्वा प्रतिकृतिं प्राज्ञः काकरक्तेन लेपयेत् ।

अथान्यत्—

काकोलूकस्य पक्षांश्च गुदे तस्या विनिक्षिपेत् ॥७३॥

अथ—

तां चतुष्पथे निखनेत्

तत्र खनित्वा स्थगितस्थापितायास्तस्याः—

श्मशानाग्निमथोपरि ।

प्रज्वाल्य होमयेत्तत्र काकपक्षांश्च सुव्रते ॥७४॥
उद्भ्रान्तपत्रसहितान् खरमूत्रेण भावितान् ।
यस्य नाम समुद्दिश्य यकाराद्यन्तरोधितम् ॥७५॥
मन्त्रावसाने विन्यस्तं विसर्गान्तं प्रचाटयेत् ।

तमिति शेषः । उद्भ्रान्तपत्राणि अर्जुनवातधूलिदण्डमध्यगतानि पत्राणि । मन्त्रावसान इति आराधितबहुरूपान्ते । विसर्गान्तं यकारेणाद्यन्तप्रयुक्तेन रोधितं सम्पुटितं यस्य शत्रोर्नामेति यः देवदत्तो य उच्चाटितो भवत्विति सक्रोधमुच्चार्य यः क्रोधसमाविष्ट एव वक्ष्यमाणनीत्या शतमष्टोत्तरं काकपक्षान् जुहुयात् साधकः, स तमुच्चाटयेदिति संबन्धः ॥७५॥

स इत्थमुच्चाटितः—

भ्रमते काकवत् पृथ्वीं शत्रुर्व्याधिनिपीडितः ॥७६॥

विद्वेषे प्रयोगमाह—

पिण्याकं निम्बपत्राणि मृत्किण्वं तु तुषाणि च ।
शत्रोः प्रतिकृतिं कृत्वा अक्षपुष्पैस्तु वेष्टिताम् ॥७७॥

श्मशाने निखनेत्तां तु वह्निं प्रज्वाल्य चोपरि ।
पुष्पैर्विभीततरुजैर्यस्य नाम्ना तु होमयेत् ॥७८॥
विद्विष्टो वै भवेच्छत्रुः कामदेवसमोऽपि यः ।

पिण्याको गुग्गुलुबीजकल्कः । किण्वं सुरासंधानद्रव्यम् अक्षपुष्पैर्विभीतपुष्पैः । वेष्टितामिति तन्मालावलिताम् । नाम्नेति विद्विष्टो भवतु इत्यन्तेन विद्वेषणजातियुक्तेन बहुरूपेणेत्यर्थात् । होमोऽष्टोत्तरशतसङ्ख्यः ॥७८॥

अथास्य विद्विष्टस्यान्यस्य वा सुभगीकरणमाह—

प्रियङ्गुलतिकामिश्रं गुग्गुलुं घृतवेधितम् ॥७९॥
हुत्वा त्वष्टशतं देवि सुभगः संप्रजायते ।

प्रियङ्गुलतिका गन्धप्रियङ्गुः । अत्राप्याराधितं बहुरूपमेवोच्चार्यामुकः सुभगो भवत्वित्यन्ते सौम्यजातिः प्रयोज्येति ॥७९॥

जातिकुट्मलकैर्मिश्रैस्त्रिमध्वक्तैस्तिलैर्हुतैः ॥८०॥
सुभगत्वमवाप्नोति रूपहीनोऽपि यो नरः ।

त्रिमधु क्षीरशर्कराघृतम् । अत्रापि पूर्ववन्मन्त्रोऽष्टोत्तरशतसङ्ख्यश्च होमः । एवमुत्तरत्रापि कर्मोचितोहजात्यन्तो होमोऽष्टोत्तरशतसङ्ख्य एव ॥८०॥

तिलैर्लवणसंमिश्रैस्त्रिमध्वक्तैर्हुतैः प्रियैः ॥८१॥
सप्ताहाद्वशमायाति या स्त्री रूपेण गर्विता ।

आकर्षणमाह—

राजिका लवणं चैव मधुक्षीरघृतप्लुतम् ॥८२॥
होमयेन्नामसंमिश्रं यस्याकर्षेत्तु तं द्रुतम् ।

राजिका आसुरिका ॥ ८२ ॥

पूर्वं भक्ष्यपानक्रमेणाष्टौ वशीकारा उक्ताः, होमेन त्वेकः, अधुना स्नानादिप्रयोज्यद्रव्यक्रमेणाप्याह—

नरस्य रोचनां गृह्य द्विरदस्य मदेन तु ॥८३॥

भावयित्वाभिमन्त्र्यैतन्मन्त्रेणाष्टशतं जपेत् ।

स्नाने विलेपने मद्ये गन्धे वा यस्य दीयते ॥८४॥

स वश्यो भवति क्षिप्रं धनदः प्राणदस्तथा ।

नररोचनां गोरोचनावद्गृहीत्वा, हस्तिमदेन लिप्त्वा, मन्त्रेणेति बहुरूपेण प्राग्वदूहप्रयोगजात्यन्तेनैतद्द्रव्यमष्टोत्तरशतजपादभिमन्त्र्य यस्य स्नानादौ दीयते स वश्यो भवतीति संबन्धः ॥८४॥

मारणमाह—

अथवा मारयेत् क्षिप्रं शत्रुं निश्चितमात्मनः ॥८५॥

अपकारशतैर्युक्तं कृतघ्नं दुष्टचेतसम् ।

न तु स्वल्पापराधम् ॥८५॥

तत्र—

कपालद्वयमादाय नाम शत्रोः समालिखेत् ॥८६॥

कपालसंपुटस्थं तद्विषाङ्गारेण भावितम् ।

रुधिरेण समायुक्तं हुंफट्कारविदर्भितम् ॥८७॥

महाप्रेतवनं गत्वा

विषाङ्गारेण श्मशानाङ्गारेण रुधिरविमिश्रेण मषीं कृत्वा श्मशान एव कपालयोः शत्रोर्नाम द्वितीयान्तम्, विदर्भितमिति—

'अभिधेयं भवेत्पूर्वं ततो मन्त्रः सकृद्भवेत् ।

विदर्भितो भवत्येष.............................॥'

इत्याम्नातत्वादन्तन्यस्तहुंफट्कारं मारयामि हुंफडित्यन्तं सम्यक् संरुद्धभैरवरूपस्वात्माभिमानानुसन्धानेन लिखेत् ॥८७॥

अथ—

स्वच्छन्दं पूजयेत्ततः ।

कृष्णमाल्योपहारैश्च

श्मशान एव, कृष्णरात्रौ, श्मशानावरणयुक्तमित्यर्थात् ॥

ततः कर्म समारभेत् ॥८८॥

विज्ञाप्य भैरवं देवं शत्रुं मे विनिपातय ।

अथ—

अनुज्ञातस्तु देवेन गृहीत्वा तच्छिरोद्वयम् ॥८९॥
तत्र गत्वा महादेवि कपालासनसंस्थितः ।
तत्रस्थो रोषसंपूर्णो दक्षिणाभिमुखः स्थितः ॥९०॥
आत्मनो भैरवं रूपं ज्ञात्वा घोरं सुभीषणम् ।
क्रुद्धः समुच्चरेन्मन्त्री द्वात्रिंशाक्षरसंमितम् ॥९१॥
विलोमेन महाभागे शत्रुनाम ततोऽन्तगम् ।
हुंफट्द्वयं समुच्चार्य काद्ये चास्फालयेद् भृशम् ॥९२॥
खण्डशश्चूर्णिते यावत्तावच्छत्रुर्विनश्यति ।
सप्तरात्रेण देवेशि प्रयोगस्त्वनिवर्तकः ॥९३॥

अनुज्ञात इति भावनया। शिरोद्वयं कपालयुग्मम्। कपालासनं मुण्डासनम्। रोषस्तीव्रापकारस्मरणात्। तत इति विलोममन्त्रोच्चारानन्तरम्। अनिवर्तको न निवर्तते, नान्यथा भवतीत्यर्थः ॥९३॥

उपसंहरति—

एवं शतसहस्राणि अन्यकल्पोत्थितानि च ।
प्रयोगाणां करोत्येष मन्त्रराजेश्वरेश्वरः ॥९४॥

एवं करोत्यविसंवादीनि सम्पादयति ॥ ९४ ॥

एवमीदृक्प्रयोगक्रममुद्रितस्य यद्यस्यानुकम्पया स एवान्योऽपि वान्यस्य वा शान्तिमिच्छेत्, तदा—

अनुलोमगतं देवं वौषट्कारान्तसंस्थितम् ।

अमुकस्येति ऊहयुक्तमुच्चार्यं ॥

क्षीरं तु होमयेद् देवि शान्त्यर्थे हितकारकम् ॥९५॥

अथोक्तानुक्तकर्मसु उचितजातिप्रयोगानाह—

वषडाप्यायने शस्तं स्वाहान्तं वशकर्मणि
मन्त्राणां तर्पणार्थं च

अन्त इत्युभयत्र संबद्धचते ॥

किञ्च मान्त्रं स्वरूपम्—

नत्यन्तं चार्चने स्मृतम् ॥९६॥

नतिर्नमःशब्दः। चकाराज्जपेऽपि ॥९६॥

एतदुपसंहरन् भाविपटलस्य सङ्गतिं करोति—

एतद्धि कथितं देवि साधकस्य सुमेधसः ।
क्रियाकालांशयुक्तस्य अक्लेशात्तु सुखावहम् ॥ ९७ ॥

सुमेधसो यमनियमादिवशीकृतधिषणस्य, अत एव यथाकथञ्चित् क्षुद्रकर्माण्यनारभमाणस्य, अपि तु मुख्यसिद्ध्यङ्गतया स्वीकारयोग्यस्य वशीकरणादिसिद्धिसाधनपरिपन्थिनश्चोच्चाटनादि अवसरे कुर्वतः क्रियया स्नानार्चनसमयपालनात्मतया, भाविपटलनिर्णेष्यमाणकालेन, अंशकेन चाष्टमपटलनिर्णेष्यमाणेन युक्तस्य, तज्ज्ञात्वा प्रयोगमनुरुन्धानस्याक्लेशादित्याराधितैतन्मन्त्राभिमन्त्रणपूर्वकमनुष्ठीयमानं सुखावहमित्यभीष्टफलप्रदं भवत्येवेति शिवम् ॥

स्मारं स्मारं गुरुवरपदद्वन्द्वविस्फूर्जितानां
मान्त्रं वीर्यं किमपि परमं दर्शितं यन्मयात्र ।
तस्मिन्नन्तर्नमत गुरवो मन्त्रचक्रैकसारे
संसाराब्धिं तरत तरसा भैरवीभावमेत ॥

इति स्वच्छन्दोद्द्योते पञ्चप्रणवाधिकारः
षष्ठः पटलः ॥६॥

ग्रन्थग्रन्थकार-मतमतान्तरसूची

Parimal Sanskrit Series No. 11

RĀMĀYAṆA

OF

VĀLMĪKI

WITH THE COMMENTARIES

TILAKA OF RAMA, RAMAYANASIROMANI OF SIVASAHAYA

AND BHUSANA OF GOVINDARAJA

EDITED BY

SHASTRI SHRINIVAS KATTI MUDHOLKA

Includes an exhaustive introduction

and Index of verses

BY

SATKARI MUKHOPADHYAYA

Complete in 8 volumes

Crown 4 to Cloth pp. 3400 opp

Delux Edition 1500-00 per set

PARIMAL PUBLICATIONS

Oriental Publishers & Book-Sellers

DELHI - AHMEDABAD